Sociological Foundation of Education

MAE-201

Self Learning Material

Directorate of Distance Education

SWAMI VIVEKANAND SUBHARTI UNIVERSITY

MEERUT-250005

UTTAR PRADESH

विषय-सूची

इकाई (Units) (CONTENTS) पृष्ठ संख्या (Page No.)

1.	समाजशास्त्र और शिक्षा	1
2.	समाजशास्त्र में उभरते रूझान	86
3.	महिला सशक्तिकरण	132
4.	लोकतंत्र समाजवाद और धर्मनिरपेक्षता	191
5.	समाजिकरण और शिक्षा	213

Syllabus

UNIT-I

- Relationship of Sociology and Education
- Meaning and nature of Educational sociology and Sociology of education.
- Education-as social sub-system-specific characteristics.
- Social Process like Socialization, Stratification, Social Change, social mobility; their meaning, nature, role, constraints and relation to education

UNIT-II

- Emerging trends in society, their meaning, nature, scope and impact on education regarding aims of education, curriculum, role of teacher, student teacher relations, Methods of teaching and Evaluation.

Emerging Trends:

- Knowledge Society, Education for Sustainable Development, Liberalization, Privatization, Globalization, Multicultural Society & Open and Distance Education

UNIT-III

- Women Empowerment through Education : Gender Disparities, Women empowerment – need & Role of Education
- Education in multicultural society.
- Parent Education: Meaning, need and scope, Parent-Teacher Associations & their functions, main features of Parent Education Programmes.

UNIT-IV

- Impact of Individualism
- Impact of Fascism
- Impact of communism
- Philosophy of Emerging Indian Society and Education: Meaning and Characteristics of Democracy, Socialism and Secularism and Role of Education with reference to them

UNIT-V

- Education and Family
- Education and Schooling
- Education and Peer group
- Education and culture in general
- Education and religion, Caste, Gender, Class
- Education for Weaker Sections

PRACTICUM (ANY ONE)

- Write your statement of Educational Philosophy in 5oo words
- Conduct a survey regarding educational issues of your locality References:

अध्याय-1

समाजशास्त्र और शिक्षा

नोट

(Structure)

1.1 उद्देश्य
1.2 प्रस्तावना
1.3 शिक्षा के सामाजिक आधार का अर्थ
1.4 समाजशास्त्र का ऐतिहासिक परिदृश्य
1.5 समाजशास्त्र का अर्थ एवं परिभाषा
1.6 समाजशास्त्र की विषय-वस्तु
1.7 शैक्षिक समाजशास्त्र का अर्थ एवं परिभाषा
1.8 शैक्षिक समाजशास्त्र के उद्देश्य
1.9 शैक्षिक समाजशास्त्र का क्षेत्र
1.10 शैक्षिक समाजशास्त्र के कार्य
1.11 शैक्षिक समाजशास्त्र के अध्ययन की आवश्यकता एवं महत्त्व
1.12 शैक्षिक समाजशास्त्र का शिक्षा पर प्रभाव
1.13 शिक्षा का समाजशास्त्र
1.14 समाज का अर्थ एवं परिभाषा
1.15 समाज और शिक्षा में संबंध
1.16 शिक्षा के अर्थशास्त्र का अर्थ एवं परिभाषा
1.17 शिक्षा एक विनियोग के रूप में
1.18 शिक्षा मानव मूलधन के रूप में
1.19 शिक्षा और राष्ट्र का आर्थिक विकास
1.20 समाजीकरण का अर्थ एवं परिभाषा
1.21 समाजीकरण की विशेषताएँ
1.22 समाजीकरण की प्रक्रिया
1.23 बालक का समाजीकरण करने वाले तत्व या कारक
1.24 बालक के समाजीकरण में बाधक तत्व
1.25 समाजीकरण की प्रक्रिया में शिक्षक का उत्तरदायित्व
1.26 सामाजिक परिवर्तन का अर्थ एवं परिभाषा
1.27 सामाजिक परिवर्तन की विशेषताएँ
1.28 सामाजिक परिवर्तन के सिद्धांत
1.29 सामाजिक परिवर्तन के रूप

नोट

1.30 भारत में सामाजिक परिवर्तन के कारक
1.31 सामाजिक परिवर्तन में बाधक तत्व
1.32 शिक्षा और सामाजिक परिवर्तन
1.33 शिक्षा सामाजिक परिवर्तन का साधन है
1.34 शिक्षा सामाजिक परिवर्तन का अनुसरण करती है
1.35 सामाजिक परिवर्तन में शिक्षक की भूमिका
1.36 भारत में सामाजिक परिवर्तन के कारक
1.37 आर्थिक आवश्यकताएँ
1.38 सामाजिक परिवर्तन में शिक्षा
1.39 शिक्षा द्वारा सामाजिक परिवर्तन
1.40 मानव संसाधन विकास
1.41 मानव शक्ति नियोजन
1.42 मानव संसाधन विकास के साधन
1.43 मानव शक्ति नियोजन में शिक्षा की भूमिका
1.44 शिक्षा में आवश्यक परिवर्तन
1.45 सामाजिक संस्तरीकरण
1.46 सामाजिक संस्तरीकरण की परिभाषाएँ
1.47 सामाजिक संस्तरीकरण के प्रारूप
1.48 सामाजिक संस्तरीकरण के प्रकार
1.49 सामाजिक संस्तरीकरण के आधार
1.50 शिक्षा एवं सामाजिक संस्तरीकरण
1.51 सामाजिक गतिशीलता
1.52 सामाजिक गतिशीलता की परिभाषाएँ
1.53 सामाजिक गतिशीलता के प्रकार
1.54 सामाजिक गतिशीलता को प्रभावित करने वाले कारक
1.55 शिक्षा एवं सामाजिक गतिशीलता
1.56 सारांश
1.57 अभ्यास-प्रश्न
1.58 संदर्भ पुस्तकें

1.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- समाजशास्त्र का अर्थ जानने हेतु;
- शैक्षिक समाजशास्त्र के उद्देश्य जानने हेतु;
- शैक्षिक समाजशास्त्र का शिक्षा पर प्रभाव जानने हेतु;

- समाज का अर्थ एवं परिभाषा जानने हेतु;
- समाज और शिक्षा में संबंध जानने हेतु;
- समाजीकरण का अर्थ जानने हेतु;
- सामाजिक परिवर्तन का अर्थ जानने हेतु;
- भारत में सामाजिक परिवर्तन के कारक जानने हेतु;
- समान स्कूल व शिक्षा प्रणाली जानने हेतु;
- सामाजिक संस्तरीकरण के आधार जानने हेतु।

नोट

1.2 प्रस्तावना

शिक्षा और जीवन अन्योन्याश्रित है। शिक्षा जीवन है और जीवन शिक्षा है। शिक्षा को जीवन से अलग नहीं किया जा सकता। जीवन की आवश्यकताओं को दो भागों में बाँटा जा सकता है, एक व्यक्तिगत और दूसरी सामाजिक। व्यक्तिगत आवश्यकताओं में शारीरिक, मानसिक, भावात्मक, चारित्रिक, आध्यात्मिक और सांस्कृतिक तथा सामाजिक आवश्यकताओं में पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय आवश्यकताएँ सम्मिलित हैं। शिक्षा व्यक्ति की इन सभी आवश्यकताओं को पूरा करती है। इस प्रकार व्यक्ति और समाज दोनों की दृष्टि से शिक्षा महत्त्वपूर्ण है। शिक्षा को एक सामाजिक प्रक्रिया कहा गया है, जिसका अर्थ है कि शिक्षा समाज में, समाज के लिए तथा समाज द्वारा संचालित एक प्रक्रिया है। समाज के अस्तित्व पर ही शिक्षा का अस्तित्व निर्भर करता है। शिक्षा का स्वरूप, शिक्षा की प्रकृति, शिक्षा के उद्देश्य समाज के स्वरूप, समाज की प्रकृति और समाज के उद्देश्यों पर निर्भर करते हैं और इसलिए यह कहा जाता है कि शिक्षा और समाज को एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। मार्ग्रेट मीड ने कहा है कि शिक्षा वह सांस्कृतिक प्रक्रिया है जिसके द्वारा प्रत्येक नवशिशु मानव समाज का पूर्ण सदस्य बनता है।

प्रत्येक समाज अपनी मान्यताओं एवं आवश्यकताओं के अनुकूल ही अपनी शिक्षा की व्यवस्था करता है। और समाज की मान्यताएँ एवं आवश्यकताएँ उसकी भौगोलिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनीतिक और आर्थिक स्थिति पर निर्भर करती है। समाज में होने वाले परिवर्तन भी उसके स्वरूप एवं आवश्यकताओं को बदलते हैं और उनके अनुसार उसकी शिक्षा का स्वरूप भी बदलता रहता है।

बालक के समाजीकरण में पड़ोस और संगी साथी भी सहायक होते हैं। परिवार से निकालकर वह अपने पड़ोस में रहने वाले व्यक्तियों और अपने समवयस्क बालकों के संपर्क में आता है। उनके साथ उठता-बैठता है, खेलता है, बातें करता है, कभी लड़ता-झगड़ता है और कभी प्यार करता है। पड़ोस ही उसको अच्छी या बुरी संगति प्रदान करता है। अच्छी संगति में उसका विकास होता है और बुरी संगति में वह बिगड़ भी सकता है। पड़ोस और संगी-साथी अच्छे, सभ्य और सुसंस्कृत हैं तो बालक का समाजीकरण उचित रूप में और तीव्र गति से होता है और यदि पड़ोस और संगी-साथी अच्छे नहीं हैं तो उसका समाजीकरण उचित दिशा में नहीं होता।

परिवर्तन प्रकृति का शाश्वत नियम है। संसार की प्रत्येक वस्तु में परिवर्तन होता है। यह परिवर्तन जड़ और चेतन सभी में दृष्टिगोचर होता है। प्रकृति में यह परिवर्तन स्पष्ट रूप से दिखायी देता है। कभी दिन तो कभी रात, कभी सर्दी, कभी गर्मी तो कभी वर्षा, कभी बाढ़ तो कभी सूखा, कभी

नोट

भूकंप तो कभी तूफान। बीज का भूमि में पोषण होने से अंकुरन होता है, पौधा बनता है, पौधे से वृक्ष और पूर्णता के पश्चात् उसका अंत। प्रकृति के इस परिवर्तन की प्रक्रिया निरंतर चलती रहती है। जब जड़ प्रकृति में परिवर्तन होता है तो मनुष्य तो चेतन है। उसमें, उसके द्वारा निर्मित सामान में, उसकी व्यवस्था में, उसके क्रिया-कलापों में भला परिवर्तन कैसे नहीं होगा? मनुष्य का जीवन एक स्तर से दूसरे स्तर तक परिवर्तित होता रहता है–पहले बचपन, फिर युवावस्था, फिर वृद्धावस्था और अंत में मृत्यु। मनुष्य की भाषा, विचार, आवश्यकताएँ, जीवन, उद्देश्य, मूल्य, संस्कृति और सभी किसी न किसी रूप में बदलती रहती हैं। कहा जाता है कि समय और संसार स्थिर नहीं रहते। परिवर्तन जीवन का नियम है। वे जो केवल अपने अतीत एवं वर्तमान को ही देखते रहते हैं, निश्चित रूप से अपने भविष्य को खो देते हैं। समाज मानव जीवन के प्रारंभ से ही मनुष्य के साथ है और तब से लेकर आज तक समाज या सामाजिक जीवन में, उसके स्वरूप, संरचना, व्यवस्था, संगठन, आदर्श, मूल्य सभी में परिवर्तन की निरंतर और अवश्यंभावी प्रक्रिया में कभी भी अवरोध नहीं आया। किसी भी ऐसे समाज की कल्पना नहीं की जा सकती, जो पूर्णत: स्थिर हो। परिवर्तन तो प्रत्येक समाज में होगा ही। अपरिवर्तनशील समाज का अस्तित्व हो ही नहीं सकता। इस परिवर्तन का ही परिणाम है कि पाषाण युग का वह आदिमानव आज अंतरिक्ष तक पहुँच गया है और भविष्य में पता नहीं कहाँ तक पहुँचेगा। अस्तु समाज के संदर्भ में होने वाले परिवर्तन को हम सामाजिक परिवर्तन कहते हैं।

समाज निरंतर गतिशील रहता है। समाज की सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और आर्थिक स्थितियों में निंरतर परिवर्तन होता रहता है। इस परिवर्तनशीलता का ही परिणाम है कि आज हमारे समाज की रचना और स्वरूप में भारी परिवर्तन आ गया है। आज का समाज आज से एक सौ वर्ष पूर्व के समाज से भिन्न है तथा वह एक हजार वर्ष पूर्व के समाज से बहुत भिन्न था। इस अंतराल में जो परिवर्तन हुए हैं उससे आज के समाज और उस समय के समाज में जमीन-आसमान का अंतर आ गया है। इस प्रकार समाज में निरंतर परिवर्तन होते रहते है। हाँ यह बात अवश्य है कि किसी समाज में परिवर्तन बहुत तीव्र गति से होते हैं और किसी समाज में बहुत मंद गति से। समाज की विशेषता यह भी है कि सामान्यत: वह आगे की ओर ही बढ़ता है। इसमें हुआ परिवर्तन प्रगति का ही सूचक होता है।

भारतीय समाज व संस्कृति का इतिहास अति प्राचीन है। पर प्राचीनता के साथ-साथ भारतीय समाज व संस्कृति में निरंतरता भी देखने को मिलती है। यूनान, रोम, मिस्र और सुमेर की प्राचीन संस्कृतियाँ समय के प्रवाह में बह चुकी हैं, आज वहाँ निवास करने वाले लोगों के जीवन में उस प्राचीन संस्कृति का कोई सूत्र नहीं रह गया है। पर प्राचीन भारतीय संस्कृति, उसकी समाज व संस्थाएँ आज भी जीवित हैं और उसकी परंपराएँ आज भी भारतीय जीवन में विद्यमान हैं। अर्थात् प्राय: 5000 वर्ष से भारतीय समाज व संस्कृति की निरंतरता बराबर बनी हुई है।

पर इस निरंतरता का अर्थ जड़ता अथवा गतिशीलता का अभाव नहीं है। यदि भारतीय समाज व संस्कृति में निरंतरता है, तो परिवर्तनशीलता या गतिशीलता भी है। भारतीय सामाजिक व सांस्कृतिक जीवन का इतिहास अनेक चढ़ाव-उतार, अनेक उत्थान-पतन अनेक परिवर्तन-परिवर्द्धन और अनेक लेन-देन का इतिहास है। परिवर्तन प्रकृति का नियम है और उस नियम से भारतीय समाज भी अछूता नहीं रह पाया है। यही कारण है कि वैदिक युग के समाज और आधुनिक भारतीय समाज में जमीन-आसमान का फर्क है। परंतु इससे पूर्व कि हम इस संबंध में और कुछ विवेचना करें, यह उचित होगा कि हम भारत में सामाजिक परिवर्तन के कारकों को समझ लें।

नोट

भारतीय आर्थिक समस्याओं के सैद्धांतिक हल के लिये हमारे राष्ट्र-निर्माताओं ने संविधान-निर्माण के समय उनका समावेश अनुच्छेद 16, 19, 23, 24, 39, 41, 42, 46, 49 के माध्यम से संविधान में कर दिया, किंतु आज तक हम आर्थिक लोकतंत्र की स्थापना में सफल नहीं हो पाये हैं। सैद्धांतिक हलों से समस्या का समाधान नहीं होता। इनका क्रियात्मक हल ढूँढ़ना होगा। इसकी क्रियान्विति का सशक्त साधन ढूँढ़ना होगा। किसी परंपरागत समाज में परिवर्तन लाना है तो शिक्षा ही उस परिवर्तन का सशक्त साधन हो सकता है। इस मान्यता की पुष्टि करते हुये शिक्षा आयोग (1965-66) ने लिखा है, ''यदि बिना किसी हिंसात्मक क्रान्ति (इस तरह की क्रांति की स्थिति में भी उसकी आवश्यकता होगी) के बड़े पैमाने पर यह परिवर्तन करना है तो केवल एक ही साधन है, जिसका प्रयोग किया जा सकता है और वह है शिक्षा। अन्य बातें भी इसमें सहायता कर सकती हैं और वास्तव में कभी-कभी तो उनका असर ऊपरी तौर पर अधिक भी जान पड़ सकता है। मगर शिक्षा की राष्ट्रीय प्रणाली ही एक ऐसा साधन है, जो सभी लोगों तक पहुँच सकता है।''

शिक्षा को हमारे मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति में एक सशक्त साधन के रूप में लिया जा सकता है। यह तभी संभव है जब कि हमारी शिक्षा के उद्देश्य यथार्थ के धरातल पर आधारित हों।

शिक्षा का संस्तरीकरण से गहरा संबंध है। समाज में प्राय: निम्न वर्ग अथवा मध्यम वर्ग का बालक शिक्षा इस कारण ग्रहण करता है जिससे शिक्षित होकर वह अपना वर्ग ऊँचा कर सके जबकि उच्च वर्ग शिक्षा इस कारण ग्रहण करता है कि वह अपने पद व सम्मान को स्वामित्व प्रदान कर सके। सामाजिक गतिशीलता क्या है, इसकी चर्चा विभिन्न विद्वानों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से की है। इस संबंध में उब्ल्यू.सी. हेडरिक का कहना है कि, ''सामाजिक गतिशीलता का आशय है व्यक्तियों का एक सामाजिक समूह से दूसरे सामाजिक समूह में चला जाना।'

1.3 शिक्षा के सामाजिक आधार का अर्थ

शिक्षा के सामाजिक आधार का अर्थ यह है कि शिक्षा की व्यवस्था समाज की आवश्यकताओं, आकांक्षाओं और आदर्शों के आधार पर की जानी चाहिए। शिक्षा के द्वारा बालकों में ऐसे सामाजिक गुणों का विकास किया जाना चाहिए, जिससे वे अपने कर्तव्यों का पालन कर सकें, अधिकारों का उपयोग कर सकें और समाज तथा देश के योग्य, कुशल, जागरूक और समर्पित नागरिक बन सकें। शिक्षा के द्वारा उनमें समाज के साथ अनुकूलन करने की क्षमता विकसित करनी चाहिए। शिक्षा के उद्देश्यों के निर्धारण का आधार उस समाज का जीवन दर्शन, समाज की संरचना और उसकी धार्मिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक व आर्थिक स्थिति होनी चाहिए। इसी प्रकार पाठ्यक्रम में उन्हीं विषयों एवं क्रियाओं को सम्मिलित करना चाहिए, जो सामाजिक दृष्टि से उपयोगी हों, जो बालकों में सामाजिकता की भावना तथा सामाजिक गुणों का विकास करें और जो व्यक्ति की सामाजिक आवश्यकताओं को पूरा करें। इस प्रकार शिक्षा का सामाजिक आधार इस बात पर बल देता है कि शिक्षा का आधार समाज हो। शिक्षा के द्वारा बालक का सर्वतोमुखी विकास हो, जिससे समाज का भी उत्तरोत्तर विकास हो सके।

शिक्षा प्रक्रिया के तीनों अंग–शिक्षार्थी, शिक्षक और पाठ्यक्रम–समाज के अंग हैं, इसीलिए शिक्षा को सामाजिक प्रक्रिया माना जाता है, जिसका अर्थ है–

1. शिक्षा प्रक्रिया के विभिन्न अंग सदैव ही समाज के स्वरूप से प्रभावित होते रहते हैं।
2. शिक्षा के उद्देश्य समाज की आवश्यकताओं के अनुसार निर्धारित किए जाते हैं।

नोट

3. शिक्षा के पाठ्यक्रम में नए-नए विषयों का समावेश समाज की वर्तमान और भावी आवश्यकताओं के अनुसार किया जाता है।
4. शिक्षा की शिक्षण विधियाँ समाज के स्वरूप पर ही निर्भर करती हैं।
5. अनुशासन में सामाजिक दृष्टिकोण को अधिक महत्त्व दिया जाता है।
6. शिक्षा की प्रक्रिया समाज की संस्कृति से नियंत्रित होती है।
7. शिक्षा पर खर्च होने वाला व्यय समाज से ही आता है।
8. शिक्षालय को समाज का वास्तविक रूप माना जाता है।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 में कहा गया है कि–

''हमारा देश आर्थिक और तकनीकी दृष्टि से उस मुकाम पर पहुँच गया है, जहाँ से हम अब तक के सिंचित साधनों का इस्तेमाल करते हुए समाज के हर वर्ग को फायदा पहुँचाने का प्रबल प्रयास करें। शिक्षा उस लक्ष्य तक पहुँचने का प्रबल साधन है।'' –अनुच्छेद 1.2

''नई चुनौतियों और सामाजिक आवश्यकताओं का तकाजा है कि सरकार एक नई नीति तैयार करे और उसको कार्यान्वित करे। इसके सिवा विकल्प नहीं है।'' –अनुच्छेद 1.15

उपरोक्त कथन यह स्पष्ट करते हैं कि शिक्षा और समाज का पारस्परिक संबंध बहुत ही गहरा है। वस्तुत: किसी भी समाज की संरचना, आवश्यकताएँ और उसमें उपलब्ध अलग-अलग तरह के स्रोत ही उस समाज की शिक्षा की नीति की आधारभूमि निर्धारित करते हैं। कहा भी जाता है कि शिक्षा का स्वरूप वैसा ही होता है जैसा हमारा समाज है और जैसा समाज हम बनाना चाहते हैं। जैसे कोठारी आयोग (1964-66) ने भारतीय समाज की परिस्थितियों और आवश्यकताओं का बहुत गइराई के साथ अध्ययन करके उस समय भारतीय शिक्षा के निम्नलिखित उद्देश्य निर्धारित किए थे–

1. उत्पादन में वृद्धि,
2. सामाजिक और राष्ट्रीय एकता का विकास,
3. प्रजातंत्र को सुदृढ़ करना,
4. सामाजिक, नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों का विकास,
5. राष्ट्र का आधुनिकीकरण करना।

इसी प्रकार 1986 में समाज की बदली हुई परिस्थितियों में जो राष्ट्रीय शिक्षा नीति बनाई गयी, उसके कुछ प्रमुख लक्ष्य थे–

1. समानता के लिए शिक्षा,
2. सबके लिए शिक्षा,
3. शिक्षा का प्रभावी प्रबंध,
4. शिक्षा व्यवस्था को कारगर बनाना।

इसके बाद 1990 में इसी राष्ट्रीय शिक्षा नीति की समीक्षा के लिए आचार्य राममूर्ति समिति गठित की गई। इस समिति के प्रतिवेदन का नाम ही ''एक प्रबुद्ध एवं मानवीय समाज की ओर'' था। इसका प्रमुख लक्ष्य भी सबको शिक्षा देना था।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि समाज की वर्तमान और भावी आवश्यकताएँ तथा परिस्थितियाँ शिक्षा प्रक्रिया को लगातार प्रभावित करती रहती हैं। शिक्षा को अपना नया रूप समाज से ही मिलता

है। समाज की परिवर्तनशील प्रवृत्ति के कारण ही शिक्षा का रूप भी बदलता रहता है। यही शिक्षा का सामाजिक आधार है।

शैक्षिक समाजशास्त्र की विवेचन करने से पूर्व समाजशास्त्र के ऐतिहासिक परिदृश्य, उसके अर्थ, परिभाषा और विषय-वस्तु के विषय में ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है।

नोट

1.4 समाजशास्त्र का ऐतिहासिक परिदृश्य

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। व्यक्ति और समाज एक-दूसरे से घनिष्ठ रूप से संबंधित हैं। एक के बिना दूसरे का कोई अस्तित्व नहीं है। व्यक्तियों के अभाव में समाज का कोई महत्त्व नहीं है और समाज के अभाव में व्यक्ति जिंदा नहीं रह सकता, अपना विकास नहीं कर सकता। समाज एक मूर्त संकल्पना है जिसका भवन व्यक्ति की नींव पर निर्मित होता है। प्राचीन काल से ही व्यक्ति और समाज के संबंधों पर विचार किया जाता रहा है। प्लेटो (Plato) ने कहा था कि व्यक्ति ठीक उसी प्रकार से व्यवहार करता है, जिस प्रकार से समाज उसे व्यवहार करना सिखाता है। व्यक्ति का व्यवहार उस समाज की उपज है, जिसमें वह जन्म लेता है और पलता है। अरस्तू (Aristotle) ने कहा था कि कोई भी व्यक्ति संपूर्ण संसार को अपना कहने से इंकार कर देगा, यदि उसे यह पता चल जाए कि उसे संसार में अकेला रहना होगा। व्यक्ति के सामाजिक या सामुदायिक जीवन के महत्त्व पर बल देते हुए उसने यह भी कहा कि वह व्यक्ति जो एक सामान्य जीवन व्यतीत करने में असमर्थ है, अर्थात् जो दूसरों के साथ मिल-जुलकर नहीं रह सकता, वह या तो मनुष्यता के निम्न स्तर पर है या उच्च स्तर पर अर्थात् या तो वह पशु है या भगवान्। लुक्रेटियस (Lucretius), सिसरो (Cicero), मारकस आरेलियस (Marcus Aurelius), सेन्ट अगस्टाइन (St. Augustine), थामस एक्यूनस (Thomas Acquinas), दाँते (Dante), थॉमस हाब्स (Thomas Hobbes), जॉन लॉक (John Lock), रूसो (Rousseau), मांटेस्क्यू (Montesquieu) आदि विचारकों ने भी समाज और सामाजिक जीवन के विषय में अपने विचार व्यक्त किए। इस प्रकार अति प्राचीन काल से ही विचारकों का ध्यान व्यक्ति, समाज, व्यक्ति और समाज के संबंधों, सामाजिक घटनाओं और सामाजिक समस्याओं की ओर आकर्षित होता रहा है और उनके संबंध में विचार भी किया जाता रहा है क्योंकि कोई भी समय रहा हो, चाहे वह प्राचीन हो या आधुनिक, मानव समाज सामाजिक समस्याओं से न मुक्त रहा है और न है। अतः समाज शास्त्र का अस्तित्व चाहे वह लिखित हो या अलिखित, स्पष्ट हो या अस्पष्ट, वैज्ञानिक हो या अवैज्ञानिक, सदैव ही रहा है। जहाँ राबर्ट बीर स्टीट (Robert Bier Stedt) का यह कहना सच है कि, ''समाजशास्त्र का अतीत काफी प्राचीन या लंबा है।'' वहीं गिसबर्ट (Gisbert) का यह कथन भी यथार्थ है कि, ''यदि व्यक्ति स्वभाव से एक दार्शनिक है तो वह स्वभावतः ही एक समाजशास्त्री भी है।''

इस प्रकार समाजशास्त्र का अतीत तो लंबा है लेकिन इतिहास बहुत ही संक्षिप्त है। फ्रांसीसी दार्शनिक आगस्त काम्टे (August Comte) वह पहले विचारक हैं जिन्होंने एक नवीन समाज विज्ञान की कल्पना की और उसको सामाजिक भौतिकी (Social Physics) का नाम दिया, जिसे बदलकर 1938 में उन्होंने उसका नाम समाजशास्त्र (Sociology) रखा। चूँकि काम्टे ने समाज के वैज्ञानिक अध्ययन की सबसे पहले कल्पना की इसलिए उन्हें समाजशास्त्र का जन्मदाता माना जाता है। उन्होंने कहा कि समाजशास्त्र का उपयोग समाज के पुनर्निर्माण में होना चाहिए। काम्टे के बाद समाजशास्त्र के पृष्ठपोषक जॉन स्टुअर्ट मिल (John Stuart Mill) और हरबर्ट स्पेंसर (Herbert Spencer) हुए। ये दोनों अंग्रेज थे और इन्होंने समाजशास्त्र को एक व्यवस्थित स्वरूप प्रदान कर उसे एक पूर्ण शास्त्र

नोट

की संज्ञा प्रदान की। समाजशास्त्र की सर्वाधिक प्रगति संयुक्त राज्य अमेरिका मे हुई। लेस्टर वार्ड (Lester Ward) ने समाजशास्त्र को दो भागों में विभाजित किया–शुद्ध समाजशास्त्र और व्यावहारिक समाजशास्त्र। शुद्ध समाजशास्त्र में सामाजिक तथ्यों अर्थात् जो चीजें जैसी हैं, वर्तमान स्थिति में उनका अध्ययन होता है और व्यावहारिक समाजशास्त्र के अंतर्गत इस बात का अध्ययन होता है कि आज जो स्थिति है उसमें सुधार किस प्रकार हो। फ्रांस में दर्शनिक दुर्खीम (Durkheim) ने भी समाजशास्त्र के विस्तार में बहुत योगदान दिया। उन्होंने कहा कि समाजशास्त्र के अंतर्गत हर चीज का अध्ययन सामाजिक दृष्टिकोण से होना चाहिए। समाजशास्त्र के विकास में जिन अन्य दार्शनिकों ने सहयोग दिया, उनमें मान्टेन (Montaign), मॉस (Mauss), बकल (Buckle), राबर्टसन (Robertson), टॉनिज (Tonnies), रैजल (Ratzel), मेकाइबर (Maciver), सोरोकिन (Sorokin), पारसंस (Parsons), बार्न्स (Barns), कासर (Coser), पार्क (Park), बरगेस (Burgess), आदि प्रमुख हैं।

1.5 समाजशास्त्र का अर्थ एवं परिभाषा

हिंदी का समाजशास्त्र शब्द अंग्रेजी के 'सोशियोलॉजी' शब्द का रूपांतर है। अंग्रेजी का सोशियोलॉजी शब्द दो शब्दों 'सोशियो' (Socio) और लॉजी (logy) को मिलाकर बना है। सोशियो का अर्थ है समाज से संबंधित और लॉजी का अर्थ है ज्ञान अथवा विज्ञान। इस प्रकार सोशियोलॉजी का शाब्दिक अर्थ है समाज से संबंधित विज्ञान, जो समाज के विषय में अध्ययन करता है। समाज का अर्थ यहाँ मानव समाज से है। इस प्रकार समाजशास्त्र केवल मानव समाज का ही अध्ययन करता है। समाजशास्त्र के स्वरूप से पूर्णतया परिचित होने के लिए विभिन्न विचारकों द्वारा दी गई परिभाषाओं का अध्ययन करना आवश्यक है। कतिपय परिभाषाएँ निम्न प्रकार से हैं–

आगस्त काम्टे–"समाजशास्त्र सामाजिक व्यवस्था तथा सामाजिक प्रगति का विज्ञान है।''

गिडिंग्स–''समाजशास्त्र समग्र रूप से समाज का व्यवस्थित वर्णन और कारक है।''

मॉरिस गिन्सबर्ग–"समाजशास्त्र मनुष्यों की अंत:क्रियाओं और अंत:संबंधों, उनकी दशाओं और परिणामों का अध्ययन है।''

इमाइल दुर्खीम–''समाजशास्त्र सामूहिक प्रतिनिधित्व का विज्ञान है।''

गिलिन एवं गिलिन–''व्यापक अर्थों में समाजशास्त्र वह विज्ञान है, जो मानव समूह के संयोग से उत्पन्न होने वाली अंत:क्रियाओं का अध्ययन करता है।''

मेकाइवर और पेज–''समाजशास्त्र सामाजिक संबंधों का व्यवस्थित अध्ययन है। सामाजिक संबंधों के जाल को हम समाज कहते हैं।''

सोरोकिन–"समाजशास्त्र सामाजिक-सांस्कृतिक घटनाओं के सामान्य स्वरूपों, प्रारूपों और अनेक प्रकार के अंत: संबंधों का सामान्य विज्ञान है।''

क्यूबर–"समाजशास्त्र को मानव संबंधों के वैज्ञानिक ज्ञान की शाखा कहा जा सकता है।''

मैक्स वेबर–''समाजशास्त्र वह विज्ञान है जो सामाजिक क्रियाओं का विश्लेषणात्मक बोध कराता है।'' उपरोक्त परिभाषाओं का विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट होता है कि समाजशास्त्र व्यक्ति और समाज के वैयक्तिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और राष्ट्रीय सभी प्रकार के संबधों की व्याख्या करता है और उनकी पारस्परिक प्रतिक्रियाओं का अध्ययन एवं विश्लेषण करता है। इसके अंतर्गत उन सभी समूहों का अध्ययन किया जाता है, जिनका प्रभाव व्यक्ति और उसके व्यवहार पर अवश्य

पड़ता है। इसके अंतर्गत परंपराओं, रीति-रिवाजों, लोक कथाओं, लोक व्यवहार, धार्मिक, सामाजिक, नैतिक आदि संस्थाओं, जातियों, अर्थव्यवस्था, आर्थिक, राजनीतिक, अपराध आदि से समस्याओं का अध्ययन होता है। कहा जा सकता है कि समाजशास्त्र समाज के जीवन और कार्य-कलापों का वैज्ञानिक अध्ययन है, जिसमें भौतिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार की समस्याएँ होती हैं जिनका संबंध भूत, भविष्य तथा वर्तमान तीनों के जीवन से होता है।

नोट

1.6 समाजशास्त्र की विषय-वस्तु

समाजशास्त्र की विषय-वस्तु के संबंध में विभिन्न समाजशास्त्रियों ने अपने-अपने विचार व्यक्त किए हैं। कतिपय समाजशास्त्रियों के विचार इस प्रकार हैं–

दुर्खीम (Durkheim) ने समाजशास्त्र की अध्ययन वस्तु को तीन भागों में बाँटा है–

1. सामाजिक स्वरूपशास्त्र (Social Morphology)
2. सामाजिक शरीरशास्त्र (Social Physiology)
3. सामान्य समाजशास्त्र (General Sociology)

जिन्सबर्ग (Ginsberg) ने इसे चार भागों में विभक्त किया है–

1. सामाजिक स्वरूपशास्त्र (Social Morphology)
2. सामाजिक नियंत्रण (Social Control)
3. सामाजिक प्रक्रियाएँ (Social Processes)
4. सामाजिक व्याधिकी (Social Pathology)

मोटवानी (Motwani) के अनुसार समाजशास्त्र की अध्ययन वस्तु निम्नलिखित है–

1. समाजशास्त्र उन सिद्धांतों की खोज करता है, जिनके कारण सामाजिक जीवन के आधारभूत तत्वों में सामंजस्य स्थापित होता है।
2. समाजशास्त्र सामाजिक संस्थाओं के विकास, प्रगति, कार्यों और अंत:संबंधों की व्याख्या करता है।
3. समाजशास्त्र सामाजिक संगठन के उन तत्वों की ओर संकेत करता है, जो सामाजिक परिवर्तन की दिशा निर्धारित करते हैं।
4. समाजशास्त्र सामाजिक व्याधिकी और अव्यवस्था को दूर करने के लिए व्यावहारिक उपाय प्रस्तुत करता है।
5. समाजशास्त्र उन सामाजिक शक्तियों और कारकों के समन्वय पर बल देता है, जो व्यक्ति और समूह की प्रगति में सहायक सिद्ध होते हैं।

1.7 शैक्षिक समाजशास्त्र का अर्थ एवं परिभाषा

शिक्षा और समाज के घनिष्ठ संबंधों ने शैक्षिक समाजशास्त्र को जन्म दिया। दुर्खीम ने कहा था कि शिक्षा मूलत: अपने स्वरूप, उद्‌भव एवं प्रकार्य की दृष्टि से एक सामाजिक क्रिया है। फलत: शिक्षा का सिद्धांत किसी अन्य विज्ञान की अपेक्षा समाजशास्त्र से स्पष्ट रूप से संबंधित होता है। शैक्षिक

नोट

समाजशास्त्र में समाजशास्त्र के उन सभी सिद्धांतों को अपनाया जाता है जो शिक्षा के सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक दोनों पक्षों को प्रभावित करते हैं। शैक्षिक समाजशास्त्र पर व्यस्थित रूप से कार्य करने का श्रेय न्यूयार्क विश्वविद्यालय के शिक्षा विभागाध्यक्ष ई. जार्ज पेनी (E-George Payne) को है। 1923 ई. में उन्होंने अमेरिका में 'नेशनल सोसायटी फॉर दि स्टडी ऑफ सोसियोलॉजी' की स्थापना की, जिसने शैक्षिक समाजशास्त्र के विकास में बहुत योगदान दिया। सन् 1928 में जार्ज पेनी की प्रसिद्ध पुस्तक 'प्रिंसिपल्स ऑफ एजूकेशनल सोसियोलॉजी' (Principles of Educational Sociology) प्रकाशित हुई, जिसमें उन्होंने कहा कि यह एक नवीन विज्ञान है, जो समाजशास्त्र व शिक्षा को जोड़ता है। उन्होंने शैक्षिक प्रक्रिया की व्याख्या समाजशास्त्र के सिद्धांतों के आधार पर की। अपनी इस व्याख्या में उन्होंने बताया कि किस प्रकार सामूहिक जीवन पर शिक्षा और समाज का प्रभाव पड़ता है। शिक्षा एक सामाजिक प्रक्रिया है और इस रूप में वह समाज के उत्थान तथा पुनर्निर्माण का महान् कार्य करती है। सितंबर, 1928 से ही जनरल ऑफ एजूकेशनल सोसियोलॉजी (Journal of Educational Sociology) प्रकाशित होना प्रारंभ हुआ, जिसने शैक्षिक समाजशास्त्र के विकास में महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

सुप्रसिद्ध दार्शनिक ड्यूवी ने भी शिक्षा में सामाजिक प्रवृत्तियों को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया। उन्होंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तकों 'द स्कूल एंड सोसाइटी' (The School and Society) तथा 'डेमोक्रेसी एंड एजूकेशन' (Democracy and Education) में भी शिक्षा को एक सामाजिक प्रक्रिया माना, जो व्यक्ति के द्वारा जाति की सामाजिक चेतना में भाग लेने से विकसित होती है। इस दृष्टि से उचित शिक्षा के विधान के लिए सामाजिक चेतना का अध्ययन करना आवश्यक है। शैक्षिक समाजशास्त्र के विकास में जिन अन्य विचारकों ने सहयोग दिया, उनमें फ्रेडरिक लीप्ले (Fredric Leaplay)ए मूर (Moore), मैरिल (Merril), मेकाइवर (Maclver), कोल (Cole), डंकन (Duncon), ब्राउन (Brown), डेविस (Davis), डोलार्ड (Dollard), क्लार्क (Clark), ओटावे (Ottaway) आदि प्रमुख हैं। इन विचारकों ने कहा कि समाजशास्त्र गतिशील समाज में वांछित लक्ष्यों को प्राप्त करने में शैक्षिक प्रक्रिया के निर्देशन में सहायक सिद्ध हो सकता है। इस प्रकार शैक्षिक समाजशास्त्र शिक्षा और समाज का समन्वित रूप है। शैक्षिक समाजशास्त्र में व्यक्ति, समाज, सामाजिक समूहों, सामाजिक वर्गों, सामाजिक संस्थाओं आदि का अध्ययन किया जाता है और देखा जाता है कि इनका व्यक्ति के विकास पर क्या प्रभाव पड़ता है और इस आधार पर शिक्षा का स्वरूप निश्चित किया जाता है। शैक्षिक समाजशास्त्र के अंतर्गत उन समस्त सिद्धांतों को अपनाया जाता है जो शिक्षा के सैद्धांतिक और व्यावहारिक दोनों पक्षों को प्रभावित करते हैं। शिक्षा के विभिन्न अंगों–उद्देश्य, पाठ्यक्रम, शिक्षण विधि, अनुशासन, शिक्षक, विद्यालय, प्रशासन आदि के स्वरूप को समाज की आवश्यकताओं और परिस्थितियों के अनुरूप शैक्षिक समाजशास्त्र ही निर्धारित करता है।

शैक्षिक समाजशास्त्र की परिभाषाएँ अनेक विचारकों ने दी हैं। कुछ प्रमुख परिभाषाएँ अग्र प्रकार हैं–

जार्ज पैनी–''शैक्षिक समाजशास्त्र से हमारा तात्पर्य उस विज्ञान से है, जो संस्थाओं, सामाजिक समूहों और सामाजिक प्रक्रियाओं अर्थात् उन सामाजिक संबंधों का, जिनमें अथवा जिनके द्वारा व्यक्ति अपने अनुभवों को प्राप्त और संगठित करता है, का वर्णन और व्याख्या करता है।''

ब्राउन–"शैक्षिक समाजशास्त्र व्यक्ति तथा उसके सांस्कृतिक वातावरण के बीच होने वाली अंत:क्रिया का अध्ययन है।''

नोट

रोसेक–"शैक्षिक समाजशास्त्र समाजशास्त्र का वह पक्ष है, जो आधारभूत शैक्षिक समस्याओं को हल करता है।'' ओटावे–''शैक्षिक समाजशास्त्र वह विज्ञान है, जो शिक्षा और समाज के संबंधों का अध्ययन करता है। यह शिक्षा के उद्देश्यों, विधियों, संस्थाओं, प्रशासन और पाठ्यक्रम को उस समाज की आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक व सांस्कृतिक शक्तियों द्वारा निर्धारित करता है, जिसमें उसे क्रियान्वित किया जाता है। व्यक्ति की शिक्षा पर व उसके व्यक्तित्व के विकास पर सामाजिक जीवन व सामाजिक संबंधों का प्रभाव पड़ता है।''

गुड–''शैक्षिक समाजशास्त्र इस बात का वैज्ञानिक अध्ययन करता है कि व्यक्ति सामाजिक समूहों में किस प्रकार रहते हैं, वे कैसी शिक्षा प्राप्त करते हैं तथा इन सामाजिक समूहों में कुशलतापूर्वक रहने के लिए उनको किस प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता है।''

कार्टर–"शैक्षिक समाजशास्त्र, समाजशास्त्र के उन तत्वों का अध्ययन करता है, जिनका शैक्षिक प्रक्रिया में महत्त्व है और विशेष रूप से उनका अध्ययन करता है, जो सीखने की महत्त्वपूर्ण योजना और सीखने की क्रिया के नियंत्रण की ओर संकेत करते हैं।''

1.8 शैक्षिक समाजशास्त्र के उद्देश्य

हेरिंगटन (Harington) ने शैक्षिक समाजशास्त्र के निम्नलिखित उद्देश्य बताए हैं–

1. विद्यालय को प्रभावित करने वाले सामाजिक कारकों का अध्ययन करना।
2. सामाजिक कारकों का अध्ययन करते हुए, व्यक्ति पर पड़ने वाले उनके प्रभावों को समझना।
3. सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक प्रवृत्तियों को समझते हुए शिक्षा के पाठ्यक्रम का सामाजिक दृष्टि से नियोजन करना।
4. समाज के संदर्भ में शिक्षक के कार्य का ज्ञान प्राप्त करना और सामाजिक प्रगति की दृष्टि से विद्यालय के कार्य का ज्ञान प्राप्त करना।
5. लोकतांत्रिक सिद्धांतों को समझना।
6. इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए अनुसंधान की विधियों का उपयोग करना।

1.9 शैक्षिक समाजशास्त्र का क्षेत्र

शैक्षिक समाजशास्त्र की परिभाषाओं और उद्देश्यों का अध्ययन करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि शैक्षिक समाजशास्त्र का क्षेत्र अत्यंत व्यापक है। इसके अंतर्गत जिन विषयों का अध्ययन किया जाता है, उनमें प्रमुख विषय निम्न प्रकार हैं–

1. समाज की आवश्यकताओं, परिस्थितियों, समस्याओं और माँगों का अध्ययन करना।
2. सांस्कृतिक वातावरण के संदर्भ में व्यक्ति तथा समाज का अध्ययन करना।
3. विभिन्न सामाजिक संस्थाओं के पारस्परिक संबंधों का अध्ययन करना।
4. व्यक्ति और विद्यालय पर समाज के प्रभाव का अध्ययन करना।
5. समाज में शिक्षक के स्थान और महत्त्व का अध्ययन करना।
6. शिक्षक और शिक्षार्थियों के पारस्परिक संबंधों और उन्हें प्रभावित करने वाले कारकों का अध्ययन करना।

नोट

7. विद्यालय और स्थानीय सामाजिक संस्थाओं के पारस्परिक संबंधों का अध्ययन करना।
8. समाज पर शिक्षा के प्रभाव का अध्ययन करना।
9. विद्यालय में लोकतांत्रिक भावना का विकास करना।
10. व्यक्ति और समाज की प्रगति के लिए पाठ्यक्रम में आवश्यक परिवर्तन करना।
11. व्यक्तित्व के विकास के लिए शिक्षण विधियों का निर्धारण करना।
12. सामाजिक नियंत्रण, सामाजिक परिवर्तन, सामाजिक संगठन, सामाजिक प्रक्रिया और सामाजिक प्रगति आदि पर शिक्षा के प्रभाव का अध्ययन करना।
13. सामाजिक जीवन में समाचार-पत्र, रेडियो, टीवी, सिनेमा, पुस्तकालय आदि के स्थान और प्रभाव का अध्ययन करना।
14. व्यक्ति पर संस्कृति के समग्र प्रभावों का अध्ययन करना।

मारविन ब्रेसलर (Marvin Bressler) के अनुसार शैक्षिक समाजशास्त्र निम्नलिखित विषयों का अध्ययन करता है–

1. शिक्षा की संपूर्ण प्रक्रिया पर बाह्य सामाजिक व्यवस्था के प्रभाव का अध्ययन।
2. व्यापक व्यवस्था के रूप में विद्यालय का व्यवस्थित विश्लेषण करना।
3. शिक्षण कक्ष के अंदर होने वाली सामाजिक अंत:क्रियाओं का समाजिक सिद्धांतों और विधियों के संदर्भ में अध्ययन करना।
4. विद्यालय व अन्य आंतरिक संगठनों का समाज के अन्य साधनों के साथ संबंधों का अध्ययन करना।

शैक्षिक समाजशास्त्र के विषय क्षेत्र की समीक्षा करते हुए डैन: डब्ल्यू. डोडसन ने लिखा है कि, ''शैक्षिक समाजशास्त्र की रुचि समस्त सांस्कृतिक समग्र है, जिसमें तथा जिसके द्वारा, व्यक्ति अनुभवों को अर्जित एवं संगठित करता है। विशिष्ट रूप से शैक्षिक समाजशास्त्र इस विषय में रुचि रखता है कि सुव्यक्तित्व विकास के लिए शैक्षिक प्रक्रियाओं का संचालन किस प्रकार किया जाए।''

1.10 शैक्षिक समाजशास्त्र के कार्य

1. शैक्षिक समाजशास्त्र समाज के सदस्यों के नैतिक, चारित्रिक, आध्यात्मिक, दार्शनिक तथा सामाजिक उत्थान में सहयोग देता है।
2. शैक्षिक समाजशास्त्र व्यक्तियों के विचारों, मूल्यों तथा व्यवहारों को परिवर्तित कर समाज को प्रगति की ओर अग्रसर करता है।
3. शैक्षिक समाजशास्त्र समाज के उपयोगी रीति-रिवाजों, परंपराओं, धारणाओं और मूल्यों की रक्षा करता है और उनको स्थायी बनाता है तथा दोषपूर्ण कुप्रथाओं और व्यवहारों में संशोधन करता है।
4. शैक्षिक समाजशास्त्र समाज को गतिशीलता प्रदान करता है।
5. शैक्षिक समाजशास्त्र समाज के सदस्यों का समाज के साथ समायोजन करने और समाज के आदर्शों तथा मान्यताओं के अनुरूप जीवन व्यतीत करने का प्रशिक्षण प्रदान करता है।

6. शैक्षिक समाजशास्त्र बालकों में समाज में रहने की क्षमता का विकास करता है और उनका सामाजीकरण करता है।
7. शैक्षिक समाजशास्त्र व्यक्तियों के समूहों को समझने, उनके निर्माण की क्रिया को समझने, सामूहिक जीवन को समझने की योग्यता का विकास करता है।
8. शैक्षिक समाजशास्त्र समाज की संस्कृति के संरक्षण तथा विकास में पूर्ण सहयोग प्रदान करता है।

नोट

1.11 शैक्षिक समाजशास्त्र के अध्ययन की आवश्यकता एवं महत्त्व

शिक्षा का कार्य बालक के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास करना है। यह विकास शून्य में नहीं हो सकता। विकास सदैव सामाजिक संबंधों से प्रभावित होता है। बालक के विकास पर उसके परिवार, विद्यालय, समुदाय, संस्कृति आदि का प्रभाव पड़ता है। शैक्षिक समाजशास्त्र में इन सभी का अध्ययन होता है। शैक्षिक समाजशास्त्र की आवश्यकता एवं महत्त्व को निम्नलिखित बिंदुओं में स्पष्ट किया जा सकता है–

1. शैक्षिक समाजशास्त्र की सहायता से समाज और उसके विभिन्न स्वरूपों की प्रकृति और शिक्षा पर उनके प्रभावों का ज्ञान प्राप्त होता है।
2. शैक्षिक समाजशास्त्र की सहायता से शिक्षा की अवधारणा को समझने में सहायता मिलती है।
3. शैक्षिक समाजशास्त्र के अध्ययन से समाज की आवश्यकताओं और समस्याओं के अनुरूप शिक्षा के उद्देश्यों को निर्धारित करने में सहायता प्राप्त होती है।
4. शैक्षिक समाजशास्त्र में सामाजिक क्रियाओं के कारणों और परिणामों का विश्लेषण किया जाता है, उनके ज्ञान से शिक्षा के पाठ्यक्रम का निर्माण किया जा सकता है। इस प्रकार शैक्षिक समाजशास्त्र शिक्षा के पाठ्यक्रम के निर्माण में सहायक होता है।
5. शैक्षिक समाजशास्त्र शिक्षण विधियों के निर्माण में सहायक होता है। यद्यपि शिक्षण विधियों के निर्माण का प्रमुख आधार शिक्षा मनोविज्ञान होता है तथापि मनुष्य और समाज के पारस्परिक संबंधों को ध्यान में रखते हुए भी शिक्षण विधियों का निर्माण किया जाता है।
6. शैक्षिक समाजशास्त्र अनुशासन की समस्या को नैतिक अपराध की पृष्ठ-भूमि में न देखकर बालक के सामाजिक वातावरण की पृष्ठ-भूमि में देखता है। इस दृष्टि से शिक्षा में अनुशासन की अवधारणा के स्पष्टीकरण के लिए शैक्षिक समाजशास्त्र के अध्ययन की आवश्यकता है।
7. शैक्षिक समाजशास्त्र की सहायता से विद्यालयों के स्वरूप और उनके कार्यों का ज्ञान प्राप्त होता है।
8. शैक्षिक समाजशास्त्र के द्वारा शिक्षक के व्यक्तित्व पर भी सामाजिक दृष्टि से विस्तार किया जाता है। अत: शिक्षा की प्रक्रिया में शिक्षक के महत्त्व और योगदान को जानने के लिए इस शास्त्र का अध्ययन आवश्यक है।
9. शैक्षिक समाजशास्त्र की सहायता से पिछड़े हुए बालकों और अपराधी बालकों की समस्याओं को उनकी सामाजिक पृष्ठ-भूमि के संदर्भ में समझने का प्रयत्न किया जाता है।
10. शैक्षिक समाजशास्त्र की सहायता से शिक्षा की अन्य समस्याओं का हल खोजने में सहायता प्राप्त होती है।

नोट

1.12 शैक्षिक समाजशास्त्र का शिक्षा पर प्रभाव

शैक्षिक समाजशास्त्र के प्रभाव के फलस्वरूप शिक्षा में अनेक परिवर्तन हुए हैं–

1. जनतांत्रिक तथा लोक-कल्याणकारी शिक्षा के लिए आंदोलन प्रारंभ किया गया।
2. बालकों को अनिवार्य तथा नि:शुल्क शिक्षा प्रदान करने के लिए प्रयत्न किए गए।
3. प्रौढ़ शिक्षा के लिए प्रयत्न प्रारंभ किए गए।
4. सरकार ने शिक्षा के उत्तरदायित्व को स्वीकार कर अनेक महत्त्वपूर्ण और उपयोगी कदम उठाये।
5. विकलांग और मंद बुद्धि बालकों की शिक्षा का उत्तरदायित्व भी सरकार ने ग्रहण किया।
6. शिक्षकों के प्रशिक्षण के लिए प्रशिक्षण संस्थानों की स्थापना की गई।
7. शिशु शिक्षा तथा बाल मनोविज्ञान पर बल दिया गया।
8. शिक्षकों के अभाव में शिष्याध्यापक (मॉनीटर) प्रणाली को प्रारंभ किया गया।
9. शिशु सेवा आंदोलन प्रारंभ हुआ, जिससे बालकों को कारखानों आदि में कार्य करने से रोका जाने लगा।
10. राज्यों द्वारा व्यावसायिक, तकनीकी और कृषि शिक्षा की व्यवस्था की गई।
11. शिक्षा के समस्त अंगों–शिक्षा का अर्थ, शिक्षा के उद्देश्य, शिक्षा का पाठ्यक्रम, शिक्षण विधि, अनुशासन आदि में भारी परिवर्तन हुए।

1.13 शिक्षा का समाजशास्त्र

शिक्षा एक ऐसा सशक्त माध्यम है जिसके द्वारा मनुष्य के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास संभव है। शिक्षा हमारे संस्कृति की धरोहर है। सदियों से जीवत प्राक् ब्रिटिश भारत में भी वैज्ञानिक संस्कृति विद्यमान थी। इसका अस्तित्व कृषि और हस्तशिल्प पर निर्भर था, जिनके लिए खगोलशास्त्र, कृषि विज्ञान, गणित और मशीन विज्ञान की जानकारी आवश्यक थी। प्राक् ब्रिटिश भारत का अपना औषधि विज्ञान भी था। अंग्रेजों के आगमन से पूर्व भारत का आर्थिक और वैज्ञानिक विकास बहुत कम हुआ था। विश्व के बहुत सारे राष्ट्र जब सभ्य जीव के पथ पर अग्रसर हुए उसके सदियों पहले भारतीयों ने गणित, रसायन और औषधि विज्ञान में पथप्रदर्शक का काम किया। लेकिन संभवत: इसीलिए समाज लगभग उसी पुराने आर्थिक और सांस्कृतिक स्तर पर बहुत दिनों तक स्थिर रहा और भारतीय जनजीवन का समुचित विकास नहीं हो सका। भारतीयों ने इस लंबी अवधि में उपनिषद के आदर्शवादी दर्शन के अनेकानेक भाष्य प्रस्तुत किए। लेकिन प्रकृति विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में इसकी देन कुछ विशष नहीं रही। आधुनिक शिक्षा का प्रारंभ कर अंग्रेज वैज्ञानिक और समाजशास्त्रीय ज्ञान के क्षेत्र में भारत को आधुनिक पाश्चात्य उपलब्धियों के संपर्क में लाए।

शिक्षा का शब्दकोशीय अर्थ है ''चरित्र तथा मानसिक शक्तियों के विकास के लिए योजनाबद्ध शिक्षण।'' सभी मानव-समाजों में शिक्षा एक आधारमूलक गतिविधि है। शिक्षा जिसे अंग्रेजी भाषा में 'एजुकेशन' कहा जाता है, लैटिन शब्द 'एजुकेअर' से बना है जिसका अर्थ है 'पालन-पोषण करना।' शिक्षा का उद्देश्य ओछे ज्ञान से नहीं अपितु इसे सामाजिक नियंत्रण का औपचारिक साधन माना जाता है। शिक्षा समाजीकरण की एक प्रक्रिया है। यह बच्चे को सामाजिक जीवन के लिए

नोट

तैयार करती है। यह बच्चों द्वारा गलत ढंग से पूर्व निर्मित विचारों को सुधारती है एवं पूर्वाग्रहों को दूर करती है। शिक्षा लोगों को अनुशासन, सामाजिक सहयोग, सहनशीलता एवं त्याग के सामाजिक मूल्यों का प्रशिक्षण देती है एवं सही सामाजिक मनोवृत्तियों का विकास करती है ताकि वे भविष्य का अच्छी प्रकार सामना कर सके। प्लेटो का विचार था कि शिक्षा का उद्देश्य शरीर एवं आत्मा में सभी पूर्णता एवं सौंदर्य का विकास करना है, जिसके वे योग्य हैं। अरस्तू के अनुसार, शिक्षा का अर्थ है, ''मनुष्य की क्षमताओं, विशेषतया उसकी मानसिक शक्तियों का विकास करना, ताकि वह सर्वोच्च सत्य, सौंदर्य एवं श्रेष्ठता की अनुभूति का आनंद प्राप्त कर सके।'' समनर के अनुसार, ''शिक्षा शिशु में समूह के लोकाचारों को हस्तांतरित करने का प्रयत्न है, ताकि वह सीख सके कि ''क्या आचरण स्वीकृत है अथवा क्या वर्जित; उसे किस प्रकार विभिन्न परिस्थितियों में व्यवहार करना चाहिए, उसके विश्वास क्या होने चाहिए एवं क्या नहीं होने चाहिए।'' ब्राउन तथा रूसेक के अनुसार, ''शिक्षा अनुभव की वह संपूर्णता है जो किशोर और वयस्क दोनों की अभिवृत्तियों को प्रमाणि ात करती है तथा अनेक व्यवहारों का निर्धारण भी करती है।'' एंडरसन के अनुसार, ''शिक्षा एक सामाजिक प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति ऐसी बातें सीखता है जो उसे समाज के जीवन के प्रति स्वयं को समायोजित करने के योग्य बनाती हैं।'' दुर्खीम ने शिक्षा को 'किशोर पीढ़ी का समाजीकरण' बतलाया है। उसने लिखा है, ''यह वास्तव में शिशु के ऊपर सोचने, अनुभव करने, कार्य करने के ढंगों को आरोपित करने का निरंतर प्रयास है जिसे वह सहज रूप में नहीं सीख सकता था।''

अपने व्यापक अर्थ में शिक्षा को एक प्रक्रिया के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जिसके द्वारा किसी समूह की सामाजिक विरासत एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित की जाती है एवं शिशु सामाजिक व्यवहार के नियमों को सीखता है। यह वयस्क भूमिकाओं को बाद में अपनाने हेतु किशोर का सचेतन प्रशिक्षण है। यह समाजीकरण का समानार्थक है। यह भावी पीढ़ी के विकास को जीवन के सामाजिक आदर्शों के अनुरूप बनाता है। गाँधी जी के शब्दों में, ''शिक्षा से अभिप्राय है बालक अथवा मनुष्य में जो कुछ श्रेष्ठतम है, उसका संपूर्ण विकास करना, अर्थात् शरीर, बुद्धि तथा आत्मा तीनों का संपूर्ण विकास।''

'शिक्षा' शब्द का सीमित या विस्तृत दोनों अर्थों में इस्तेमाल किया जा सकता है। विस्तृत अर्थ में शिक्षा से तात्पर्य एक प्रक्रिया से है जो जीवन भर चलती रहती है और जो जीवन के किसी भी अनुभव से आगे बढ़ सकती है। इस अर्थ में शिक्षण-सामग्री जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में मिलती है। अनुभव की कोई भी चीज छोड़ी नहीं जा सकती। इस व्याख्या के अनुसार जीवन जीने का मतलब सीखना है। अगर हम अपने भूतकाल की खोजबीन करें तो पाते हैं कि जीवन का सबसे बड़ा अनुभव हमने अप्रत्याशित जगहों में से पाया है। तात्पर्य यह कि हमने ऐसी शिक्षा पाने के लिए कोई प्रयास नहीं किया है। ''यह जीवन की समस्याओं से, जिनसे हम जूझते हैं, प्रकृति के प्रभावों व सुझावों से, अपने लोगों से मिलने से और प्राय: अपनी असफलताओं और दु:खों से हमारे पास आती है।''

शिक्षा की यह अवधारणा मुख्यत: उस प्रक्रिया पर जोर देती है जिनसे व्यक्तित्व विकसित होता है और जिनसे हम मनुष्य और मनुष्य के बीच के संबंधों को तथा आदमी और ब्रह्मांड के संबंधों को पहचानते हैं।

संकीर्ण अर्थ में 'शिक्षा' का मतलब सचेतन रूप से निर्देशित क्रिया कलाप है जिससे हम अपनी शक्तियों को ''विकसित करते हैं।'' जो शिक्षा हम स्कूल और कालेज में पाते हैं वह इसके अंतर्गत आती है। शिक्षक अपने शिष्यों के समक्ष विचारों और बिंबों को रखता है ताकि एक खास

नोट

दिशा में उनका मानसिक और मनोवैज्ञानिक विकास हो। विद्यार्थी शिक्षण संस्थाओं में शिक्षा पाने के लिए प्रविष्ट होते हैं। प्रोफेसर डेवी ने अपनी पुस्तक 'डेमोक्रेसी एंड एजुकेशन' में 'अभिप्राय' का जिक्र इस अंतर को बताने के लिए किया है कि शिक्षा अचेतन रूप से आती है या इसका कोई निश्चित उद्देश्य होता है।

हम सामान्यत: शिक्षा शब्द का इस्तेमाल इसी संकीर्ण अर्थ में करते हैं। अभिप्राय यह है ''ये एक ऐसी प्रक्रिया है जो राज्य या परिवार या सत्ता के किसी अन्य रूप द्वारा सजगतापूर्वक नियोजित-निष्पादित होती है और इसका प्रयोजन युवजनों को महत्त्वपूर्ण समझे जानेवाले किसी लक्ष्य की ओर अग्रसर करना है। यह एक ऐसा लक्ष्य अथवा साध्य है जिसके अंतर्गत व्यक्तित्व के सामान्य विकास का तत्व शामिल हो सकता है और नहीं भी हो सकता है।''

पूर्वसाक्षर समाजों में शिक्षा प्राय: अनौपचारिक प्रकार की थी तथा वयस्क-संबंधी अनिवार्य समझे जाने वाले सामाजिक मूल्यों के हस्तांतरण में भाग लेते थे। पर्यवेक्षण एवं प्रत्यक्ष संपर्क द्वारा बालक लोकरीतियों एवं लोकाचारों के ज्ञान तथा व्यावहारिक प्रविधियों एवं कुशलताओं का प्रशिक्षण अर्जित कर लेता था। यद्यपि यह अधिकांशतया अनौपचारिक होती थी, तथापि यह औपचारिक तत्वों में पूर्णतया रहित नहीं थी। प्रशिक्षण के औपचारिक प्रकार में दीक्षा-संस्कार सम्मिलित थे। दीक्षा-संस्कार प्राय: विशुद्ध होते थे जिनमें शिक्षण, दिव्य परीक्षा एवं परीक्षण कार्य सम्मिलित होता था। मारगरेट मौड के अनुसार, कुछ आदिम समाजों, यथा माओरी में पुरोहितों के औपचारिक प्रशिक्षण-हेतु धार्मिक विद्यालय होते थे। उनमें शारीरिक दंड का नितांत अभाव था, तथापि अनुशासन अनुकरणीय होता था। वे आज्ञाकारी होते थे एवं बाह्य अनुशासन की कोई आवश्यकता नहीं थी। यद्यपि औपचारिक प्रकार की शिक्षा का प्रागैतिहासिक समाजों में पूर्णतया अभाव नहीं मिलता, तथापि आधुनिक शिक्षा-प्रण ाली की भाँति विशाल शिक्षण-कक्ष, विशाल अध्यापक-वर्ग, परीक्षा-प्रणाली, प्रमाण-पत्र आदि की व्यवस्था नहीं होती थी। आधुनिक औपचारिक शिक्षा के विपरीत, उस समय शिक्षा का अभिप्राय था कि एक संतति का भावी संतति के साथ संपर्क स्थापित रखा जाए। कृषक के बालक को जमींदार अथवा जमींदार के बालक को वकील नहीं बना दिया जाता था।

मध्य युग–सभ्य समाजों में ही शिक्षा ने संस्थायीकृत रूप धारण किया। औपचारिकता की मात्रा, विषय-वस्तु एवं उद्देश्य सभ्यता में प्रकार के अनुसार विभिन्न थे। यूनान में, पाठ्यक्रम साहित्य, संगीत एवं व्यायाम पर आधारित था जिसमें गणित एवं इतिहास के विषय को जोड़ दिए गए। रोम में व्याकरण, साहित्य एवं अलंकारशास्त्र का अध्ययन उच्च शिक्षा का अंग था। मध्य युग में सात उदार कलाओं-व्याकरण, अलंकारशास्त्र, शास्त्रीय विषय गणित, रेखागणित, संगीत एवं ज्योतिष की शिक्षा मठों, ईसाई आश्रमों एवं गिरजाघरों के स्कूलों में दी जाती थी। सोलहवीं शताब्दी में ईसाई समाज के सदस्यों ने पाठ्क्रमों में इतिहास, भूगोल, पुरातत्वशास्त्र, पुरावशेष विद्या को जोड़ दिया। दर्शनशास्त्र एवं धर्मशास्त्र उच्चतर अध्ययन की अंतिम अवस्था में सम्मिलित थे। भारत में विद्यार्थियों को जिन विषयों का प्रशिक्षण दिया जाता था, उनमें छांदोग्य उपनिषद् के अनुसार, साहित्य, इतिहास, दर्शनशास्त्र, धर्म, गणित एवं ज्योतिष के विषय सम्मिलित थे। तक्षशिला के विख्यात विश्वविद्यालय में विज्ञान, कला एवं तीनों वेदों तथा अठारह कलाओं की शिक्षा का संपूर्ण पाठ्यक्रम प्रचलित था।

पाठ्यक्रम का अंतर विभिन्न लोगों की सामान्य सांस्कृतिक समाकृति में विभिन्नताओं के कारण था। शिक्षा अति अल्पसंख्यक वर्ग तक सीमित थी। अधिकांश लोगों को शिक्षा प्राप्त करने का कोई अवसर प्राप्त नहीं था। विद्यालयों की स्थापना प्रमुखतया धार्मिक संप्रदायों द्वारा की जाती थी।

नोट

धर्म-निरपेक्ष, शिक्षा-विज्ञान, वाणिज्य एवं उद्योग के विकास एवं पुनर्जागरण तथा प्रोटेस्टैंट सुधार आंदोलन के साथ-साथ शिक्षा का लौकिकीकरण आरंभ हुआ। परंतु इस प्रकार की धर्म-निरपेक्ष शिक्षा को उन्नीसवीं शताब्दी में ही स्वीकार किया गया। धर्म-निरपेक्ष के साथ-साथ शिक्षा लोकप्रिय भी हुई। यह अब केवल कुछेक लोगों तक ही सीमित नहीं रही। उन्नीसवीं शताब्दी में शिक्षा के लौकिकीकरण एवं लोकप्रिय बनने के दो कारण थे–दृढ़ राष्ट्रीय राज्यों का विकास तथा प्रजातंत्र का प्रसार। प्रजातंत्र ने शिक्षा के उद्देश्यों को व्यापक बनाया। प्रजातंत्र के अस्तित्व के लिए सार्वलौकिक शिक्षा को अनिवार्य समझा गया। प्रजातंत्र का शिक्षा पर एक प्रभाव इसे जन-रूप प्रदान करना था। लोग जनशिक्षा के महत्त्व से परिचित हुए, जिसने बाद में अनिवार्य नि:शुल्क शिक्षा के विचार को जन्म दिया। शिक्षा-प्रणाली को बदलने में प्रजातंत्र की विशेष भूमिका रही है। इसके साथ ही प्रौद्योगिकी के विकास ने भी पाठ्यक्रम में अनेक परिवर्तनों को आवश्यक बना दिया। पूँजीवाद एवं इसकी प्रौद्योगिकी ने विविध प्रकार के कौशलों एवं अनुकूलनों की आवश्यकता को उत्पन्न किया जिसके लिए भूतकालीन व्यवस्था में कोई मार्गदर्शन उपलब्ध नहीं था। अब शिक्षा विशिष्ट प्रशिक्षण बन गई है जिसमें उदार शिक्षा के स्थान पर व्यावसायिक शिक्षा पर अधिक बल दिया जाता है। इसे विकासशील एवं परंपरा-ध्वंसक अर्थ-व्यवस्था की नई माँगों को पूरा करने के लिए अनुकूलित किया जा रहा है। हमारे विद्यालयों में व्यावसायिक शिक्षक होते हैं, उनमें काफी धन लगा हुआ है तथा विद्यार्थियों का विशाल समूह होता है। उनका उद्देश्य केवल वर्तमान ज्ञान को संचरित करना ही नहीं है, अपितु नए ज्ञान की खोज करना भी है।

शिक्षा का सामाजिक पक्ष

शिक्षा का प्राथमिक कार्य बच्चे को अपना व्यक्तित्व विकसित करने और अपने अंदर अच्छी आदतें डालने की ओर प्रवृत्त करना तथा उसे बड़े समुदाय के जीवन में प्रवेश दिलाना है। इसलिए प्रत्येक समाज में बच्चे को सबसे पहले यह सिखाया जाता है कि समाज में कौन-सी चीज सबसे सरल और सबसे अच्छी है। इस उद्देश्य को ध्यान में रखकर ही अरस्तू ने बच्चे की प्राथमिक शिक्षा में संगीत और परियों की कहानियों के इस्तेमाल पर जोर दिया। उनके अनुसार अच्छा संगीत दुनिया की अच्छाई को प्रतिबिंबित करता है। इसी से संगीत सुनने वाले को दुनिया के उद्देश्यों से जुड़ाव हो जाता है। सभी अच्छी कलाओं में संगीत सबसे प्रभावशाली साधन है जिसमें गुणों की साफ तस्वीर झलकती है। आधुनिक समय में किंडरगार्टन विद्यालयों एवं नर्सरी स्कूलों में संगीत शिक्षा के माध्यम के रूप में इस्तेमाल होता है। प्रारंभिक शिक्षा में दूसरे प्रभावशाली माध्यम प्रगीत, कविता और बच्चों की कहानियाँ हैं।'' ''सामाजिक दर्शन की रूपरेखा में जे.के. मैकरिज ने लिखा है कि कोई उत्कृष्ट विचार या गहरे अनुभव से भरी कोई कहानी या फिर किसी अमर मुहावरे में प्रयुक्त कोई बात आसानी से दिल में समा जाती है, देर तक याद रहती है, सदा के लिए खुशी के रूप में हृदय के किसी कोने में बैठ जाती है और पूरी जिंदगी भर एक प्रेरणास्रोत बनी रहती है।'' इस आलोक में संगीत, कविता और परियों की कहानियाँ कानून को लागू करने का आधार प्रदान करती हैं। कानून जनता की बेहतरीन परंपराओं को निश्चितता और स्थायित्व देता है परंतु इनकी क्षमता इस बात पर आधारित होती है कि किस हद तक जनता की परंपरा लोगों के दिलो-दिमाग में समाई हुई है।

बच्चों की प्रारंभिक शिक्षा का सबसे महत्त्वपूर्ण विषय उनके लोगों की भाषा है, ''जिनमें ज्ञान, अंतर्दृष्टि, उद्देश्य और आदर्श, अहंकार और सीमाएँ आदि सब कुछ निहित होती है।'' इसके साथ ही प्रकृति का अध्ययन भी महत्त्वपूर्ण है जो बच्चे का उसके पर्यावरण के साथ रिश्ते का अध्ययन

है। टैगोर ने ऐसी शिक्षा पर जोर दिया क्योंकि उनके अनुसार यह दिमाग खोलने का सबसे अच्छा और प्रभावशाली तरीका है। यह देखने से शुरू होता है, परंतु जल्दी ही मनन-चिंतन इसका है और अंततः यह मानव जीवन एक घटक हो जाता है।''

नोट

जब बच्चा काफी बड़ा हो जाता है, तब उसमें विवेचना-शक्ति आ जाती है। फिर वह व्याकरण, अंकगणित, रेखागणित और नैतिकता की साधारण धारणाओं और धर्म की मान्यताओं संबंधी अंतर्दृष्टि, जिनके जरिए आदमी ब्रह्मांड तथा इससे अपने संबंध की व्याख्या करता है और इससे संबंधित जीवन-मरण के अंतिम प्रश्नों को सीखने के लिए अभिप्रेरित हो जाता है।

इसलिए विद्यालय का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य नई पीढ़ी को सामाजिक बनाना, उन्हें मूल्यों और आदर्शों से लैस करना तथा समुदाय की परंपराओं से अवगत कराना है। परंतु समाजीकरण की यह प्रक्रिया एक समान 'पैटर्न' पर नहीं चलती। यह विभिन्न समाजों में विभिन्न रूप अख्तियार करती है। इस प्रकार प्राचीन भारत में औपचारिक शिक्षा ब्राह्मणों द्वारा दी जाती थी। ''वे ज्ञान के भंडार और हिंदू जीवन के निर्देशक थे।'' प्राचीन भारतीय परंपराओं के अनुसार एक बच्चा पाँच वर्ष की आयु में वर्णमाला सीखने से अपनी पढ़ाई शुरू करता था। शिक्षा पद्धति का जोर जीवन पर ज्यादा और शिक्षण पर कम था। इस प्रारंभिक शुरूआत के बाद विद्यार्थी को शारीरिक और आध्यात्मिक अनुशासन से गुजरना होता था। टोल, विद्यालय और चतुस्पथी आगे आने वाली पीढ़ियों को धार्मिक व सांस्कृतिक परंपराओं की शिक्षा देने के लिए एजेंसी के रूप में काम करते थे। सभी समाजों में बच्चे की प्रारंभिक शिक्षा की समान व्यवस्था थी। भिन्नता इतनी ही थी कि पश्चिमी, इस्लामी समाजों या चीन की अपेक्षा भारत में धार्मिक शिक्षा ज्यादा प्रभावशाली थी। यद्यपि साधारण समाजों में शिक्षा अलग क्रियाकलाप के रूप में संगठित नहीं थी। यह परिवार और दूसरे प्राथमिक समूहों द्वारा प्रदान की जाती थी या फिर पूरे समाज द्वारा ''जीवन के प्रत्येक दिन की चर्या'' में भाग लेने से मिलती थी।

शिक्षा बच्चे को अच्छे नागरिक का दायित्व सिखाती है। जो लोक शैक्षिक और मानसिक रूप से बुनियादी शिक्षा से आगे ज्ञान में वृद्धि के लिए यानी ज्ञान को सही समस्याओं में प्रयुक्त करने के लिए, जैसे कानून, दवाई, अभियांत्रिकी आदि की दृष्टि से पढ़ना चाहते हैं उन्हें यह सब कुछ कॉलेजों व विश्वविद्यालयों में मिलेंगे। महाविद्यालय विद्यार्थी को देने के लिए प्रस्तुत रहता है और उनके आगे बढ़ने का रास्ता प्रशस्त करता है। कालेज का मुख्य काम उच्च प्रकार की उदार शिक्षा देना है जो स्कूल से नहीं मिलती। यद्यपि कालेज की पढ़ाई स्कूल की पढ़ाई से ज्यादा विशिष्ट होती है, परंतु फिर भी ये अध्ययन सामान्य ज्ञान बढ़ाने को ज्यादा प्रवृत्त हैं न कि ज्ञान और कुशलता बढ़ाने के लिए। दूसरी तरफ विश्वविद्यालय में अध्ययन निस्संदेह विशिष्ट होता है और इस रूप में होता है कि विद्यार्थी उन विषयों का विशेष अध्ययन करें जिनके प्रति उसकी रुचि दिखाई दे। विश्वविद्यालय विशेष विभागों में शोध को भी प्रोत्साहित करता है। कालेजों और विश्वविद्यालयों के अलावा तकनीकी संस्थान हैं, जो ज्यादा तकनीकी ढंग का प्रशिक्षण देते हैं, और एक विद्यार्थि को विशिष्ट शिक्षा देते हैं जिसके लिए वह प्रकृति और अपनी योग्यता के लिहाज से उपयुक्त है।

प्राचीन समाज में, जब आधुनिक विज्ञान का उदय नहीं हुआ था, तकनीकी शिक्षा प्रायः परिवार और पेशेवर समूहों द्वारा अनौपचारिक तथा प्रायोगिक ढंग से दी जाती थी। उस समय आज की तरह शिक्षा देने के लिए विशेष संस्थान नहीं थे। उदाहरण के लिए बढ़ई या लुहार के घर में जन्मा एक बच्चा अपने पेशे की योग्यता अपने परिवार के सदस्यों से अनौपचारिक रूप से सीखता था। खासकर ग्रामीण भारत में आज भी तकनीकी शिक्षा का यही हाल है।

पूरे समाज के लिए शिक्षा के प्रकार्य

नोट

एमिल दुर्खीम के अनुसार शिक्षा का सबसे प्रमुख प्रकार्य समाज के नियमों व मूल्यों को परिवर्तित करना है। ''समाज केवल तभी जिंदा रह सकता है अगर इसके सदस्यों के बीच पर्याप्त मात्रा में एकता हो। शिक्षा इस एकता को पैदा करती है और फिर इसे स्थापित करती है। यह बच्चों में शुरू से आवश्यक समानताएँ तय करती है जो सामूहिक जीवन की माँग है।'' हर समाज की प्रमुख जिम्मेदारी है कि सभी व्यक्तियों को सामूहिक रूप से एकताबद्ध करें। व्यक्तियों में समाज के प्रति अपनत्व की भावना होनी चाहिए। दुर्खीम कहते हैं कि शिक्षा व्यक्ति और समाज को मूल्यों और आदर्शों, समुदाय की परंपरा एवं चिंतन के बारे में बताकर उन्हें सिद्धांत से लैस करती है और व्यक्ति तथा समाज के बीच आवश्यक एकता प्रदान करती है।

दूसरे, दूर्खीम तर्क देते हैं कि विद्यालयों द्वारा जो औपचारिक शिक्षा दी जाती है वह परिवार या किसी सम्मानित समूह द्वारा नहीं दी जा सकती। परिवार वंशगत लोगों का समूह है, जो आपस में खून के रिश्ते से बँधे होते हैं। परिवारिक रिश्ते इसीलिए प्रेम और आत्मीयता, भावनाओं और अनुसूचियों के रंग होते हैं। एक व्यक्ति वस्तुओं की प्रकृति के अनुसार अपने परिवार से आगे नहीं देखता और बड़े समाज में रहते हुए इसके आश्वासनों और इसकी समस्याओं से अवगत होता है। अच्छे भले लोग अपनी पसंद के होते हैं। स्वभावत: सम्मानित समूह की सदस्यता किसी व्यक्ति को बड़े समाज के लिए तैयार नहीं करती। दूसरी तरफ विद्यालय व्यवस्था कठोर व्यवस्था है जिसमें एक विद्यार्थी अपने स्कूल के दूसरे विद्यार्थियों के साथ कुछ निश्चित नियमों के अनुसार मिलते-जुलते हैं। दुर्खीम के शब्दों में–''विद्यालय के नियमों का सम्मान करने से ही बच्चा सामान्य नियमों का सम्मान करना सीखता है। वह आत्म नियंत्रण और आत्मसंयम की आदत विकसित करता है। कर्तव्य-पालन के लिए यह पहल है जो यह जताता है कि गंभीर जीवन अब शुरू हो गया है।'' टालकोट पार्सन्स के शब्दों में–एक परिवार या सम्मानित समूह विशेषीकृत नियमों को मानते हैं जबकि विद्यालय विश्वव्यापी नियमों का अनुपालन करते हैं। इस प्रकार विद्यालय को उनकी प्रौढ़ भूमिका के लिए तैयार करता है।

तीसरे, दुर्खीम तर्क देते हैं कि औपचारिक शिक्षा संस्थाएँ सामान्य मूल्यों को सिखाने के अलावा जो सामाजिक उत्तरजीविता के लिए आवश्यक एकरूपता विशिष्ट कौशलों का प्रसार भी करती है जो 'सामाजिक सहयोग के लिए आवश्यक विविधता' प्रदान करते हैं। पूर्व औद्योगिक समाजों में तकनीकी कुशलता मुख्य रूप से परिवार और पेशेवर समूह द्वारा अनौपचारिक और व्यावहारिक रूप से सिखाई जाती थी। इस प्रकार एक बच्चा, जो बढ़ई के घर पैदा होता था, अपने परिवार के सदस्यों द्वारा अनौपचारिक रूप से प्रशिक्षित किया जाता था। औद्योगिक समाज बहुत ही विशिष्ट और जटिल हो गया है, जो उच्च कोटि की कुशलता की माँग करता है। श्रम का जटिल विभाजन, जो औद्योगिक समाज की एक पारिभाषिक विशेषता है, सामाजिक एकात्मता को निरंतर मजबूत करने की प्रवृत्ति जताता है। इसे वह सावयवी एकता कहते हैं। औद्योगिक समाज इस प्रकार मूल्य सहमति और श्रम विभाजन के विशेषीकरण के आधार पर संसक्तता व एकीभवन हासिल करता है। यह आपसी निर्भरता को जीवन की एक शर्त मानता है।

चौथे, शिक्षा का उद्देश्य, जैसा कि दुर्खीम कहते हैं, ''बच्चों में उन शारीरिक, बौद्धिक और नैतिक स्तरों को जागृत करना है जो उसकी तकदीर के अनुसार विकास के लिए विशेष रूप से जरूरी हैं।'' दुर्खीम के इस कथन को व्यापक बनाने के लिए बॉटमोर कहते हैं–''शिक्षा का कार्य बच्चे को विशेष गुणों के आधार पर विशेष रूप से शिक्षित करना है। इसका परंपरागत अर्थ

नोट

है–सामाजिक संस्तरण में उसे विशेष समूह की सदस्यता के लिए तैयार करना।'' लगभग सभी समाजों में सामाजिक विभाजन का अस्तित्व है। जहाँ कहीं भी सामाजिक वर्गीकरण की व्यवस्था है वहाँ शिक्षा पद्धति में भी उसी प्रकार को भिन्नता है। वर्ग विभाजन शिक्षा पद्धति में प्रतिबिंबित होता है सच तो यह है कि शिक्षा वर्गीय विशेषाधिकारों और स्वार्थों को बनाए रखने के लिए अभिकर्ता के रूप में इस्तेमाल होती है। इससे वर्ग-भेद बने रहते हैं। इस प्रकार प्राचीन भारत में उच्च जातियों के बच्चों की शिक्षा, बहुसंख्यक बच्चों की शिक्षा से काफी भिन्न थी। पहले वर्ग की शिक्षा पुश्तैनी पंडितों द्वारा होती थी, जिसमें बहुत हद तक धर्मनिरपेक्ष मूल्य उपस्थित होते थे और यह मुख्य रूप से धार्मिक तथा वैदिक पुस्तकों के अध्ययन से संबंधित थी। भारत में अंग्रेजी राज्य की स्थापना के साथ पुरानी शिक्षा-व्यवस्था का पतन हो गया। परंतु अंग्रेजी शिक्षा को लागू करने के निर्णय ने अंग्रेजी शिक्षा पाने वालों को पूरे समाज से अलग कर दिया। भारत की आजादी के छह दशकों के बाद भी विभिन्न सामाजिक समूहों के लिए विभिन्न प्रकार के स्कूलों के कारण वर्ग-विभाजन है। इस प्रकार के शैक्षिक भेद सभी आधुनिक समाजों में हैं चाहे वे अत्याधुनिक सिद्धांतों के प्रति कितने भी प्रतिबद्ध क्यों न हों।

पाँचवीं शिक्षा का महत्त्व सामाजिक नियंत्रण की एक एजेंसी के रूप में है इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता। दुर्खीम के अनुसार इसका उद्देश्य बुजुर्ग पीढ़ी द्वारा समाज के मानदंडों व मूल्यों का उन लोगों के बीच स्थानांतरण करना है जो सामाजिक जीवन के लिए तैयार नहीं है। एक बार अगर कोई बच्चा बौद्धिक विवृत्ति या अंतर्दृष्टि पा लेता है तो उसके क्रियाकलाप और आचार-व्यवहार भी बौद्धिक हो जाते हैं। सामाजिक नियमों और मूल्यों के प्रति एकरूपता आसान और स्वत:स्फूर्त हो जाती है। एक तरफ समाज और दूसरी तरफ व्यक्ति के बीच दृढ़ता स्थापित हो जाती है। इस संदर्भ में देखने पर शिक्षा सामाजिक नियंत्रण का बहुत ही प्रभावशाली और शक्तिशाली एजेंसी लगती है। समाजिक नियमन लागू करने का प्रश्न तभी उठता है जब लोक सामाजिक रूप से विपथगाामी हों या मानदंडों से विचलन लागू करने का प्रश्न तभी उठता है जब लोग सामाजिक रूप से विपथगामी हों या मानदंडों से विलिन की प्रवृत्ति रखते हों। सामाजिक निषेधों को लागू करना उस हाल में अनावश्यक है जब शिक्षण एजेंसियाँ प्रभावशाली ढंग से सामाजिक नियमों और मूल्यों को व्यक्तियों में जीवन के सीखने वाले समय में स्थानांतरित करें।

आधुनिक समय में कुछेक शर्तों की वजह से शिक्षा सामाजिक नियंत्रण के साधन के रूप में कम प्रभावशाली हो गई है। उदाहरण के लिए, प्रारंभिक समाज में साक्षरता का इतना महत्त्व था कि यह शक्ति और सम्मान का आधार थी। शिक्षक भी प्रतिष्ठा और सम्मान से स्वाभाविक रूप से खुश थे। इसलिए शिक्षकों के लिए सामाजिक परंपराओं और मूल्यों के अनुसार बच्चों के आचरण को ढालने और पढ़ाने में कठिनाई नहीं थी। औद्योगीकृत व्यवस्था की स्थापना के साथ मूल्यों के प्रतिमान बदल गए हैं। शिक्षा नहीं बल्कि धन आधुनिक औद्योगिक समाज में सम्मान का आधार हो गया है। इसने शिक्षकों के सम्मान को कुछ हद तक कम कर दिया है। इसके अलावा, आधुनिक दुनिया में जन-साक्षरता के प्रचार के कारण शिक्षकों के सम्मान में ह्रास हुआ है क्योंकि ''अब वह शिक्षित व्यक्ति के रूप में अलगाया नहीं जाता।'' इसी उद्देश्य को पूरा करने वाला एक और तथ्य है। आजकल शिक्षकों द्वारा सिखाए जाने वाले मूल्य अधिकारिक नहीं हैं। उनका परिवार, धार्मिक समूह और संचार माध्यमों द्वारा प्रचारित मूल्यवोध से प्रतिस्पर्धा करनी होती है। इस प्रकार आधुनिक समाज में विभिन्न प्रकार के आचरण और विभिन्न एजेंसियों के सामाजिक नियंत्रण के बीच झगड़े की संभावना बढ़ जाती है। उदाहरण के लिए भारत धर्म-निरपेक्षता के आदर्शों का पालन करता है।

इसलिए भारतीय विद्यालय कोई धार्मिक शिक्षा नहीं देते। इस परिस्थिति में एक लड़का या लड़की जो बहुत ही अनुदार परिवार से आता/आती हैं, जिसकी अपनी धार्मिक परंपरा है, राज्य शिक्षा के धर्म-निरपेक्ष चरित्र और परिवार के धार्मिक मूल्यों के अंतर्विरोध के द्वन्द्व में पड़ जाती है।

नोट

शिक्षा एवं समानता

इस युग में जब हम प्रजातंत्र के नाम पर कसमें खाते हैं, सबको एक समान शिक्षा देने का आदर्श प्रजातांत्रिक प्रक्रिया के एक घटक के रूप में स्वीकारा जाता है। सभी समाजों में शिक्षा की असमानता को धीरे-धीरे कम किया जा रहा है। लेकिन अनुभव बताता है कि फल की समानता शिक्षण संबंधी अवसर की समानता से तालमेल स्थापित नहीं कर पायी है। जनसंख्या के एक हिस्से की सांस्कृतिक वंचना या विहीनता समान फल की प्राप्ति के रास्ते में अनेक बाधाओं में से एक है। हम भारत के पिछड़े वर्ग, अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति के बच्चों के बारे में विचार करें। इस प्रकार के और भी बहुत सारे समूह हो सकते हैं, जिन्हें इस वर्ग में रखा जा सकता है। सांस्कृतिक रूप से वंचित छात्र की विशेषता यह है कि उसका परिवेश आर्थिक अर्थ में गरीबी से युक्त होता है और साथ ही सांस्कृतिक अर्थ में भी निर्धन होता है। ''वह अपनी माँ की परंपरागत लोरी सुने बिना, नर्सरी प्रगीतों के ज्ञान के बिना, और अपने देश की लोक गाथाओं के ज्ञान के बिना स्कूल में पहुँचा हो सकता है।'' दूसरे शब्दों में सांस्कृतिक रूप से वंचित एक बच्चा बौद्धिक स्रोतों के खुलेपन से प्रफुल्लित होकर अपने घर और परिवेश से स्कूल नहीं आता जिसे वह ठीक ढंग से जवाब दे सके।

सांस्कृतिक रूप से वंचित बच्चों के मामले शिक्षा में समानता के जनवादी आदर्श के समक्ष समस्या उत्पन्न करते हैं। शैक्षिक समानता के आदर्श के लिए अंतर्निहित सिद्धांत यह है कि सभी विद्यार्थियों को समान शिक्षा के अवसर देने से प्रत्येक विद्यार्थी को अपनी योग्यता का उपयोग करने का पूरा अवसर मिलेगा। परंतु यह क्रमशः स्पष्ट हो गया है कि ''एक समान राज्य शिक्षा व्यवस्था प्रत्येक को समान अवसर नहीं देगी, क्योंकि बहुत सारे लोग इस व्यवस्था के गले में सांस्कृतिक विहीनता की चक्की लटका कर यात्रा करेंगे।''

इस समझदारी ने शैक्षिक समानता के अवसर के सिद्धांत को बदल दिया है। पहले यह समझा जाता था कि शिक्षा की समानता की जरूरत को तब हम पूरा कर लेते हैं जब शिक्षा के क्षेत्र में प्रवेश सबके लिए समान ढंग से सुलभ हो जाती है। अब यह तर्क दिया जाता है कि शैक्षिक समानता के अवसर तभी रह सकते हैं जब सभी सामाजिक समूहों द्वारा ग्रहण करने का स्तर समान होता है। तात्पर्य यह है कि अब सब कुछ अवसर की समानता से हटकर परीक्षाफल की समानता पर आ गया है।

अगला सवाल है कि परीक्षाफल की समानता को निश्चित कैसे किया जाए? यह सुझाव दिया गया है कि आर्थिक और सांस्कृतिक रूप से पिछड़ों को कुछ क्षतिपूर्ति दी जाए। यह माना जाता है कि इस प्रकार क्षतिपूर्ति के उपाय सांस्कृतिक रूप से वंचितों को मुक्त रूप से सभी सुलभ अवसरों से लाभ उठाने का मौका देंगे अर्थात् जो लोग पिछड़ रहे हैं उनको सहायता देंगे जिससे वे लोग जो उतने अभाव में नहीं हैं उनकी प्रतिस्पर्धा समान रूप से कर सकें। सांस्कृतिक रूप से वंचित बच्चों के विरुद्ध भेदभाव बरतने के सिद्धांत के पीछे यही विचारधारा काम कर रही है। इसका मतलब यह है कि सांस्कृतिक रूप से वंचित बच्चों के लिए अतिरिक्त शैक्षिक व्यवस्था होनी चाहिए।

पूरक शिक्षा कार्यक्रम राष्ट्रपति जॉनसन के गरीबी के खिलाफ युद्ध के हिस्से के रूप में अमेरिका में बहुत जोर-शोर से चलाया गया। अरबों डॉलर ''ऑपरेशन हेड स्टार्ट'' में झोंक दिए गए।

नोट

संपूर्ण देश के निम्न आय वाले क्षेत्रों में विद्यालय पूर्व के शिक्षण कार्यक्रम बड़े पैमाने पर चलाए गए। इस कार्यक्रम का उद्देश्य सांस्कृतिक रूप से वंचित बच्चों को शैक्षिक वातावरण प्रदान करना और उन्हें शिक्षा की समानता के अवसरों का पूरा लाभ उठाने के लिए प्रेरित करना था। यह रिपोर्ट आई कि परिणाम उत्साहजनक नहीं रहा। इंग्लैंड में कुछ चुनिंदा इलाकों में जिन्हें शैक्षिक प्राथमिक क्षेत्र कहते हैं, पूरक शिक्षा 1960 के अंत में शुरू हुई। पूरक शिक्षा के कार्यक्रम इन इलाकों में लागू किये गए हरालांबोस कहते हैं–''परिणामों का मूल्यांकन यद्यपि कठिन है, फिर भी प्राथमिकता वाले क्षेत्रों से रपट निराशाजनक है।'' अमेरिका और इंग्लैंड में पूरक शिक्षा कार्यक्रम की असफलता के कारण हैं? यह संदेहास्पद है कि भारत में भी रक्षात्मक भेदभाव उपाय ने प्रत्याशित परिणाम दिए हैं। इसे कैसे समझा जाए?

यह तर्क दिया जाता है कि शैक्षिक संस्थानों में बच्चों पर सिर्फ ध्यान देने के बजाय परिवेश को सुधारने की दिशा में प्रयास होना चाहिए जिससे संपूर्ण समुदाय और परिवार गहरे रूप से प्रभावित हों। ''आप विद्यालय में कितना काम करते हैं यह महत्त्वपूर्ण नहीं है। सच तो यह है कि घर की अनौपचारिक सहायता के बगैर आप कोई भी प्रभाव नहीं डाल सकते।'' यह सुझाव दिया गया कि एक सामुदायिक विद्यालय, जो स्कूल और समुदाय से जुड़ा हो स्थापित किया जाए। आगे यह सुझाव दिया गया कि माता-पिता को बच्चों की मदद करने के लिए शिक्षित किया जाए। इस संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि राष्ट्रीय साक्षरता कार्यक्रम जो भारत सरकार द्वारा 1978 से चलाया जा रहा है, का उद्देश्य समुदाय के 15 से 35 वर्ष की आयु के प्रौढ़ लोगों को शिक्षित करना है, जिससे वे नौजवानों को उपलब्ध शिक्षा के अवसरों का सबसे अच्छा इस्तेमाल करने के लिए उत्प्रेरक सिद्ध हो सकें।

यद्यपि पूरक शिक्षा के विचार के अनेक समर्थक हैं, पर इसे आलोचक भी हैं जो इस विचार और इसके सैद्धांतिक आधार की आलोचना करते हैं। आलोचक तर्क देते हैं कि सांस्कृतिक वंचना का सिद्धांत दिखाबा है जो शैक्षिक वंचना को छिपाने के लिए प्रयुक्त होता है। यह कहा जाता है कि समस्या सामाजिक और आर्थिक है और इसे इसी रूप में हल किया जा सकता है। पूरक शिक्षा इस मूल समस्या का कोई समाधान प्रस्तुत नहीं करता। आलोचक यहाँ तक कहते हैं कि–''पूरक शिक्षा एक सच्ची व्यावहारिक नीति से विचलन है'' और यह कभी भी सफल नहीं हो सकती जब तक कि सामाजिक असमानता और आर्थिक वंचना या विहीनता व्याप्त रहती है। दूसरे शब्दों में छोटे-मोटे उपागम को संपूर्ण उपागम में बदलकर इसे सामाजिक जीवन के भिन्न-भिन्न पहलुओं को समेटने वाला बनाना चाहिए।

शिक्षा के उद्देश्य

शिक्षा का अपार सामाजिक महत्त्व है। प्रारंभिकतम काल से दार्शनिकों ने इसके स्वरूप एवं उद्देश्यों को परिभाषित करने में पर्याप्त सोच-विचार किया है। आधुनिक समय में भी विख्यात शिक्षाशास्त्रियों एवं शिक्षकों ने शिक्षा को अपनी कृतियों में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है।

सत्रहवीं शताब्दी के चेकस्लोवाकिया के शिक्षा-विशारद जोहान आमोस कामनियस को आधुनिक समय का प्रथम महान शिक्षाशास्त्री समझा जाता है। उसने तर्क विद्या एवं शास्त्रीय विधाओं पर प्रचलित बल की आलोचना की और इस बात पर बल दिया कि शिक्षा की विधि बालक के मानसिक विकास के अनुरूप तथा विषय-वस्तु उसकी रुचि के अनुसार होनी चाहिए। अंग्रेज दार्शनिक, जान लाक ने लिखा है कि 'शिक्षा का प्रयोजन मानसिक अनुशासन का विकास करना' होना चाहिए तथा

नोट

'यह धार्मिक न होकर धर्म-निरपेक्ष हो।' रूसो के अनुसार, शिक्षा का उद्देश्य बालक की प्राकृतिक प्रवृत्तियों को उसे उचित रूप से प्रशिक्षित करने हेतु बुद्धिमत्तापूर्वक निर्देशित करना है। रूसी ने जन-शिक्षा का भी समर्थन किया। फ्रोबेल जो किंडरगार्टन प्रणाली का प्रवर्तक था, का विश्वास था कि शिक्षा का उद्देश्य 'पूर्णजीवन' है। पेस्टालोजी के अनुसार, शिक्षा का उद्देश्य सभी क्षमताओं को संतुलित विकास करना होना चाहिए। इसका अंतिम उद्देश्य जनता की दशा में उन्नति करना है। जान डीवी जो प्रगतिशील शिक्षा के आंदोलन का पिता था, का विचार था कि शिक्षा जीवन की तैयारी नहीं, अपितु जीवन का जीना है। आगस्ट काम्टे, समाजशास्त्र के पिता, का विचार है कि शिक्षा का उद्देश्य अपने साथियों के प्रति सद्भावना एवं सहानुभूति उत्पन्न करना होना चाहिए। हर्बर्ट स्पेंसर का विचार था कि शिक्षा का उद्देश्य व्यक्तियों को समाज में समुचित जीवन के लिए तैयार करना था। समनर का विचार था कि शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति में सुविकसित समालोचनात्मक क्षमता का विकास करना है जो उसे केवल सुझाव अथवा भावना के आधार पर कार्य करने एवं परंपरागत रीतियों का अंधानुकरण करने से रोकेगी तथा उसे तर्क एवं विवेक से निर्णय लेने के योग्य बनाएगी। परंतु वह शिक्षा को रामबाण औषधि नहीं समझता था। गिडिंब्स का विचार था कि शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति में ''आत्म-विश्वास एवं आत्म-नियंत्रण उत्पन्न करना, उन्हें अंधविश्वासों एवं अज्ञानता से छुटकारा दिलाना, उनमें ज्ञान प्रदान करना, उन्हें वास्तविकतापूर्वक विचारने के योग्य बनाना तथा प्रबुद्ध नागरिक बनने में सहायता करना'' होना चाहिए। दुर्खीम के अनुसार, शिक्षा का उद्देश्य किशोर पीढ़ी का समाजीकरण है।

इस प्रकार लेखकों ने शिक्षा के उद्देश्यों का उल्लेख विभिन्न प्रकार से किया है। आर्नाल्ड के अनुसार, हम इन उद्देश्यों को निम्नलिखित ढंग से वर्णित कर सकते हैं–

(1) **समाजीकरण-प्रक्रिया की पूर्ति करना–**शिक्षा का सर्वप्रमुख एवं प्रथम उद्देश्य समाजीकरण-प्रक्रिया की पूर्ति करना है। यद्यपि परिवार समाजीकरण का महान स्रोत है, तथापि आधुनिक युग में यह इस कर्तव्य को भली प्रकार नहीं निभा पा रहा है। परिवार बच्चों में उत्तरदायित्व की भावना का विकास करने में असफल रहा है। इसका कारण एक समाजशास्त्री ने निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किया है–

''इस स्थिति का आंशिक कारण यह है कि हम नगरीय जीवन की ओर झुक गए हैं जिसे समाजशास्त्री समाज का गौण समूह-संगठन कहते हैं, अर्थात् ऐसा समाज जो घर एवं उद्यान के लोप, व्यावसायिक विशिष्टता के प्रभुत्व, मित्रों, धार्मिक जीवन एवं विनोद के प्रकारों के चयन में व्यक्तिवादिता; सामान्य प्रकार के औपचारिक संबंध अवैयक्तिक प्रकार के सामाजिक संपर्क से चिह्नित है। नगरों का जीवन, कुछ शताब्दियों पूर्व के ग्रामीण जीवन की तुलना में कृत्रिम-सा लगता है।''

विद्यालय ने रिक्त स्थान में प्रवेश किया है। अब यह अनुभव किया जाता है कि यह विद्यालय का दायित्व है कि वह बालक में ईमानदारी, न्याय, सहानुभूति, सही एवं गलत की भावना के विचारों का विकास करे। माता-पिता जिनका अपने किशोर बालकों पर नियंत्रण समाप्त हो गया है, अब विद्यालय से अपेक्षा करते हैं कि वह शिष्टाचार एवं नैतिकता को सिखलाने में परिवार की अपूर्णताओं को पूरा करे। अब विद्यालय पर समाजीकरण करने के लिए जो किसी समय परिवार का कार्य था, अत्यधिक दबाव डाला जा रहा है। नवयुवक के समाजीकरण के अतिरिक्त, विद्यालय सहयोग, श्रेष्ठ नागरिकता एवं कर्तव्य-पालन के

नोट

विषयों पर भी पर्याप्त समय एवं शक्ति लगाता है। विद्यार्थियों में देश-भक्ति के गुणों का विकास किया जाता है।

(2) **सांस्कृतिक विरासत का संचरण**–द्वितीय, शिक्षा का उद्देश्य सांस्कृतिक विरासत का संचरण करना है। सांस्कृतिक विरासत से अभिप्राय है भूतकाल, इसकी कलाओं, इसके साहित्य, दर्शन, धर्म एवं संगीत का ज्ञान। इतिहास की पाठ्य पुस्तकों एवं देश-भक्ति से संबंधित समारोहों द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से बालक को उसकी सांस्कृतिक बपौती से परिचित कराया जाता है। परंतु इस उद्देश्य की प्राप्ति के प्रयत्न शिक्षा के उच्चतर स्तरों पर ही होते हैं।

(3) **मनोवृत्तियों का सुधार**–तृतीय, शिक्षा का उद्देश्य यह भी है कि वह बालक में पूर्वनिर्मित गलत प्रवृत्तियों का सुधार करे। परिवार में बालक अनेक प्रकार की मनोवृत्तियों, विश्वासों, भक्तियों एवं पूर्वाग्रहों को ग्रहण कर लेता है। इन विश्वासों एवं पूर्वाग्रहों को सुधारना शिक्षा का कार्य है। यद्यपि विद्यालय इस दिशा में अधिक नहीं कर सकता, क्योंकि विद्यालय में बालक की उपस्थिति अनियमित होती है, तथापि उसकी मनोवृत्ति के सुधार की ओर विद्यालय को सतत् प्रयत्न करते रहना चाहिए।

(4) **व्यवसायिक स्थापन**–शिक्षा का उपयोगितावादी उद्देश्य भी है। इस नवयुवक को जीवन-यापन अर्जित करने योग्य बनाना चाहिए। शिक्षा उसे कोई उत्पादक कार्य करने के समर्थ बनाए जिससे वह स्वयं तथा अपने परिवार के लिए पर्याप्त धन अर्जित कर सके। युवक को समाज में उत्पादनात्मक भूमिका निभाने योग्य हो जाना चाहिए।

(5) **प्रतियोगिता की भावना उत्पन्न करना**–विद्यालय का प्रमुख बल वैयक्तिक प्रतियोगिता पर होता है। प्रत्येक विषय के अध्ययन में बालक की उसमें सहपाठियों के साथ प्राप्तांकों के आधार पर तुलना की जाती है। शिक्षक अच्छे विद्यार्थियों की प्रशंसा तथा हीन विद्यार्थियों की निंदा करता है। विद्यालय न केवल अपने सभी विद्यार्थियों को उनकी उपलब्धियों के अनुसार श्रेणीबद्ध करता है, अपितु बुद्धि एवं अध्यवसाय के आधार पर विद्यार्थियों की छँटनी भी, कुछ को उत्तीर्ण करके तथा अन्य को अनुत्तीर्ण करके, अलग कर देता है।

संभवत: शिक्षा के उद्देश्यों का सर्वोत्तम विवरण कार्डीनल न्यूमैन ने दिया है। यूनिवर्सिटी शिक्षा के बारे में उन्होंने कहा है–

'यूनिवर्सिटी शिक्षा एक महान परंतु साधारण लक्ष्य की प्राप्ति का एक महान परंतु साधारण साधन है। इसका उद्देश्य है समाज के बौद्धिक स्तर को उन्नत करना, लोकचेतना की सृष्टि करना, राष्ट्रीय अभिरुचियों को परिष्कृत करना लोक-उत्साह के लिए सही सिद्धांतों एवं लोक-आकांक्षाओं के लिए निश्चित लक्ष्य प्रस्तुत करना, युगीन विचारों को औदार्य एवं गांभीर्य प्रदान करना, राजनीतिक शक्ति को सुलभ बनाना तथा व्यक्तिगत जीवन के समागम को सुसंस्कृत करना।''

भारत में यूनिवर्सिटी के बारे में **राधाकृष्णन् रिपोर्ट** में लिखित विचार इस प्रकार हैं–

''सभी शिक्षा का उद्देश्य, जिसे पूर्व एवं पश्चिम के विचारकों ने स्वीकार किया है, विश्व का समन्वित चित्र एवं जीवन की समेकित शैली का उपबंध करना है।''

वास्तव में, यदि शिक्षा इस उद्देश्य की सिद्धि कर ले तो शैक्षिक संस्थाओं का कोई भी विद्यार्थी जीवन में अपनी भूमिका को अच्छी प्रकार निभा सकेगा तथा श्रेष्ठ संसार के निर्माण में भी सहायता दे सकेगा।

शिक्षा को चुनौतियाँ

हमारी सभ्यता के संदर्भ में शिक्षा के सामने अनेक चुनौतियाँ हैं–

(1) प्रथमतया, इसके सम्मुख पाठ्यक्रम तथा इसके क्रियान्वयन की समस्या है कि स्कूल एवं महाविद्यालय के स्तर पर क्या विषय पढ़ाये जाने चाहिए? विद्यार्थी को कितने और कौन से विषय लेने होंगे? प्रत्येक विषय की क्या विषय-सूची होगी? हम विश्वविद्यालयों एवं बोर्डों को प्रायः पाठ्यक्रम बदलते हुए देखते हैं जिसने शिक्षा के क्षेत्र में भ्रांति उत्पन्न कर दी है।

(2) द्वितीय शिक्षा का उद्देश्य क्या होना चाहिए? जैसा कि स्पष्ट है कि शिक्षा के उद्देश्यों को विभिन्न प्रकार से वर्णित किया गया है। वर्तमान शिक्षा विद्यार्थी की केवल स्मरण-शक्ति को तेज करती है। यह उसकी शारीरिक एवं आध्यात्मिक क्षमताओं का विकास नहीं करती। शिक्षा तभी अर्थपूर्ण होगी जब यह शरीर, मन एवं हृदय का सर्वांगीण विकास करे।

(3) तृतीय, शिक्षा-विशारदों को निम्नलिखित विवादों का भी समाधान खोजना होगा–

(i) औपचारिक शिक्षा सामाजिक शिक्षा आंदोलन के नेतृत्व का किस सीमा तक अनुसरण करेगी जिसके अंतर्गत आदर्श नियमों का सिद्धांत-बोधन एवं प्रचार के माध्यम द्वारा सिखाने का प्रयत्न किया जाता है।

(ii) क्या औपचारिक शिक्षा में सहपठनीय अथवा अतिरिक्त पठनीय गतिविधियाँ सम्मिलित हैं?

(iii) क्या औपचारिक शिक्षा से नैतिक शिक्षा को निकाला जा सकता है?

(iv) क्या सोवियत रूस में शिक्षा-प्रणाली ने मन, शरीर एवं हृदय से समुचित विकास का सूत्र खोज लिया है?

(4) चतुर्थतया, कुछेक विषयों का ज्ञान बालक को बिल्कुल नहीं कराया जाता, क्योंकि ऐसे विषयों को उसकी ग्रहण-शक्ति से बाहर बतलाए जाते हैं। इन वर्जित विषयों को माध्यमिक अथवा महाविद्यालयीय स्तर पर पढ़ाया जाता है। जो बालक महाविद्यालय में प्रवेश नहीं लेता, उसके भविष्य का क्या होगा? क्या स्कूल के पाठ्यक्रम से कुछ विषयों का निकास बालक के पूर्ण मनुष्य के रूप में विकास को अवरुद्ध नहीं करता?

(5) पंचम, हमारी शिक्षा-प्रणाली में व्यावसायिक शिक्षा का क्या स्थान होना चाहिए? क्या शिक्षा का उद्देश्य कुशल कारीगरों का उत्पादन करना है अथवा चरित्र के विकास पर बल देना है?

(6) अंतिम, शिक्षा हमारी संस्कृति का संरक्षण, साथ ही नए मूल्यों की खोज में लोगों को किस प्रकार प्रशिक्षित कर सकती है?

(7) एक अन्य प्रश्न सामाजिक गतिशीलता से संबंधित है। आधुनिक शिक्षा-प्राप्त नवयुवक देहातों को छोड़कर नगरों में प्रवाश कर रहे हैं जिससे देहातों के विकास मार्ग में बाधा उत्पन्न हुई है। अतः शिक्षा का स्वरूप क्या होना चाहिए ताकि शिक्षित नवयुवक नगरों की ओर आकर्षित न हों तथा देहातों में रहकर ही देहात की आर्थिक उन्नति में योगदान दें।

कभी-कभी शिक्षा को सिद्धांत बोधन हेतु प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार, साम्यवादी देशों में विद्यार्थियों को साम्यवाद की एवं मुस्लिम देशों में इस्लाम कट्टरवादिता की शिक्षा दी जाती है। भारत में यद्यपि सामाजिक संस्तरीकरण एक अर्थ में समाप्त हो गया है परंतु यह एक अन्य रूप में जन्म ले रहा है। तथाकथित 'पब्लिक स्कूल प्रणाली' ने एक नए

नोट

नोट

वर्ग-उच्चवर्गीय बच्चों को जन्म दिया है जो निम्नवर्ग के बच्चों के साथ खेलना अथवा संपर्क रखना पसंद नहीं करते। समाज में बच्चों के 'अभिजन' वर्ग, जिसकी जीवन-शैली पाश्चात्य रंग में रंगी है, का जन्म हो गया है। अतएव भारतीय शिक्षा के सम्मुख यह भी प्रश्न है कि 'क्या पब्लिक स्कूल प्रणाली' को समाप्त किया जाना चाहिए?

सामाजिक नियंत्रण में शिक्षा एक अभिकरण के रूप में

शिक्षा, चाहे वह औपचारिक हो या अनौपचारिक, सामाजिक नियंत्रण का एक महत्त्वपूर्ण साधन है। इसीलिए, इस प्रकार की शिक्षा दी जाती है जो व्यक्ति को सामाजिक आदर्शों के अनुकूल बनाए। शिक्षा एक प्रकार का समाजीकरण है और इसी प्रक्रिया में अपना नियंत्रक कार्य भी करती है। सही प्रकार का समाजीकरण होने से सदस्य सामाजिक नियमों एवं मूल्यों के अनुरूप व्यवहार करते हैं और विचलनकारी व्यवहार नहीं करते।

शिक्षा व्यवस्था नैतिक विचारों को स्पष्ट कर और व्यक्ति का बौद्धिक विकास कर सामाजिक नियमन में योगदान देती है। शिक्षा द्वारा किए गए नियंत्रक कार्यों को हम निम्नलिखित रूप से रख सकते हैं।

(1) शिक्षा व्यक्ति को आत्मविश्लेषण की क्षमता देती है। इस क्षमता के कारण स्वत: ही सामाजिक नियमों का पालन करते हैं और इसमें किसी बाहरी दबाव की आवश्यकता नहीं होती।

(2) शिक्षा हमारे जीवन में आत्मज्ञान का संचार करती है, जिससे हम अनुचित और उचित व्यवहार के अंतरों को समझने लगते हैं। जब हम उचित को अनुचित से अलग कर लेते हैं तब स्वाभाविक रूप से हम उचित व्यवहार को चुनते हैं। इस तरह, हम ज्ञान के विकास के साथ उचित व्यवहार को समझते हैं और उसका पालन करते हैं। इससे सामाजिक नियंत्रण स्वत: ही बना रहता है।

(3) शिक्षा में संस्कृति को हस्तांतरित करने की क्षमता होती है। शिक्षा द्वारा हमें अपनी परंपराओं और पुरानी संस्कृति का ज्ञान होता है। एक पीढ़ी सारी संस्कृति का निर्माण नहीं करती। अत:, शिक्षा के संचार से ही नई पीढ़ी को पुरानी पीढ़ी द्वारा मान्यता प्राप्त विधियों का ज्ञान होता है और उसका अनुसरण करती है। इसके कारण समाज नियंत्रण में बना रहता है।

(4) शिक्षा द्वारा परिवर्तनशील समाजों में स्तरीकरण की नई व्याख्या एवं नए मापदंड प्राप्त होते हैं। ग्रामीण या आदिवासी समाजों में व्यक्ति की प्रस्थिति जन्मगत आधारों पर निर्धारित होती है। इसके विपरीत गतिशील समाजों में, जहाँ नए मूल्यों का उदय हो रहा है, शिक्षा प्रस्थिति निर्धारण का एक महत्त्वपूर्ण आधार है। इस तरह, शिक्षा पुराने प्रस्थिति-निर्धारण के समाप्त होते हुए आधारों के विकल्प के रूप में नए आधार प्रस्तुत कर रही है। जन्मजात आधारों के समाप्त होने से जो संक्रमण की स्थिति उत्पन्न हो रही थी उसका हल देकर शिक्षा ने समाजीकरण की एक समस्या का समाधान कर दिया।

(5) यह भी कहा जा सकता है कि शिक्षा अभौतिक संस्कृति में आनेवाले तनावों का हल खोजती है। हम पहले ही बता चुके हैं कि अभौतिक संस्कृति समाज के उन तत्वों से संबद्ध है जिन्हें हम न स्पर्श कर सकते हैं और न देख सकते हैं। जैसे–जनरीतियाँ, ज्ञान, परंपराएँ आदि अभौतिक संस्कृति अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए हमेशा नए

नोट

विचारों से एक नए प्रकार का संघर्ष करती हैं। ऐसी परिस्थिति में शिक्षा हमें तर्क एवं विवेक देती है और इसके आधार पर हम परंपराओं एवं जनरीतियों के उपयोगी पक्ष को चुन लेते हैं। इस प्रकार, शिक्षा परंपराओं के उपयोगी पक्ष एवं आधुनिक विचारों के बीच एक संतुलन पैदा कर सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने में मदद करती है।

(6) शिक्षा व्यक्तियों में अभियोजन पैदा करती है। एक शिक्षित व्यक्ति अपने व्यवहार में आमतौर पर कट्टर नहीं होता। अर्थात्, बदलती परिस्थितियों के अनुरूप एक शिक्षित व्यक्ति अपने व्यवहारों में कट्टर न होकर, परिवर्तन लाता है और यह उसके अभियोजन में सहायता करता है। इसी अभियोजन के फलस्वरूप समाज में अनुकूलन पैदा होता है। इसी अनुकूलन की अनुपस्थिति में सामाजिक तनाव पैदा होता है, जो सामाजिक नियंत्रण की सबसे बड़ी समस्या है। मजदूर-प्रबंधक के बीच, छात्र-शिक्षक के बीच या पिता-पुत्र के बीच आज अनुकूलन की समस्या उठ खड़ी हुई है। शिक्षा क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान देती है।

अंत में, एक बात स्पष्ट कर देना आवश्यक है। नियंत्रण के सभी अभिकरण सभी स्थितियों में प्रभावकारी हों, यह आवश्यक नहीं है। शहरों में या शहरी मूल्यों से प्रभावित समाजों में धर्म या प्रथाएँ नियंत्रण में बहुत अधिक उपयोगी नहीं होती। इसके विपरीत, परंपरागत समाजों जैसे ग्रामीण, आदिवासी आदि में राज्य द्वारा पारित कानूनों की अपेक्षा धर्म और प्रथाएँ या प्रचलन अधिक प्रभावकारी होते हैं। सारांश यह है कि नियंत्रण के विभिन्न अभिकरण विभिन्न प्रकार की सामाजिक व्यवस्था से जुड़े रहते हैं।

शिक्षा एवं सामाजिक परिवर्तन

यह अनुभव किया गया कि हिंसक क्रांति के व्यापक स्तर पर गुणात्मक परिवर्तनों को अर्जित करना है तो वह केवल शिक्षा के माध्यम से हो सकता है। शिक्षा जनसामान्य तक पहुँच सकती है। यह भी अनुभव किया गया कि शिक्षा को जनसामान्य तक पहुँचाना सरल नहीं है क्योंकि इसके लिए कठोर इच्छा एवं प्रतिबद्ध कार्यों की आवश्यकता होती है। शिक्षा इसके बावजूद विश्व के विभिन्न देशों में सामाजिक विकास हेतु परखा हुआ उपकरण है। भारत में भी यह तर्क सत्य है परंतु इसके लिए एक सुनिर्धारित योजना का होना अनिवार्य है।

यदि नागरिक प्रेरणा एवं उद्देश्य, कुशलता एवं संकल्प को व्यक्त करते हैं तब वे राष्ट्रीय विकास हेतु संघर्ष में सहभागिता कर सकते हैं। प्रेरणा एवं संकल्प समाज के विशिष्ट सदस्यों की आंतरिक विशेषताएँ हैं। राज्य एवं अन्य सभी उपव्यवस्थाएँ जो अधिकार एवं नियंत्रण से संबद्ध हैं, उन स्थितियों को उत्पन्न करती हैं जिनके द्वारा शिक्षा व्यवस्था संकल्प एवं कुशलता को उत्पन्न व विकसित करती है। इस प्रकार शिक्षा व्यवस्था राष्ट्रीय विकास के लिए एक उपयोगी तत्व बन जाती है। शिक्षा उप-व्यवस्था से संबद्ध मनुष्यों का जहाँ तक संबंध है उनमें नीति-निर्धारक, शिक्षा नियोजक एवं प्रशासन सम्मिलित होते हैं। इसके साथ ही हम उन अधिकारियों की भी चर्चा कर सकते हैं जो कि संसाधनों को आवंटित करते हैं। इसके अतिरिक्त विषय संरचना को स्वरूप देने वाले नियोजक, संबद्ध प्रशासक, संबद्ध विषय की पुस्तक के लेखक, संस्था के प्रबंधक एवं शिक्षकों को भी सम्मिलित किया जाता है। इन सभी व्यक्तियों में संकल्प एवं कुशलता का होना आवश्यक है। उन्हें कार्य के प्रति समर्पित एवं किसी भी प्रकार के बलिदान हेतु तत्पर होना चाहिए।

शिक्षा एक ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा पीढ़ी दर पीढ़ी सामाजिक वर्ग से संबद्ध पद को स्थिरता/निरंतरता प्रदान की जा सकती है। शिक्षा संबंधी उपलब्धियों एवं व्यावसायिक उपलब्धियों के

मध्य सदैव यह संबंध देखे जा सकते हैं। भारतीय स्थिति में जाति आधारित असमानता विभिन्न वर्गों पर भी अपना प्रभाव डालती है। अभी कुछ वर्षों पूर्व तक ब्राह्मण जाति का शिक्षा के अवसरों पर लगभग एकाधिकार था। यद्यपि वर्तमान शताब्दी में ब्राह्मणों का यह एकाधिकार काफी कम हुआ है। अब समस्या यह है कि किसी भी जाति के सदस्य को पब्लिक स्कूल में प्रवेश लेने से नहीं रोका जा सकता परंतु वित्तीय समस्याओं/बाधाओं एवं विद्यालयों के उपलब्ध न होने के कारण वे स्कूल में प्रवेश से वंचित हो जाते हैं।

यह परिवर्तन मुख्य रूप से औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप अस्तित्व में आए हैं। अत: आधुनिक समय में शिक्षा ने व्यावसायिक गतिशीलता की दर में आशातीत वृद्धि की है। शिक्षा को सबसे उच्च प्राथमिकता दी गयी है क्योंकि यह आधुनिक समाज की अत्यंत महत्त्वपूर्ण विशेषता है तथा ''उच्चस्तरीय गतिशीलता'' में अर्थात् विकास के अवसरों की प्राप्ति में सहायक है। अत: यह कहा जा सकता है कि व्यावसायिक उपलब्धियों एवं अवसरों के साथ शिक्षा का उच्च सह संबंध है।

आधुनिकीकरण और शिक्षा

उपरोक्त परिवर्तन और विवाद आधुनिक शिक्षण संस्थानों के विषय में परिवर्तन के कारण हो रहे हैं। आधुनिक विद्यालय, कालेज और विश्वविद्यालय जीवन की शिक्षा देने में ज्यादा विश्वास नहीं रखते जैसा कि पहले की शिक्षा द्वारा होता था। यह इस वजह से था कि पारंपरिक शिक्षा एक स्थिर और अपरिवर्तनशील समाज के लिए था। यह एक ऐसा समाज था जो औद्योगीकरण द्वारा तीव्र परिवर्तन का सहभागी नहीं था। दूसरी तरफ आधुनिक समाज बहुत तीव्र और विस्तृत परिवर्तनों से भरा है। इस प्रकार के परिवर्तनशील समाज में शिक्षा का उद्देश्य प्रौद्योगिकी विज्ञान और इस प्रकार के दूसरे विशेष ज्ञान को आधुनिक ढंग से संचारित-संप्रेषित करना है दूसरे शब्दों में परिवर्तनशील समाज की माँगों को देखते हुए शिक्षा की अंतर्वस्तु में तदनुरूपी परिवर्तन आवश्यक है।

शिक्षा के विषय और इसकी पद्धति में परिवर्तन के दूरगामी परिणाम सामने आए हैं। आधुनिक विज्ञान द्वारा प्रदत्त विपुल अध्ययन सामग्री ने इस बात को सबसे पहले जरूरी बना दिया है कि शास्त्रीय भाषाओं और साहित्य का अध्ययन अत्यंत संक्षिप्त कर दिया जाए या समाप्त ही कर दिया जाए। इसका मतलब विद्यार्थियों के समुदाय का परंपरा और सांस्कृतिक विरासत से अलग होना है। यह तर्क दिया जाता है कि ऐसी परिस्थिति में व्यक्ति अपनी जड़ों से कट जाएगा और उसकी सृजनात्मक क्षमता और खासतौर से उसकी भावनात्मक एवं आध्यात्मिक तीक्ष्णता पोषण के अभाव में मर जाएगी। यह आधुनिक मनुष्य के लिए एक पहेली है। भरण-पोषण के लिए वह विज्ञान और तकनीक को आवश्यक मानता है। परंतु तकनीकी शिक्षा प्राप्ति को महत्त्व देने से वह भूतकाल की समृद्ध परंपरा के भंडार से वंचित रह जाएगा। यह आसान नहीं है कि इस पहेली का हल निकाला जाए। दूसरे, आधुनिक विज्ञान और प्रौद्योगिकी के अभाव में भूतकाल के बहुत सारे इच्छित मूल्य अपना पूर्ववर्ती महत्त्व खो चुके हैं। लोग बिना सवाल उठाए इनको मानने को तैयार नहीं हैं। दुर्भाग्यवश कोई नया मूल्य-बोध पुराने का स्थान नहीं ले पाया है। यह दो प्रकार के खतरों को जन्म देता है जिनमें से एक व्यक्ति के प्रति और दूसरे समाज के प्रति है। क्या सही है और क्या गलत है, क्या उचित है और क्या अनुचित है और क्या वांछित है क्या अवांछित है जैसे मूलभूत सवालों से समाज खतरे में पड़ जाता है। व्यक्ति के प्रति खतरा ऐसा सत्य निकलता है कि ''जटिल और चमत्कारी यंत्रों से घिरा रहने पर भी मनुष्य एक क्रूर और चालाक बंदर से थोड़ा ही अच्छा क्या

नोट

है।'' तीसरे, यह हमें विज्ञान और तकनीक के एक पहलू के करीब लाता है, जिसे हम स्वयं के खतरे से अनदेखा कर सकते हैं। संपूर्ण उन्नीसवीं शताब्दी में मनुष्य प्राकृतिक विज्ञान में खोजों से अभिभूत था। बंकन ने बहुत सारे लोगों के विचारों को प्रतिध्वनित किया, जब उसने कहा–''ज्ञान ही शक्ति है।'' लेकिन आज बहुत सारे मशहूर वैज्ञानिक अन्यमनस्क ढंग से इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि ''ज्ञान की दुर्भाग्यवश शक्ति है।'' विज्ञान के इस पहलू पर रॉबर्ट जंक ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'ब्राइटर दैन ए थाऊजैंड संस' में निम्नलिखित टिप्पणी की है–''जिस युग का अंत सर्वशक्तिशाली शास्त्रों के विकास में हुआ है उसे विज्ञान और तकनीक के सर्वसम्मत विकास के साथ जाना जाता है।'' लेकिन आज सर्वमान्य भौतिकशास्त्री हेसेनबर्ग कहते हैं–''जिस अंतरिक्ष में मनुष्य बौद्धिक प्राणी के रूप में विकसित हुआ है उसमें एक आयाम वाली शताब्दियों से चली आ रही दिशा से ज्यादा आयाम हैं। यह नयी उदारता जो अमानवीय या परमाणवीय शास्त्रों जैसी हैं, परमाणविक शोध से उपजी हैं। परमाणु बम की शक्ति आधुनिक मनुष्य में उदारता के नए दर्शन की समान जड़ों से आती है और नाभिकीय शोध के अनुभवों से अभिप्रेरित हैं। यह शिक्षा की योजना बनाने के लिए पुनर्चिंतन और पुनर्मूल्यांकन की माँग करती है जो आधुनिकीकरण का हिस्सा है।

1.14 समाज का अर्थ एवं परिभाषा

सामान्य रूप से व्यक्तियों के समूह को समाज कहते हैं। व्यक्तियों के इन समूह विशेषों का अध्ययन सभी सामाजिक विज्ञानों में किया जाता है। मानवशास्त्र में मनुष्यों के किसी भी समूह को समाज की संज्ञा दी जाती है, यहाँ तक कि आदिम समुदाय को भी समाज कहा जाता है। भूगोल में क्षेत्र विशेष के समान सभ्यता वाले लोगों के समुदाय को समाज कहते हैं; जैसे–भारतीय समाज, यूरोपीय समाज। धर्मशास्त्र में धर्म विशेष को मानने वालों के समुदाय को समाज कहते हैं; जैसे हिंदू समाज, ईसाई समाज और मुसलमान समाज। राजनीतिशास्त्र में राज्य विशेष के लोगों के समूह को समाज कहते हैं; जैसे–भारतीय समाज, ब्रिटिश समाज और अमेरिकी समाज। परंतु समाजशास्त्र में समाज का अर्थ इन सबसे भिन्न रूप में लिया जाता है।

अब प्रश्न उठता है कि सामाजिक संबंध क्या हैं। जब दो या दो से अधिक व्यक्ति एक-दूसरे के प्रति सचेत होते हैं और एक-दूसरे के प्रति कुछ कार्य करते हैं तो हम कहते हैं कि उनके बीच सामाजिक संबंध स्थापित हो गए हैं। यह आवश्यक नहीं कि ये संबंध मधुर और सहयोगात्मक ही हों, ये कटु और संघर्षात्मक भी हो सकते हैं। समाजशास्त्र में इन दोनों प्रकार के संबंधों का अध्ययन किया जाता है।

सभी समाजशास्त्री समाज को अमूर्त मानते हैं परंतु उसकी परिभाषा उन्होंने भिन्न-भिन्न रूप में की है। कुछ मुख्य परिभाषाएँ प्रस्तुत हैं। टालकॉट पार्सस के शब्दों में–

समाज को उन मानवीय संबंधों की पूर्ण जटिलता के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जो साधन तथा साध्य के संबंध द्वारा क्रिया करने से उत्पन्न हुए हैं, वे चाहे वास्तविक हों अथवा प्रतीकात्मक।

मैकाइवर और पेज ने समाज को थोड़े अधिक स्पष्ट रूप में परिभाषित किया है। उनके अनुसार–

समाज रीतियों तथा कार्य प्रणालियों की, अधिकार तथा पारस्परिक सहयोग की, अनेक समूहों और विभागों की, मानव व्यवहार के नियंत्रणों और स्वतंत्रताओं की एक व्यवस्था है। इस सतत् परिवर्तनशील व्यवस्था को हम समाज कहते हैं।

नोट

1.15 समाज और शिक्षा में संबंध

समाज और शिक्षा में अन्योन्याश्रित संबंध है परंतु इससे पहले कि हम समाज और शिक्षा के इस आपसी संबंध के विषय में विचार करें, यह आवश्यक है कि हम शिक्षा के संदर्भ में समाज के वास्तविक अर्थ से परिचित हों। समाजशास्त्रीय भाषा में समाज एक अमूर्त संप्रत्यय है, सामाजिक संबंधों का जाल है, परंतु सामान्य प्रयोग में सामाजिक संबंधों से बने समाज विशेष को समाज कहते हैं। समाजशास्त्रीय भाषा में इसे एक समाज कहते हैं। आज संसार के प्रायः सभी राष्ट्रों में शिक्षा की व्यवस्था करना राज्य का उत्तरदायित्व माना जाता है और इस दृष्टि से राज्य विशेष की संपूर्ण जनता ही उस राज्य का समाज होती है। आज जब हम शिक्षा के संदर्भ में समाज की बात करते हैं तो हमारा तात्पर्य राज्य अथवा राष्ट्र विशेष की संपूर्ण जनता से ही होता है। जब हम इस प्रकार के किसी समाज का अध्ययन करते हैं तो उसके अंतर्गत उसके घटक व्यक्ति-व्यक्ति, व्यक्ति-समूह और समूह-समूह के सामाजिक संबंधों अथवा सामाजिक अंतःक्रियाओं का ही अध्ययन करते हैं। तथ्य यह है कि जैसा समाज होता है वैसी ही उसकी शिक्षा होती है और जैसी किसी समाज की शिक्षा होती है वैसा ही वह समाज बन जाता है। स्पष्टीकरण प्रस्तुत है–

समाज का शिक्षा पर प्रभाव

प्रत्येक समाज अपनी मान्यताओं एवं आवश्यकताओं के अनुकूल ही अपनी शिक्षा की व्यवस्था करता है। और समाज की मान्यताएँ एवं आवश्यकताएँ उसकी भौगोलिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनीतिक और आर्थिक स्थिति पर निर्भर करती है। समाज में होने वाले परिवर्तन भी उसके स्वरूप एवं आवश्यकताओं को बदलते हैं और उनके अनुसार उसकी शिक्षा का स्वरूप भी बदलता रहता है। यहाँ इस सबका वर्णन संक्षेप में प्रस्तुत है।

1. **समाज की भौगोलिक स्थिति और शिक्षा**–किसी भी समाज का जीवन उसकी भौगोलिक स्थिति से प्रभावित होता है। तब उसकी शिक्षा भी उससे प्रभावित होनी स्वाभाविक है। जिन समाजों की भौतिक स्थिति ऐसी होती है कि उनमें मनुष्य को जीवन रक्षा के लिए कड़ा संघर्ष करना पड़ता है उनमें अधिकतर व्यक्तियों के पास शिक्षा के लिए न समय होता है और न धन, परिणामतः उनमें जन शिक्षा की व्यवस्था नहीं होती और शिक्षा का क्षेत्र भी सीमित होता है। इसके विपरीत जिन समाजों की भौगोलिक स्थिति मानव के अनुकूल होती है और प्राकृतिक संसाधन भरपूर होते हैं उनमें व्यक्तियों के पास शिक्षा के लिए समय एवं धन दोनों होते हैं, परिणामतः उनमें शिक्षा की उचित व्यवस्था होती है। यह तथ्य भी सर्वविदित है कि जिस देश में जैसे प्राकृतिक संसाधन उपलब्ध होते हैं उसमें वैसे ही उद्योग धंधे पनपते हैं और उन्हीं के अनुकूल वहाँ शिक्षा की व्यवस्था की जाती है। कृषिप्रधान देशों में कृषि शिक्षा और उद्योगप्रधान देशों में औद्योगिक शिक्षा पर बल रहता है।
2. **समाज की संरचना और शिक्षा**–भिन्न-भिन्न समाजों के स्वरूप भिन्न-भिन्न होते हैं। कुछ समाजों में जातियाँ होती हैं और जाति-भेद भी, कुछ में जातियाँ होती हैं परंतु जाति-भेद नहीं होता और कुछ में जातियाँ ही नहीं होतीं। इसी प्रकार कुछ समाजों में कुलीन और निम्न वर्ग भेद होता है और कुछ समाजों में नहीं होतीं। समाज विशेष के इस स्वरूप का उसकी शिक्षा पर प्रभाव पड़ता है। अपने भारतीय समाज को ही लीजिए; जब इसमें कठोर

वर्ण व्यवस्था थी तब शूद्रों को उच्च शिक्षा से वंचित रखा जाता था और आज जब वर्ण भेद में विश्वास नहीं किया जाता तो समाज के प्रत्येक वर्ग के लिए शिक्षा की समान सुविधाएँ उपलब्ध कराने का नारा बुलंद है।

नोट

3. **समाज की संस्कृति और शिक्षा**–भिन्न-भिन्न अनुशासनों में संस्कृति को भिन्न-भिन्न अर्थ में देखा-समझा गया है परंतु आधुनिक परिप्रेक्ष्य में किसी समाज की संस्कृति से तात्पर्य उसके रहन-सहन एवं खान-पान की विधियों, व्यवहार प्रतिमानों, आचार-विचार, रीति-रिवाज, कला-कौशल, संगीत-नृत्य, भाषा-साहित्य, धर्म-दर्शन, आदर्श-विश्वास और मूल्यों के उस विशिष्ट रूप से होता है जो उसकी अपनी पहचान होते हैं। किसी समाज की शिक्षा पर सर्वाधिक प्रभाव उसकी संस्कृति का ही होता है। किसी भी समाज की शिक्षा के उद्देश्य उसके धर्म-दर्शन, आदर्श-विश्वास और उसकी आकांक्षाओं के आधार पर ही निश्चित किए जाते हैं, उसकी शिक्षा की पाठ्यचर्या में सर्वाधिक महत्त्व उसके भाषा-साहित्य और धर्म-दर्शन को दिया जाता है और शिक्षा संस्थाओं में यथा व्यवहार प्रतिमानों को अपनाया जाता है।

4. **समाज की धार्मिक स्थिति और शिक्षा**–यूँ धर्म संस्कृति का अंग होता है परंतु यहाँ इसको अलग से इसलिए लिया गया है कि प्रारंभ से ही शिक्षा पर धर्म का सबसे अधिक प्रभाव रहा है। दूसरी बात यह है कि अब धर्म के विषय में विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं, कुछ उसे शिक्षा का आधार मानने के पक्ष में हैं और कुछ शिक्षा को धर्म से दूर रखने के पक्ष में हैं। धर्म की दृष्टि से समाजों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है–एक वे जिनमें धर्म विशेष को माना जाता है और दूसरे वे जिनमें अनेक धर्मों का प्रचलन होता है। इन समाजों की शिक्षा व्यवस्था भिन्न-भिन्न होती है। धर्म विशेष को मानने वाले समाजों की शिक्षा में उनके अपने धर्म की शिक्षा को स्थान दिया जाता है; जैसे–मुस्लिम राष्ट्रों में। दूसरे प्रकार के समाजों में किसी धर्म विशेष की शिक्षा देना संभव नहीं होता, उनमें उदार दृष्टिकोण अपनाया जाता है; जैसे अपने देश भारत में। कुछ समाजों में धर्म शिक्षा को स्थान ही नहीं दिया जाता; जैसे–रूस में।

5. **समाज की राजनीतिक स्थिति और शिक्षा**–समाज की राजनीतिक स्थिति भी उसकी शिक्षा को प्रभावित करती है। उदाहरण के लिए, एकतंत्र शासन प्रणाली वाले देशों में शिक्षा के द्वारा अंधे राष्ट्रभक्त तैयार किए जाते हैं जबकि लोकतंत्र शासन प्रणाली वाले देशों में शिक्षा के द्वारा व्यक्ति को स्वतंत्र चिंतन और स्वतंत्र अभिव्यक्ति के लिए तैयार किया जाता है। इसके साथ-साथ एक बात और है और वह यह कि जो समाज राजनीतिक दृष्टि से सुरक्षित होता है उसकी शिक्षा के उद्देश्य व्यापक होते हैं और जिस समाज में राजनीतिक दृष्टि से असुरक्षा होती है वह केवल सैनिक शक्ति और उत्पादन बढ़ाने पर बल देता है।

6. **समाज की आर्थिक स्थिति और शिक्षा**–समाज की आर्थिक स्थिति भी उसकी शिक्षा को प्रभावित करती है। आर्थिक दृष्टि से संपन्न समाजों की शिक्षा बहुउद्देशीय होती है। वे अपने प्रत्येक सदस्य के लिए अनिवार्य एवं नि:शुल्क शिक्षा की व्यवस्था करते हैं, जन शिक्षा का प्रसार करते हैं और इस सबके लिए अनेक साधन जुटाते हैं; जैसे–अमेरिका। प्रगतिशील समाज जन शिक्षा और व्यावसायिक शिक्षा पर अधिक बल देते हैं; जैसे–भारत। आर्थिक दृष्टि से पिछड़े समाज न अनिवार्य एवं नि:शुल्क शिक्षा की बात सोच पाते हैं,

नोट

न जन शिक्षा की और न व्यावसायिक शिक्षा की; जैसे–बांग्ला देश। समाज का अर्थतंत्र भी उसकी शिक्षा को प्रभावित करता है। कृषिप्रधान अर्थतंत्र में शिक्षा की संभावनाएँ कम होती हैं, वाणिज्यप्रधान में अपेक्षाकृत उससे अधिक और उद्योगप्रधान में सबसे अधिक।

7. **सामाजिक परिवर्तन और शिक्षा**–हम जानते हैं कि समाज परिवर्तनशील है। संसार का इतिहास इस बात का साक्षी है कि समाज के साथ-साथ उसकी शिक्षा का स्वरूप भी बदलता है। अपने भारतीय समाज को ही लीजिए। प्राचीन काल में इसकी भौतिक आवश्यकताएँ कम थीं और आध्यात्मिक पक्ष प्रबल था इसलिए शिक्षा के क्षेत्र में धर्म और नीतिशास्त्र की शिक्षा पर अधिक बल दिया जाता था परंतु आज उसकी भौतिक आवश्यकताएँ बढ़ गई हैं और आध्यात्मिक पक्ष निर्बल पड़ गया है इसलिए शिक्षा में विज्ञान एवं तकनीकी को अधिक महत्त्व दिया जाने लगा है। कल तक नारियाँ केवल गृहिणी के रूप में रहती थीं इसलिए उन्हें केवल लिखने-पढ़ने एवं घरेलू कार्यों की शिक्षा दी जाती थी, आज वे पुरुष के साथ कंधा मिलाकर हर क्षेत्र में कार्य करती हैं अत: उनके लिए पुरुषों की भाँति सभी प्रकार की शिक्षा सुलभ है। जब कभी सामाजिक क्रांति होती है तो वह शिक्षा में आमूलचूल परिवर्तन कर देती है।

शिक्षा का समाज पर प्रभाव

एक ओर यदि यह बात सत्य है कि समाज शिक्षा को प्रभावित करता है तो दूसरी ओर यह बात भी सत्य है कि शिक्षा समाज के स्वरूप को निश्चित करती है और उसकी सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनीतिक एवं आर्थिक स्थिति को प्रभावित करती है। शिक्षा मानव समाज की आधारशिला है। वह समाज का निर्माण करती है, उसमें परिवर्तन करती है और उसका विकास करती है।

1. **शिक्षा और समाज की भौगोलिक स्थिति पर नियंत्रण**–एक युग था जब मनुष्य को भौगोलिक परिस्थितियों का दास कहा जाता था परंतु आज मनुष्य शिक्षा के द्वारा अपनी भौगोलिक परिस्थितियों पर नियंत्रण करने में सफल हो गया है। वे दिन गए जब नदी और पहाड़ हमारे मार्ग में बाधक होते थे। शिक्षा के द्वारा हवाई जहाजों का निर्माण संभव हुआ और हवाई जहाजों से उड़कर हम नदी और पहाड़ ही पार नहीं करते अपितु बहुत कम समय में अधिक दूरी तय करते हैं। शिक्षा के द्वारा हम हर भौगोलिक परिस्थिति पर नियंत्रण करने में सफल होते जा रहे हैं।
2. **शिक्षा और समाज का स्वरूप**–शिक्षा के द्वारा ही मनुष्य अपने, समाज के, संसार के और इस संपूर्ण ब्रह्मांड के बारे में जानकारी प्राप्त करता है। इस ज्ञान के आधार पर ही वह अपने जीवन के उद्देश्य निश्चित करता है और इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए वह भिन्न-भिन्न समाजों का निर्माण करता है। सच्चा वेदांती मनुष्य-मनुष्य में तो क्या, संसार की किन्हीं दो वस्तुओं में भी भेद नहीं करता, वह सबको ब्रह्ममय देखता है। लेकिन ईश्वर विमुख व्यक्ति भौतिक पैमाने पर ही सब कुछ कसता है और मनुष्य-मनुष्य में अनेक प्रकार के भेद करता है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न विचारधाराओं के व्यक्तियों के समाज का स्वरूप भिन्न-भिन्न होता है। शिक्षा एक ओर समाज के स्वरूप की रक्षा करती है और दूसरी ओर उसमें आवश्यक परिवर्तन करती है।
3. **शिक्षा और समाज की संस्कृति**–प्रत्येक समाज अपने सदस्यों में अपनी संस्कृति का संक्रमण शिक्षा के द्वारा ही करता है। इस प्रकार शिक्षा किसी समाज की संस्कृति का

संरक्षण करती है। जब मनुष्य शिक्षित हो जाता है तो वह अपने अनुभवों के आधार पर अपनी संस्कृति में परिवर्तन करता है। इस प्रकार शिक्षा समाज की संस्कृति में विकास करती है। शिक्षा के अभाव में संस्कृति के विकास की कल्पना नहीं की जा सकती।

नोट

4. **शिक्षा और समाज की धार्मिक स्थिति**–हम यह देख रहे हैं कि कोई समाज अपनी शिक्षा में धर्म विशेष की शिक्षा का विधान करता है, कोई इस क्षेत्र में उदार दृष्टिकोण अपनाता है और संसार के भिन्न-भिन्न धर्मों की शिक्षा का विधान करता है और कोई समाज अपनी शिक्षा में धर्म को स्थान ही नहीं देता। परिणामस्वरूप पहले प्रकार के समाजों में धार्मिक कट्टरता पाई जाती है, दूसरे प्रकार के समाजों में धार्मिक उदारता पाई जाती है और तीसरे प्रकार के समाजों में अब एक ओर भौतिक विज्ञानों की शिक्षा से धार्मिक कूपमंडूकता एवं अंधविश्वासों का अंत होने लगा है और दूसरी ओर बढ़ती हुई सामाजिक अराजकता से मनुष्य अपनी शिक्षा को वास्तविक धर्म पर आधारित करने की ओर उन्मुख होने लगा है। शिक्षा के अभाव में लोग धर्म के वास्तविक स्वरूप को समझ ही नहीं सकते।
5. **शिक्षा और समाज की राजनीतिक स्थिति**–शिक्षा से मनुष्य के ज्ञान में वृद्धि होती है और उसके आचरण को निश्चित दिशा दी जाती है। शिक्षा के द्वारा ही विचार करने एवं सत्य-असत्य में भेद करने की शक्ति का विकास होता है। शिक्षा के द्वारा ही समाज में राजनीतिक जागरूकता आती है, व्यक्ति अपने अधिकार एवं कर्तव्यों से परिचित होता है। इसी के द्वारा उसमें राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय भावना का विकास किया जाता है। बिना उचित शिक्षा के विधान के व्यक्ति केवल राष्ट्र का अंधा भक्त बनाया जा सकता है, जागरूक नागरिक नहीं।
6. **शिक्षा और समाज की आर्थिक स्थिति**–एक युग था जब शिक्षा के द्वारा मनुष्य में केवल मानवीय गुणों का विकास किया जाता था, परंतु रोटी-कपड़े-मकान की समस्या को सुलझाने वाली शिक्षा उस समय नहीं दी जाती थी, ऐसा नहीं कहा जा सकता। यह तो हो सकता है कि उस समय इसके लिए उचित विद्यालयों की स्थापना न की गई हो परंतु परिवार और समुदायों में यह शिक्षा बराबर चलती रही होगी अन्यथा इस क्षेत्र में विकास कैसे होता! आज तो शिक्षा समाज की आर्थिक स्थिति का मूलाधार है। आज सभी समाज शिक्षा के द्वारा व्यक्ति को किसी व्यवसाय अथवा उत्पादन कार्य में निपुण करने का प्रयत्न करते हैं। देखा यह जा रहा है कि जिस समाज में इस प्रकार की शिक्षा का जितना अच्छा प्रबंध है वह आर्थिक क्षेत्र में उतनी ही तेजी से बढ़ रहा है। बिना शिक्षा के हम आर्थिक क्षेत्र में विकास नहीं कर सकते।
7. **शिक्षा और सामाजिक परिवर्तन**–एक ओर यदि यह बात सत्य है कि समाज शिक्षा में परिवर्तन करता है तो दूसरी ओर यह बात भी सत्य है कि शिक्षा द्वारा सामाजिक परिवर्तन होते हैं। शिक्षा द्वारा मनुष्य अपनी जाति की भाषा, रहन-सहन, खान-पान के तरीके और रीति-रिवाज सीखता है और उसके मूल्य एवं मान्यताओं से परिचित होता है। इससे उसका मानसिक विकास होता है और वह अपने, समाज के तथा इस ब्रह्मांड के बारे में सदैव सोचता रहता है। समाज में रहकर वह नए-नए अनुभव करता है और समाज की आवश्यकताओं एवं समस्याओं से परिचित होता है। इन आवश्यकताओं की पूर्ति और समस्याओं के हल

के लिए वह विचार करता है और उनके हल खोजता है और इससे समाज को प्रभावित करता है। कभी-कभी एक व्यक्ति पूरे समाज को बदल देता है। शिक्षा के अभाव में यह सब संभव नहीं। सामाजिक क्रांति के लिए शिक्षा मूलभूत आवश्यकता होती है।

नोट

उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि समाज और शिक्षा अन्योन्याश्रित होते हैं, जैसे किसी समाज की भौगोलिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनीतिक और आर्थिक स्थिति होती है वैसी ही उसकी शिक्षा होती है। इतना ही नहीं अपितु किसी समाज में सामाजिक परिवर्तनों के साथ-साथ उसकी शिक्षा में भी परिवर्तन होते चलते हैं। और जिस समाज में जैसी शिक्षा की व्यवस्था की जाती है वैसे ही उस समाज की भौगोलिक स्थिति पर पकड़, और उसके स्वरूप एवं उसकी सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनीतिक और आर्थिक स्थिति में परिवर्तन होने लगता है। सामाजिक परिवर्तन लाने में शिक्षा आधारभूत भूमिका अदा करती है।

1.16 शिक्षा के अर्थशास्त्र का अर्थ एवं परिभाषा

शिक्षा को प्रभावित करने वाले मुख्य तत्वों में एक तत्व समाज की आर्थिक स्थिति भी है। यह देखा गया है कि जो समाज आर्थिक दृष्टि से जितना अधिक संपन्न होता है वह अपने बच्चों के लिए उतनी ही अच्छी शिक्षा की व्यवस्था कर पाता है। इसके विपरीत यह भी देखा गया है कि जिस समाज में शिक्षा पर जितना अधिक धन और समय व्यय किया जाता है वह समाज आर्थिक दृष्टि से उतना ही अधिक संपन्न होता है। इस साक्ष्य ने शिक्षाशास्त्रीयों को समाज के आर्थिक स्रोतों एवं साधनों का अध्ययन करने एवं कम से कम व्यय से अधिक से अधिक अच्छी शिक्षा व्यवस्था की खोज की ओर प्रवृत्त किया। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद जब अनेक देश स्वतंत्र हुए तो उन्होंने अपने बहुमुखी विकास के लिए शिक्षा का विकास करना प्रारंभ किया।

शिक्षा के अर्थशास्त्र का मुख्य उद्देश्य समाज को उसके सीमित साधनों के समुचित प्रयोग करने तथा ऐसी शिक्षा व्यवस्था करने योग्य बनाना है जिससे राष्ट्र का उत्पादन बढ़े। इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु शिक्षा के अर्थशास्त्र में सर्वप्रथम समाज की आर्थिक व्यवस्थाओं एवं आर्थिक स्रोतों का अध्ययन करना पड़ता है। जिस समाज में जैसी आर्थिक व्यवस्था होती है उसमें शिक्षा का स्वरूप भी प्राय: वैसा ही होता है। दूसरी तरफ यह बात भी सत्य है कि जो समाज अपनी शिक्षा पर समुचित ढंग से जितना अधिक व्यय करता है उसे उतना ही अधिक प्रतिफल प्राप्त होता है। इसके लिए शिक्षा के अर्थशास्त्र में किसी समाज की शिक्षा पर किए जाने वाले व्यय और उसके प्रतिफल का अध्ययन किया जाता है। व्यय के अंतर्गत शिक्षा पर व्यक्ति, समाज और राष्ट्र द्वारा किए जाने वाले समस्त व्यय सम्मिलित होते हैं और प्रतिफल में शिक्षा द्वारा मनुष्य को होने वाले तत्कालीन लाभ एवं भविष्य में होने वाले लाभ सम्मिलित होते हैं। लाभ भी दो प्रकार के होते हैं–एक प्रत्यक्ष; जैसे–शारीरिक एवं व्यावसायिक विकास और दूसरा अप्रत्यक्ष; जैसे–मानसिक, चारित्रिक एवं नैतिक विकास। और चूँकि शिक्षा अर्थशास्त्र का मुख्य उद्देश्य राष्ट्र के सीमित आर्थिक साधनों का उपयुक्ततम प्रयोग करके उत्पादनप्रधान शिक्षा की व्यवस्था करना होता है इसलिए वह दो तथ्यों का अध्ययन और करता है–पहला यह कि समाज में किस प्रकार की शिक्षा की माँग है और दूसरा राज्य के द्व ारा शिक्षा पर किए जाने वाले व्यय तथा उसके तरीके क्या-क्या हैं। इस संदर्भ में वह राज्य अनुदान प्रणाली का विस्तार से अध्ययन करता है और उसमें सुधार के सुझाव देता है। इसके साथ-साथ वह समाज के लिए शिक्षा का स्वरूप निश्चित करता है और इस शिक्षा की व्यवस्था के लिए राज्य

की आय के स्रोतों एवं व्यय के क्षेत्र निश्चित करता है। इस प्रकार आज शिक्षा के अर्थशास्त्र का विषय क्षेत्र बहुत व्यापक है।

1.17 शिक्षा एक विनियोग के रूप में

नोट

जब धन को किसी काम में इस उद्देश्य से लगाया जाता है कि भविष्य में उससे और अधिक धन प्राप्त हो तो उसे निवेश अथवा विनियोग कहते हैं। शिक्षा के द्वारा व्यक्ति की धनोपार्जन की क्षमता में विकास होता है जिसका प्रयोग वह अपने भावी जीवन में करता है। इस दृष्टि से शिक्षा पर किया गया व्यय अपने में एक विनियोग है।

यूँ तो मनुष्य की शिक्षा जीवन भर चलती है परंतु यहाँ शिक्षा से हमारा तात्पर्य केवल उस औपचारिक शिक्षा से है जिसका नियोजन राज्य अपने उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु करते हैं। इसमें मुख्य रूप से सामान्य शिक्षा, विशिष्ट शिक्षा और सतत शिक्षा आती है। और हमारे देश भारत में 14 वर्ष की आयु तक के बच्चों के लिए अनिवार्य सामान्य शिक्षा की व्यवस्था करने का प्रयत्न है। सामान्य शिक्षा के बाद विश्वविद्यालयी, प्रोफेशनल एवं तकनीकी शिक्षा का विकास करना होता है इस सब शिक्षा की व्यवस्था में राज्य पूर्ण अथवा अंश रूप में व्यय करते हैं। जन सहयोग से भी आर्थिक सहायता प्राप्त होती है और शिक्षा प्राप्त करने वाले व्यक्तियों को भी कुछ व्यय करना पड़ता है। इन तीनों द्वारा किए गए कुल व्यय को शिक्षा पर व्यय माना जाता है और शिक्षा प्राप्त करने के बारे में इन तीनों को होने वाले लाभ को प्रतिफल माना जाता है।

शिक्षा पर व्यय और उसके प्रतिफल पर अनेक अध्ययन किए गए हैं। इन अध्ययनों से शिक्षा अर्थशास्त्रियों ने निम्नलिखित तथ्यों की खोज की है।

(1) शिक्षा पर जो कुछ व्यय होता है उससे बालकों की तत्कालीन आवश्यकताओं की पूर्ति होती है; जैसे–एक दूसरे से मिलने के अवसर प्राप्त होना, खेल के लिए अवसर प्राप्त होना, सामान्य व्यवहार करने के अवसर प्राप्त होना आदि। यह शिक्षा व्यय का उपभोगी तत्व कहलाता है। इससे यह स्पष्ट है कि शिक्षा पर किए गए व्यय का तुरंत प्रतिफल मिलता है। इसलिए शिक्षा अपने में विनियोग है।

(2) किसी भी व्यवसाय में अधिक पढ़ा-लिखा व्यक्ति कम पढ़े-लिखे व्यक्ति की तुलना में अधिक कुशलता से काम करता है और तद्नुकूल अधिक धनोपार्जन करता है। इस प्रकार व्यक्ति की शिक्षा पर जो कुछ भी व्यय होता है उसका उसे प्रतिफल प्राप्त होता है, जो व्यय की अपेक्षा अधिक होता है। इसलिए व्यक्ति की शिक्षा पर किया गया व्यय अपने में विनियोग होता है।

(3) उच्च शिक्षा प्राप्त व्यक्ति नए विचारों और साधनों को ग्रहण करने के लिए तत्पर रहता है। उसमें नए विचारों एवं साधनों को ग्रहण करने की शक्ति भी अपेक्षाकृत अधिक होती है। परिणामत: वह निरंतर आर्थिक प्रगति करने में सक्षम होता है। इस दृष्टि से भी शिक्षा अपने में विनियोग है।

(4) इस शताब्दी में ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में बड़ी प्रगति हुई है। अर्थोपार्जन के किसी भी क्षेत्र से इस ज्ञान का सीधा संबंध है। कृषि से संबंधित ज्ञान प्राप्त व्यक्ति उस कृषक की अपेक्षा बहुत अधिक उत्पादन करता है जिसने इस आधुनिक कृषि संबंधी ज्ञान को प्राप्त नहीं किया है। इसी प्रकार वाणिज्य की उच्च शिक्षा प्राप्त व्यक्ति आज के वाणिज्य क्षेत्र में अपेक्षाकृत अधिक सफल हो रहा है। उद्योग के क्षेत्र में विज्ञान एवं तकनीकी शिक्षा

नोट

का उत्पादन दर से सीधा संबंध होता है। उद्योगों की सफलता प्रशिक्षित कर्मकारों, उच्च शिक्षा प्राप्त इंजीनियरों और उच्च शिक्षा प्राप्त प्रोडक्शन मैनेजरों तथा सैल्स मैनेजरों आदि पर निर्भर करती है। इस प्रकार कर्मकारों और इंजीनियरों आदि की शिक्षा पर किया गया व्यय अपने में निवेश है।

(5) व्यक्ति की शिक्षा पर किए जाने वाले व्यय से व्यक्ति की स्वयं की आय प्रभावित होती है। हम जानते हैं कि उद्योगों में साधारण प्रशिक्षण प्राप्त व्यक्ति को कम वेतन मिलता है, डिप्लोमा प्राप्त व्यक्तियों को उनसे अधिक और अधिक समय तक अधिक धन व्यय कर इंजीनियरिंग की डिग्री प्राप्त करने वाले व्यक्तियों को उनसे भी अधिक वेतन मिलता है। इस क्षेत्र में की गई शोधों से पता चलता है कि शिक्षा पर किया जाने वाला व्यय अपने में विनियोग है।

(6) शिक्षा पर व्यय करने से राष्ट्रीय आय में वृद्धि होती है। जो राष्ट्र सामान्य, प्रोफेशनल और विज्ञान तथा तकनीकी शिक्षा पर जितना अधिक व्यय करता है उसकी राष्ट्रीय आय उतनी ही अधिक होती है। इससे स्पष्ट है कि शिक्षा पर किए जाने वाला व्यय विनियोग है।

(7) इस क्षेत्र की शोधों के परिणामों से यह भी निष्कर्ष निकलता है कि जिन राष्ट्रों में शिक्षा का नियोजन करते समय समाज की माँग और उसके अनुकूल शिक्षा व्यवस्था करने का जितना अधिक प्रयत्न किया जाता है उनमें उतना ही अधिक प्रतिफल प्राप्त होता है। इसमें भी यही स्पष्ट होता है कि शिक्षा अपने में विनियोग है।

1.18 शिक्षा मानव मूलधन के रूप में

बहुत पुरानी कहावत है–राजा देश में ही पूजा जाता है, विद्वान की पूजा सारे संसार में होती है। यह भी धारणा है कि पढ़ा-लिखा व्यक्ति कभी भूखा नहीं मरता। शिक्षा को कभी समाप्त न होने वाला धन कहा जाता है।

अंग्रेजी शब्द कैपीटल का अर्थ होता है–मुख्य। सामान्यत: इस शब्द का प्रयोग किसी देश के बड़े नगरों के लिए अथवा उनकी राजधानियों के लिए किया जाता है। अर्थशास्त्र में इसका अर्थ मूलधन होता है। अर्थशास्त्र में मूलधन उस धन को कहते हैं जिसके विनियोग से कोई मनुष्य और अधिक धन अर्जित करता है। सामान्यत: कोई मनुष्य किसी उद्योग अथवा व्यवसाय में जितना अधिक मूलधन लगाता है उसे उतना ही अधिक आर्थिक लाभ होता है। मूलधन की उपयोगिता उसकी सुरक्षा और उसके उचित विनियोग में निहित होती है। बस यही बात शिक्षा के साथ है। जो मनुष्य जितना अधिक शिक्षित होता है, उसके पास जितनी अधिक शैक्षिक उपाधियाँ होती हैं, जितनी अधिक उसमें योग्यता एवं क्षमता होती है और वह अपनी इन शैक्षिक उपाधियों और अपनी योग्यता का जितना अधिक प्रयोग करता है उसे उतना ही अधिक आर्थिक लाभ होता है। और जिस प्रकार मूलधन की उपयोगिता उसकी सुरक्षा तथा उसके विनियोग में निहित होती है ठीक उसी प्रकार शिक्षा की उपयोगिता भी उसकी सुरक्षा और उसके उचित प्रयोग में निहित होती है। इन दोनों में अंतर केवल इतना होता है कि धन बाह्य वस्तु होता है और शिक्षा मनुष्य का अपना गुण। इसी आधार पर शैक्षिक अर्थशास्त्र में शिक्षा को मानव मूलधन कहा जाता है।

शिक्षा से मनुष्य को सामान्यत: तीन प्रकार के लाभ होते हैं–पहला यह कि उससे उसे मानसिक संतोष मिलता है, दूसरा यह कि उससे उसे समाज में सम्मान मिलता है और तीसरा यह कि उससे

उसे आर्थिक लाभ होता है। कुछ शिक्षा ऐसी होती हैं जिससे मनुष्य को केवल पहला लाभ मिलता है; जैसे–आध्यात्मिक ज्ञान। कुछ शिक्षा ऐसी होती हैं जिससे मनुष्य को पहले दो प्रकार के लाभ मिलते हैं; जैसे–किसी विषय विशेष में उच्च योग्यता प्राप्त करना, विशिष्ट ज्ञान प्राप्त करना। और कुछ शिक्षा ऐसी होती हैं जिससे मनुष्य को तीनों प्रकार के लाभ होते हैं; जैसे–हाई स्कूल, इण्टर आदि शिक्षा के प्रमाणपत्र, स्नातक, परास्नातक एवं डॉक्ट्रेट की उपाधियाँ और न्याय, अध्यापन, इंजीनियरिंग, मेडीकल व प्रशासन संबंधी उपाधियाँ। इस शिक्षा से उन्हें मानसिक संतोष मिलता है, समाज में सम्मान मिलता है और आर्थिक लाभ मिलता है। शैक्षिक अर्थशास्त्र में यह तीसरे प्रकार की शिक्षा को ही मानव मूलधन कहा जाता है। देखा यह गया है कि जिस राष्ट्र के नागरिकों के पास जितना अधिक यह मानव मूलधन होता है वह राष्ट्र उतना ही अधिक आर्थिक विकास करता है। तभी आज के भौतिकवादी युग में सबसे अधिक बल उत्पादन एवं उद्योग संबंधी शिक्षा पर दिया जाता है।

नोट

1.19 शिक्षा और राष्ट्र का आर्थिक विकास

राष्ट्र के आर्थिक विकास से तात्पर्य सामान्यत: आय की उत्तरोत्तर वृद्धि से लिया जाता है। राष्ट्रीय आय साधारणत: सकल राष्ट्रीय उत्पाद (जी. एन. पी.) से मापी जाती है। सकल राष्ट्रीय उत्पाद से मशीन आदि की घिसावट घटाने से विशुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद (एन. एन. पी.) का पता चलता है। सामान्य व्यक्ति विशुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद को ही राष्ट्रीय आय मानते हैं। परंतु आर्थिक विकास के लिए तो आर्थिक विकास किया नहीं जाता, उससे व्यक्तियों के जीवन स्तर में गुणात्मक वृद्धि होनी चाहिए। यह हो सकता है कि राष्ट्रीय आय बढ़ने पर भी राष्ट्र के नागरिकों का जीवन स्तर न उठे, उसमें गिरावट भी आ सकती है। यह तब होता है जब जनसंख्या में वृद्धि की दर राष्ट्रीय आय में वृद्धि की दर से अधिक होती है। इसलिए अब राष्ट्र के आर्थिक विकास को राष्ट्रीय आय के स्थान पर राष्ट्र की प्रति व्यक्ति आय के रूप में मापा जाता है। राष्ट्रीय आय को राष्ट्र की कुल जनसंख्या से विभाजित करने पर राष्ट्र की प्रति व्यक्ति आय प्राप्त होती है। लेकिन यह भी संभव है कि राष्ट्र में प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि होने पर भी नागरिकों का जीवन स्तर न उठे। ऐसा तब होता है जब मुद्रा का अवमूल्य हो जाता है, मँहगाई बढ़ जाती है। अत: यह आवश्यक है कि प्रति व्यक्ति आय के साथ-साथ मुद्रा के तात्कालिक मूल्य को भी ध्यान में रखा जाए। इस प्रकार यदि किसी राष्ट्र में प्रति व्यक्ति आय में निरंतर वृद्धि होती है, इतनी वृद्धि की मुद्रा के अवमूल्यन के बाद भी उसके नागरिकों के जीवन स्तर में गुणात्मक विकास होता है तो उसे हम राष्ट्र का आर्थिक विकास कहेंगे।

किसी राष्ट्र का आर्थिक विकास मूल रूप से उत्पादन और वितरण पर निर्भर करता है। इनमें से उत्पादन निर्भर करता है प्राकृतिक संसाधनों (भूमि, कच्चा माल, खनिज पदार्थ आदि) एवं मानवीय संसाधनों (पूँजी, यंत्र, श्रम, संगठन, प्रशासन और अनुसंधान आदि) पर। और वितरण निर्भर करता है केवल मानवीय संसाधनों पर। इस क्षेत्र में किए गए अध्ययनों से यह निष्कर्ष निकला है कि किसी राष्ट्र का आर्थिक विकास प्राकृतिक संसाधनों की अपेक्षा मानवीय संसाधनों पर अधिक निर्भर करता है। और मानवीय संसाधनों का विकास शिक्षा पर निर्भर करता है। तब कहना न होगा कि किसी राष्ट्र के आर्थिक विकास में शिक्षा की अहम् भूमिका होती है। शिक्षा द्वारा किसी राष्ट्र के नागरिकों की क्षमता, योग्यता और निपुणता में जितना अधिक विकास किया जाएगा, उन्हें उत्पादन के प्रति जितना अधिक सचेत किया जाएगा और उत्पादन के क्रय-विक्रय में जितना अधिक चतुर किया जाएगा उतना ही अधिक उस राष्ट्र का आर्थिक विकास होगा।

नोट

अब प्रश्न उठता है कि आर्थिक विकास के लिए किस प्रकार की शिक्षा आवश्यक है। सामान्यत: लोग यह सोचते हैं कि आर्थिक विकास के लिए केवल व्यावसायिक, तकनीकी एवं प्रबंध शिक्षा ही आवश्यक होती है परंतु वास्तविकता यह है कि आर्थिक विकास के लिए सामान्य एवं विशिष्ट दोनों प्रकार की शिक्षा आवश्यक होती है।

सामान्य शिक्षा की भूमिका–सामान्य शिक्षा वह शिक्षा है जिसकी व्यवस्था कोई देश, राज्य अथवा राष्ट्र अनिवार्य एवं नि:शुल्क रूप से करता है। इसका उद्देश्य बच्चों का शारीरिक, मानसिक, सामाजिक एवं नैतिक विकास करना होता है। इसमें भाषा ज्ञान, अभिव्यक्ति कौशल, समायोजन और परिवर्तनशीलता पर विशेष बल दिया जाता है। इस क्षेत्र में किए गए अध्ययनों से पता चलता है कि इन गुणों एवं क्षमताओं का उत्पादन एवं वितरण कुशलता पर लगभग उतना ही प्रभाव पड़ता है जितना उत्पादन एवं वितरण संबंधी तथ्यों के ज्ञान एवं कौशल का पड़ता है। इअत: विशिष्ट तकनीकी ज्ञान एवं कौशलों के प्रशिक्षण से पहले मनुष्य के लिए सामान्य शिक्षा की आवश्यकता होती है। हमारे देश भारत में 14 वर्ष तक बच्चों के लिए सामान्य, अनिवार्य एवं नि:शुल्क शिक्षा की व्यवस्था है। इस आयु तक बच्चे कक्षा 8 ही उत्तीर्ण कर पाते हैं। हमारी दृष्टि से सामान्य, अनिवार्य एवं नि:शुल्क शिक्षा की व्यवस्था बच्चों की आयु नहीं, शिक्षा स्तर होना चाहिए और यह शिक्षा स्तर 10 + 2 + 3 की राष्ट्रीय शिक्षा योजना के कक्षा 10 तक होना चाहिए। तब सामान्य शिक्षा द्वारा बच्चों में एक ओर तो भाषा ज्ञान, समायोजन क्षमता और परिवर्तनशीलता का विकास किया जा सकेगा और दूसरी ओर इससे निम्न वर्ग के कर्मचारी; जैसे–चौकीदार और दफ्तरी आदि और मध्यम वर्ग के कर्मचारी; जैसे–स्टोर कीपर और लिपिक आदि तैयार किए जा सकेंगे। जीवन के सामान्य कार्यों; जैसे–पोस्ट ऑफिस, बैंक और जीवन बीमा संबंधी कार्यों को भी ये कुशलतापूर्वक संपादित कर सकेंगे। भारत जैसे लोकतंत्रीय देश के नागरिक कम से कम इतने शिक्षित तो होने ही चाहिए।

विशिष्ट शिक्षा की भूमिका–विशिष्ट शिक्षा वह शिक्षा है जो मनुष्यों को विशिष्ट क्षेत्रों में कार्य करने के लिए तैयार करती है; जैसे– कृषि, कुटीर उद्योग, भारी उद्योग, शिक्षा, न्याय, स्वास्थ्य और निर्माण आदि। इसका उद्देश्य इन विभिन्न क्षेत्रों के लिए कुशल कर्मकार, इंजीनियर, तकनीसियन, व्यवस्थापक एवं प्रशासक आदि का निर्माण करना होता है। हमारी राष्ट्रीय शिक्षा योजना 10 + 2 + 3 में यह कार्य + 2 तथा + 3 पर किया जाता है। +2 पर विभिन्न कुटीर उद्योगों को चलाने का प्रशिक्षण देने और भारी उद्योगों के लिए कुशल कर्मकार तैयार करने का सुझाव है। + 3 स्तर पर इंजीनियरों, डॉक्टरों, वकीलों, प्रशासकों आदि की शिक्षा के लिए पहले से ही व्यवस्था है। इंजीनियरिंग कॉलिजों, मेडिकल कॉलिजों और विश्वविद्यालयों में विभिन्न क्षेत्रों में शोध कार्य की व्यवस्था भी है। इस शिक्षा से कृषि एवं उद्योग के क्षेत्र में उत्पादन बढ़ रहा है, वितरण की दशाओं में सुधार हो रहा है और राष्ट्रीय आय बढ़ रही है। परिणामत: राष्ट्र का आर्थिक विकास हो रहा है। साफ जाहिर है कि शिक्षा किसी राष्ट्र के आर्थिक विकास का मूल साधन है।

1.20 समाजीकरण का अर्थ एवं परिभाषा

अपने जन्म के समय बालक एक मनोशारीरिक प्राणी (Psychophysical Animal) होता है। वह न तो सामाजिक होता है और न असामाजिक। लेकिन धीरे-धीरे वह सामाजिक वातावरण से प्रभावित होने लगता है। उसमें सामाजिक चेतना और सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना विकसित होनी आरंभ हो जाती है। वह समाज में प्रचलित परंपराओं, मान्यताओं, आकांक्षाओं, मूल्यों, आदर्शों और संस्कृति

का अनुपालन करने लगता है और उनके प्रभाव में आकर उनके ही अनुसार व्यवहार करने लगता है। यही समाजीकरण कहलाता है। इस प्रकार समाजीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति समाज में रहकर उसके मूल्यों, आदर्शों, विश्वासों और जीवनइ अशैली को सीखता है और उसे अपने व्यक्तित्व का अंग बनाता है।

नोट

समाजीकरण के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए विभिन्न विद्वानों द्वारा दी गई कुछ परिभाषाएँ निम्न प्रकार हैं–

किंबाल यंग के अनुसार, ''समाजीकरण का अर्थ यह है कि व्यक्ति जनरीतियों, रूढ़ियों, कानूनों, अपनी संस्कृति के अन्य लक्षणों, कुशलताओं और अन्य आवश्यक आदतों को सीखता है, जो समाज का क्रियाशील सदस्य बनने में सहायता देती हैं। वह अपने आपको, अपने परिवार, पड़ोस और वर्ग के अनुकूल बनाना सीखता है। सारांशत: समाजीकरण की संपूर्ण प्रक्रिया अंत:क्रिया या सामाजिक कार्य के अंतर्गत आती है।''

बोगार्डस के शब्दों में, ''एक साथ मिलकर कार्य करने, सामूहिक उत्तरदायित्व की भावना विकसित करने, अन्य व्यक्तियों की कल्याण संबंधी आवश्यकताओं को सामने रखकर कार्य करने की प्रक्रिया को समाजीकरण की प्रक्रिया कहते हैं।''

हैविघर्स्ट एवं **न्यूगार्टन** के शब्दों में, ''समाजीकरण वह प्रक्रिया है, जिसके माध्यम से बालक अपने समाज के स्वीकृत ढंगों को सीखते हैं तथा इन ढंगों को अपने व्यक्तित्व का एक अंग बना लेते हैं।''

गिलिन एवं **गिलिन** के अनुसार, ''समाजीकरण से हमारा तात्पर्य उस प्रक्रिया से है जिसके द्वारा व्यक्ति समूह का एक क्रियात्मक सदस्य बनता है तथा उसी के स्तर के अनुसार कार्य करता है। उसके लोकाचार, परंपरा तथा सामाजिक परिस्थितियों के साथ अपना समन्वय स्थापित करता है।''

ग्रीन के अनुसार, ''समाजीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा बालक सांस्कृतिक विशेषताएँ, आत्म और व्यक्तित्व को प्राप्त करता है।''

1.21 समाजीकरण की विशेषताएँ

बालक के समाजीकरण की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं–

1. समाजीकरण की प्रक्रिया तीन महत्त्वपूर्ण पक्षों–जीव रचना, व्यक्ति तथा समाज पर आधारित है।
2. समाजीकरण सीखने की एक प्रक्रिया है। सामाजिक मूल्यों, आदर्शों और प्रतिमानों को सीखना ही समाजीकरण है।
3. समाजीकरण के द्वारा एक जैविकीय व्यक्ति सामाजिक प्राणी बन जाता है।
4. समाजीकरण की प्रक्रिया जन्म से लेकर मृत्यु-पर्यन्त चलने वाली प्रक्रिया है।
5. समाजीकरण प्रक्रिया के द्वारा बालक समाज का कार्यात्मक सदस्य बन जाता है।
6. समाजीकरण की प्रक्रिया व्यक्ति के 'आत्म' के विकास (क्मअमसवचउमदज वि मसि) करने में सहायक होती है।
7. समाजीकरण की प्रक्रिया के द्वारा व्यक्ति सांस्कृतिक मूल्यों, मानकों और समाज द्वारा स्वीकृत व्यवहारों को सीखता है और संस्कृति के भौतिक तथा अभौतिक तत्वों को आत्मसात करता है।

नोट

8. समाजीकरण की प्रक्रिया अनुकूलन करना सिखाती है।
9. समाजीकरण की प्रक्रिया के द्वारा संस्कृति जीवित रहती है और समाज अपनी निरंतरता बनाए रखता है। समाजीकरण की प्रक्रिया ही संस्कृति को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित करती रहती है।
10. समाजीकरण प्रक्रिया के द्वारा व्यक्ति समाज के विभिन्न समूहों का सदस्य बन जाता है।
11. समाजीकरण की प्रक्रिया अत्यंत व्यापक होती है।
12. समाजीकरण सापेक्षिक क्रिया है। समय और स्थान के अनुसार इसका रूप बदला हुआ हो सकता है।

1.22 समाजीकरण की प्रक्रिया

समाजीकरण की प्रक्रिया की व्याख्या दो दृष्टिकोणों से की जा सकती है–

1. वैयक्तिक दृष्टि से।
2. वस्तुनिष्ठ दृष्टि से।

वैयक्तिक दृष्टि से समाजीकरण वह प्रक्रिया है, जो समाज के सदस्यों में आंतरिक रूप से उस समय तक चलती रहती है जब तक कि वे अपने वातावरण के साथ समायोजन करने में समर्थ नहीं हो जाते। इस दृष्टि से व्यक्ति उस समाज के नियमों, परंपराओं और मूल्यों को अपना लेता है, जिसमें वह रहता है। समाजीकरण की यह प्रक्रिया आजीवन चलती रहती है। वस्तुनिष्ठ दृष्टि से समाजीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा समाज अपनी संस्कृति को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित करता है। इस दृष्टि से यह प्रक्रिया समाज के सदस्यों को उन सामाजिक कार्यों की शिक्षा प्रदान करती है, जिनको उन्हें करना चाहिए।

समाजीकरण की प्रक्रिया के महत्त्वपूर्ण कारक हैं–

1. **पालन-पोषण** (Child Rearing)–समाजीकरण के लिए यह आवश्यक है कि बालक का पालन-पोषण समुचित ढंग से किया जाए। ऐसा होने पर ही वह समाज के मूल्यों और आदर्शों के अनुसार आचरण करना सीखता है।
2. **अनुसरण** (Imitation)–बालक केवल अपने माता-पिता का ही अनुसरण नहीं करता अपितु अपने भाई-बहनों, परिवारों के अन्य सदस्यों, पड़ोसियों और समुदाय के अन्य सदस्यों को भी अनुसरण करता है। बालक अपने से बड़ों के कार्यों को देखकर समाज की परंपराओं और आदर्शों को अपनाता है। इस प्रकार अनुसरण समाजीकरण का आधारभूत तत्व है।
3. **निर्देश** (Suggestion)–निर्देशों या सुझावों का बालक के समाजीकरण से गहरा संबंध है। बालक वही कार्य करता है जिसको करने के लिए दूसरे व्यक्तियों द्वारा उसको कहा जाता है या उसको निर्देश दिया जाता है। इस प्रकार निर्देश सामाजिक व्यवहार की दिशा को निर्धारित करते हैं।
4. **सहानुभूति** (Sympathy)–समाजीकरण की प्रक्रिया में सहानुभूति का भी विशेष महत्त्व है। बालक को अपने जीवन में सहानुभूति की बहुत अधिक आवश्यकता होती है। सहानुभूति के द्वारा बालक में अपनत्व की भावना का विकास होता है। बालक उन लोगों के साथ विशेष लगाव रखता है, उनसे अधिक प्रेम करता है, उनकी बातों को सहज में ही स्वीकार

कर लेता है, जो उससे सहानुभूति रखते हैं।

5. **सहयोग** (Co-operation)–समाज ही बालक को सामाजिक प्राणी बनाता है। सामाजिक गुणों का प्रादुर्भाव उसमें समाज के द्वारा ही होता है। जैसे-जैसे बालक समाज के अन्य व्यक्तियों से सहयोग प्राप्त करता है; वैसे-वैसे वह उनको अपना सहयोग देना भी आरंभ कर देता है। इससे उसकी सामाजिक प्रवृत्तियाँ संगठित होती हैं।
6. **आत्मीयता** (Identification)–आत्मीयता पारस्परिक विश्वास और सम्मान का व्यक्तिगत संबंध है। परिवार, पड़ोस और समुदाय के प्रेमपूर्ण व्यवहार और सहानुभूति से बालक में आत्मीयता की भावना पैदा होती है, जो व्यक्ति बालक से प्यार करते हैं, उसके साथ सहयोग और सहानुभूति का व्यवहार करते हैं, बालक भी उनको अपना समझने लगता है और उनके व्यवहार, आचरण, रहन-सहन, भाषा, आदर्शों आदि को अपनाने का प्रयत्न करता है।
7. **पुरस्कार और दंड** (Reward and Punishment)–बालक के समाजीकरण में पुरस्कार और दंड भी बहुत सहायक होते हैं। जब बालक अच्छे कार्य करता है, समाज के आदर्शों, मूल्यों और मान्यताओं के अनुसार व्यवहार करता है, तो उसको प्रशंसा मिलती है या पुरस्कार मिलता है। लेकिन जब बालक समाज के आदर्शों, मूल्यों और मान्यताओं के विपरीत कार्य करता है अथवा असामाजिक कार्य करता है तो उसको दंड मिलता है। इससे बालक के समाजीकृत होने में बहत सहायता मिलती है।

नोट

1.23 बालक का समाजीकरण करने वाले तत्व या कारक

समाजीकरण की प्रक्रिया आजीवन चलने वाली प्रक्रिया है। अत: इसमें समाज की अनेक संस्थाओं का योगदान होता है। बालक के समाजीकरण में सहायता प्रदान करने वाले प्रमुख तत्व अग्र प्रकार हैं–

1. **परिवार** (Family)–बालक के समाजीकरण का सबसे प्रमुख और सबसे महत्त्वपूर्ण कारक परिवार है। **किंबाल यंग** के शब्दों में–''समाज के अंदर समाजीकरण के विभिन्न साधनों में परिवार सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है।'' बालक का जन्म परिवार में होता है और वहीं पर उसका विकास होता है। परिवार में ही वह खाना-पीना, उठना-बैठना, चलना-फिरना, वस्त्र पहनना, पूजापाठ करना आदि कार्यों को करना सीखता है। परिवार में ही वह समाज के नियमों का प्रारंभिक और व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करता है। परिवार में ही वह प्रेम, सहयोग, सहकारिता, सहानुभूति, दया, क्षमा, त्याग, सद्भाव, सहनशीलता और कर्तव्यपरायण ाता आदि सामाजिक गुणों को सीखता है। व्यक्ति आजीवन परिवार में रहता है। अत: परिवार समाजीकरण का सबसे अधिक स्थायी साधन है। माता-पिता, भाई-बहन, दादा-दादी, चाचा-चाची, ताऊ-ताई आदि परिवार के सभी सदस्य बालक के समाजीकरण में सक्रिय रहते हैं। परिवार के सदस्य ही बालक को अच्छा-बुरा, उचित-अनुचित, सही-गलत, वांछनीय-अवांछनीय, न्यायसंगत-अन्यायसंगत आदि का ज्ञान कराते हैं।इ परिवार के सहयोगी और भावात्मक वातावरण का बालक के समाजीकरण पर अनकूल प्रभाव पड़ता है और अपराधी विकृत, विघटित परिवारों को बालक के समाजीकरण पर विपरीत प्रभाव पड़ता है।
2. **विद्यालय** (School)–बालक का समाजीकरण करने वाले तत्वों में परिवार के बाद सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तत्व विद्यालय है। विद्यालय बालक के समाजीकरण का औपचारिक

साधन है। विद्यालय में बालक को उसकी सभ्यता और संस्कृति से परिचित कराया जाता है, उसे समाज के मूल्य और मान्यताओं के विषय में जानकारी दी जाती है और उसे उनके अनुसार आचरण करने के लिए प्रेरित किया जाता है। विद्यालय में बालक का समुचित समाजीकरण करने के लिए निम्नलिखित उपाय किए जाने चाहिए–

(i) विद्यालयों में सामूहिक कार्यों; जैसे–वाद-विवाद, पत्र-पठन, नाटक, पर्यटन आदि का आयोजन किया जाना चाहिए।

(ii) विद्यालय में सामाजिक उत्सवों का आयोजन किया जाना चाहिए।

(iii) विद्यालय में खेल-कूद, साहित्यिक सांस्कृतिक आदि पाठ्यक्रम सहगामी क्रियाओं की व्यापक व्यवस्था की जानी चाहिए।

(iv) विद्यालय में बालकों को सामूहिक अंत:क्रिया के अधिकाधिक अवसर प्रदान किए जाने चाहिए।

(v) सामाजिक अनुभवों और सामाजिक कौशलों जैसे पत्र-लेखन, सहभोज, दूरभाष का प्रयोग आदि की शिक्षा प्रदान की जानी चाहिए।

(vi) विद्यालय का वातावरण प्रेम, सहयोग और सद्भाव से पूर्ण होना चाहिए।

(vii) विद्यालय का जीवन अनुशासनपूर्ण होना चाहिए बालकों में आत्मानुशासन की भावना का विकास किया जाना चाहिए।

(viii) सामाजिक रीतियों, परंपराओं और कुप्रथाओं के निराकरण के विषय में बालकों को बताया जाना चाहिए।

(ix) बालकों में पुरस्कार और दंड के रूप में सामाजिक प्रतिष्ठा और तिरस्कार की स्वस्थ भावना का विकास किया जाना चाहिए।

(x) विद्यालय को लघु समुदाय का रूप दिया जाना चाहिए।

3. **पड़ोस और संगी साथी** (Neighbourhood and Peer-Group)–बालक के समाजीकरण में पड़ोस और संगी साथी भी सहायक होते हैं। परिवार से निकालकर वह अपने पड़ोस में रहने वाले व्यक्तियों और अपने समवयस्क बालकों के संपर्क में आता है। उनके साथ उठता-बैठता है, खेलता है, बातें करता है, कभी लड़ता-झगड़ता है और कभी प्यार करता है। पड़ोस ही उसको अच्छी या बुरी संगति प्रदान करता है। अच्छी संगति में उसका विकास होता है और बुरी संगति में वह बिगड़ भी सकता है। पड़ोस और संगी-साथी अच्छे, सभ्य और सुसंस्कृत हैं तो बालक का समाजीकरण उचित रूप में और तीव्र गति से होता है और यदि पड़ोस और संगी-साथी अच्छे नहीं हैं तो उसका समाजीकरण उचित दिशा में नहीं होता।

4. **जाति** (Caste)–बालक के समाजीकरण का एक प्रमुख साधन जाति है। प्रत्येक जाति की अपनी रीतियाँ, परंपराएँ, मूल्य और आदर्श होते हैं और बालक अपनी जाति की इन्हीं रीतियों, परंपराओं, मूल्यों और आदर्शों को अपनाता है। इसी कारण प्रत्येक जाति के बालकों का समाजीकरण भी अलग-अलग होता है। यद्यपि हमारे देश में संविधान के अनुसार कोई वर्ग भेद नहीं है, कोई छोटा-बड़ा या ऊँचा-नीचा नहीं है लेकिन व्यावहारिक रूप से कुछ जातियाँ–ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि अपने को ऊँचा और श्रेष्ठ समझती हैं जिसके परिए

ाामस्वरूप इन जातियों के बालकों के अंदर अहम् और अभिमान की भावना पैदा हो जाती है तथा दूसरी जातियों के बालक हीनता के शिकार रहते हैं। इन बातों का सीधा प्रभाव उनके समाजीकरण पर पड़ता है।

नोट

5. **समुदाय** (Community)–बालक के समाजीकरण में समुदाय का विशेष योगदान है। समुदाय अपनी संस्कृति, कला, साहित्य, इतिहास, प्रथाओं, परंपराओं, पूर्व धारणाओं, मनोरंजन के साधनों, शिक्षा के अभिकरणों, सुविधाओं, सामाजिक और धार्मिक उत्सवों और त्योहारों के द्वारा बालक के समाजीकरण को प्रभावित करता हैं। समुदाय की सामूहिक क्रियाओं में भाग लेने से भी बालक के समाजीकरण में सहायता मिलती है। समुदाय का संगठन और उसकी सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक स्थिति भी बालक के समाजीकरण को प्रभावित करती है।
6. **धार्मिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक संस्थाएँ** (Religious, Economic, Cultural and Political Institutions)–बालक के समाजीकरण पर समाज की धार्मिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक संस्थाओं का भी गहरा प्रभाव पड़ता है। समाज धार्मिक रूप से कट्टर है अथवा उदार, आर्थिक रूप से पूँजीवादी है अथवा समाजवादी, राजनीतिक रूप से राजतंत्रवादी है, प्रजातंत्रवादी है या अधिनायकवादी है, आदि बातें बालक के समाजीकरण पर प्रभाव डालती हैं। समाज की सांस्कृतिक संस्थाएँ बालक को समाज के रीति-रिवाजों, परंपराओं और सांस्कृतिक गतिविधियों से परिचित कराती हैं। भिन्न-भिन्न संस्थाओं के संपर्क में आने वाले बालकों के समाजीकरण में अंतर पाया जाता है।
7. **खेलकूद** (Games and Sports)–खेलकूद बालक के समाजीकरण में बहुत योगदान देते हैं। बालक की रुचि खेलकूद में बहुत अधिक होती है। वह खेलते समय जाति, धर्म, वर्ण, संप्रदाय, ऊँच-नीच और अन्य सभी प्रकार के भेदभावों से ऊपर उठकर दूसरे बालकों के साथ आनंद प्राप्त करता है। खेल-कूद में बालक की सामाजिक अंत:क्रिया का सर्वश्रेष्ठ प्रदर्शन होता है। खेलकूद में बालक में प्रेम, सहयोग, सहनशीलता, वफादारी, सहानुभूति, नियम-पालन और टीम भावना आदि अनेक गुणों का विकास सहज ही हो जाता है।
8. **स्काउटिंग एवं गर्ल गाइडिंग** (Scouting and Girl Guiding)–बालक के समाजीकरण करने वाले तत्वों में स्काउटिंग और गर्ल गाइडिंग का भी विशेष स्थान है। स्काउटिंग और गर्ल गाइडिंग जाति, धर्म, वर्ण, संप्रदाय, ऊँच-नीच, बड़े-छोटे, धनवान-निर्धन के भेद तथा संकुचित राष्ट्रीयता की भावना को समाप्त करती है। वह समस्याएँ बालक के दृष्टिकोण को व्यापक बनाती हैं, उनको सामूहिक कार्य करने के अवसर प्रदान करती हैं और उनमें नि:स्वार्थ भाव से सेवा करने की भावना का विकास करती हैं। इन संस्थाओं की गतिविधियों में भाग लेने से बालक में प्रेम, सहयोग, सहकारिता, परोपकार, अपनेपन की भावना, ईमानदारी, निष्ठा आदि गुणों का विकास होता है, जो समाजीकरण में बहुत सहायक हैं।

1.24 बालक के समाजीकरण में बाधक तत्व

मैसलो (Maslow) के अनुसार बालक के समाजीकरण में बाधक तत्व निम्न प्रकार हैं–

1. बाल्यकालीन परिस्थितियाँ–जैसे माता-पिता से प्यार न मिलना, माता-पिता के मध्य कलह और संघर्ष, विधवा माँ, माता-पिता का पक्षपातपूर्ण व्यवहार, अनुचित दंड, असुरक्षा, एकाकीपन आदि।

नोट

2. सांस्कृतिक परिस्थितियाँ–जैसे धर्म, जाति, वर्ग आदि से संबंधित पूर्व धारणाएँ और पूर्वाग्रह आदि।
3. तत्कालीन परिस्थितियाँ–जैसे–अन्याय, अपमान, निराशा, ईर्ष्या, कठोरता आदि।
4. अन्य परिस्थितियाँ–जैसे–शारीरिक हीनता, आत्मविश्वास का अभाव, शारीरिक दोष, शिक्षा का अभाव, आत्मनिर्भरता का अभाव, बेरोजगारी, असफलताएँ आदि।

1.25 समाजीकरण की प्रक्रिया में शिक्षक का उत्तरदायित्व

बालक के समाजीकरण की प्रक्रिया में माता-पिता या परिवार के बाद शिक्षक का स्थान सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। समाजीकरण की प्रक्रिया को प्रोत्साहित करने के लिए शिक्षक को निम्नलिखित कार्य करने चाहिए।

1. **संस्कृति का हस्तांतरण** (Transmission of Culture)–संस्कृति व्यक्ति के आचरण को प्रभावित करती है। पाशविक शक्तियों पर नियंत्रण और समाजोपयोगी तत्वों का विकास संस्कृति की सहायता से ही होता है। शिक्षक को बालकों को समाज की संस्कृति से परिचित कराना चाहिए और उसके मन में उसके प्रति सम्मान की भावना उत्पन्न करनी चाहिए। इससे बालक के समाजीकरण में सहायता मिलेगी।
2. **सामूहिक कार्यों को प्रोत्साहन** (Encouragement of group Work)–बालक के समाजीकरण में सहायता प्रदान करने के लिए शिक्षक को विद्यालय में सामूहिक क्रियाओं का आयोजन करना चाहिए और उनमें भाग लेने के लिए बालकों को प्रोत्साहित करना चाहिए। इससे उनमें सामूहिक भावना का उदय होगा।
3. **सामाजिक वातावरण का निर्माण** (to form the Social Environment)–बालक के उचित समाजीकरण के लिए शिक्षक को विद्यार्थियों के साथ मधुर संबंध स्थापित करने चाहिए और अधिक से अधिक संपर्क स्थापित करना चाहिए। शिक्षक को विद्यालय में उच्च सामाजिक वातावरण का निर्माण करना चाहिए। प्रधानाचार्य, शिक्षकों, विद्यार्थियों, अधिकारियों और कर्मचारियों को मतभेदों, गुटबंदी और गंदी राजनीति से दूर रहना चाहिए। उन्हें परस्पर प्रेमपूर्ण, सहयोगपूर्ण, सहानुभूति और सद्भावनापूर्ण व्यवहार करना चाहिए।
4. **अंतर सांस्कृतिक भावना का विकास** (Development of Intercultural Feeling) –विद्यालय के अंदर अलग-अलग संस्कृतियों के बालक शिक्षा प्राप्त करने के लिए आते हैं। शिक्षक को बालकों में इस प्रकार की भावना का विकास करना चाहिए कि वे दूसरों की संस्कृतियों के प्रति आदर का भाव रखें, उनका सम्मान करें, उनके दृष्टिकोण को समझने का प्रयत्न करें और संकीर्ण भावनाओं से ऊपर उठें।
5. **सामाजिक आदर्शों का प्रस्तुतीकरण** (Presentation of Social Ideals)–शिक्षकों के अपने कथनों और विभिन्न क्रियाओं द्वारा बालकों के समक्ष उच्च आदर्शों को प्रस्तुत करना चाहिए जिससे बालक उनका अनुकरण कर उच्च सामाजिक आचरण करना सीख सकें। इससे बालक के समाजीकरण में सहायता मिलेगी।
6. **स्वस्थ मानवीय संबंध** (Healthy Human Relations)–समाजीकरण के लिए स्वस्थ मानवीय संबंधों का होना आवश्यक है। अतः शिक्षक का उत्तरदायित्व है कि वह विद्यालय में स्वस्थ मानवीय संबंधों का निर्माण करे। विद्यालय में छात्र-छात्र में, शिक्षक-शिक्षक में,

छात्र-शिक्षक में, छात्र-प्रधानाचार्य में, शिक्षक-प्रधानाचार्य में, मधुर संबंध स्थापित किए जाने चाहिए। विद्यालय का वातावरण अच्छे और स्वस्थ मानवीय संबंधों से ओत-प्रोत होना चाहिए।

नोट

7. **विद्यालय परंपराएँ** (School Traditions)–विद्यालय की परंपराओं का बालक के समाजीकरण पर गहरा प्रभाव पड़ता है। अत: शिक्षक को चाहिए कि वह विद्यालय में सामाजिक दृष्टि से स्वस्थ और उपयोगी परंपराओं का विकास करे, उन परंपराओं में बालकों का विश्वास उत्पन्न करे और उन्हीं के अनुसार कार्य करने के लिए प्रोत्साहित करें।
8. **स्वस्थ प्रतियोगिता की भावना** (Feeling of Healthy Competition)–बालक के समाजीकरण में स्वस्थ प्रतियोगिता का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। अत: शिक्षक को बालकों में स्वस्थ प्रतियोगिता की भावना का विकास करना चाहिए।
9. **विद्यालय सामुदायिक केंद्र के रूप में** (School Should be a Community Centre) –विद्यालय स्वयं में एक सामुदायिक केंद्र होना चाहिए। वहाँ पर ऐसे कार्यक्रमों का आयोजन और व्यवस्था की जानी चाहिए जिनका सीधा संबंध समुदाय में होने वाले कार्यों से हो। यदि विद्यालय परिवार के सदस्य, समुदाय के सदस्यों के साथ और समुदाय के सदस्य विद्यालय परिवार के सदस्यों के साथ सहयोग करेंगे तो बालकों का समाजीकरण समुचित रूप से स्थायी रूप में हो सकेगा।
10. **पाठ्यक्रम सहगामी क्रियाओं का आयोजन** (Organizing Co-curricular Activities) –बालक के समाजीकरण के विकास में पाठ्यक्रम सहगामी क्रियाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है। शिक्षक द्वारा बालकों में सामाजिक गुणों का विकास करने के लिए खेलकूद, साहित्यिक एवं सांस्कृतिक कार्यक्रमों, स्काउटिंग, एन. सी. सी., राष्ट्रीय सेवा योजना आदि का आयोजन व्यापक स्तर पर किया जाना चाहिए। इन कार्यक्रमों की रूपरेखा बनाने, इनका आयोजन करने और इनका मूल्यांकन करने से अधिक से अधिक अवसर बालकों को दिए जाने चाहिए।

1.26 सामाजिक परिवर्तन का अर्थ एवं परिभाषा

सामाजिक परिवर्तन दो शब्दों से मिलकर बना है–समाज और परिवर्तन। समाज का अर्थ केवल व्यक्तियों का समूह नहीं है। समूह में रहते वाले व्यक्तियों के आपस में जो संबंध हैं, उन संबंधों के संगठित रूप को ही समाज कहते हैं। समाज सामाजिक संबंधों का जाल है। परिवर्तन का अर्थ है–बदलाव अर्थात् पहले की स्थिति में बदलाव। पहले की स्थिति और आज की स्थिति में आने वाला अंतर या बदलाव ही परिवर्तन है। इस प्रकार समाज की पहले की स्थिति और बाद की स्थिति में अंतर आ जाना ही सामाजिक परिवर्तन है। सामाजिक संगठन, सामाजिक ढाँचे, सामाजिक संबंधों या समाज के रहन-सहन के ढंग, रीति-रिवाजों, मूल्यों और विश्वासों आदि में जो अंतर आ जाता है, वह सामाजिक परिवर्तन कहलाता है। सामाजिक परिवर्तन की कतिपय परिभाषाएँ निम्न प्रकार हैं–

के. डेविस (K. Davis)–''सामाजिक परिवर्तन में केवल वे ही परिवर्तन समझे जाते हैं, जो सामाजिक संगठन अर्थात् समाज के ढाँचे और कार्यों में घटित होते हैं।''

जोंस (Jones)–''सामाजिक परिवर्तन वह शब्द है, जो सामाजिक प्रक्रियाओं, सामाजिक प्रतिमानों, सामाजिक अंत:क्रियाओं या सामाजिक संगठन के किसी पक्ष में अंतर या रूपांतरण को वर्णित करने

के लिए प्रयोग में लाया जाता है।''

जॉन्सन (Johnson)–''व्यक्तियों के कार्य करने एवं विचार करने के ढँगों में परिवर्तन ही सामाजिक परिवर्तन है।''

नोट

डासन तथा गेटिस (Dauson and Gatis)–" सांस्कृतिक परिवर्तन ही सामाजिक परिवर्तन है।''

मैकाइवर तथा पेज (Maciver and Page)–"सामाजिक ढाँचे में होने वाला परिवर्तन ही सामाजिक परिवर्तन है।''

गिलिन तथा गिलिन (Gillin and Gillin)–''सामाजिक परिवर्तन जीवन की मानी हुई रीतियों में होने वाले परिवर्तन को कहते हैं। चाहे वे परिवर्तन भौगोलिक दशाओं के परिवर्तन से हुए हों या सांस्कृतिक साधनों से या जनसंख्या की रचना या सिद्धांतों के परिवर्तन से या प्रसार से या समूह के अंदर ही आविष्कारों के फलस्वरूप हुए हैं।''

कुप्पूस्वामी (Kuppuswami)–''जब हम सामाजिक परिवर्तन की बात करते हैं तो हमारा तात्पर्य सामाजिक व्यवहार तथा सामाजिक ढाँचे में होने वाले परिवर्तन से होता है।''

1.27 सामाजिक परिवर्तन की विशेषताएँ

सामाजिक परिवर्तन की निम्नलिखित विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं–

1. यह परिवर्तन पूरे सामाजिक ढाँचे में भी हो सकता है तथा उसके किसी एक संगठन में भी हो सकता है।
2. जब हमारी भौतिक अथवा अभौतिक संस्कृति बदलती है तो सामाजिक परिवर्तन होता है।
3. शिक्षा आदि के द्वारा जब व्यक्ति के विचार-जगत में क्रांति होती है तो उसके व्यवहार में भी परिवर्तन आ जाता है।
4. खुले समाज में परिवर्तन की गति तीव्र होती है और बंद समाज में परिवर्तन की गति बहुत मंद होती है।
5. सामाजिक संगठन में होने वाले परिवर्तन की गति सामाजिक कार्यों में होने वाले परिवर्तनों की अपेक्षा बहुत धीमी होती है।
6. जब सामाजिक परिवर्तन की गति मंद हो जाती है तो क्रांतियों की संभावना बढ़ जाती है और इस क्रांति के द्वारा एकाएक व्यापक परिवर्तन होते हैं।
7. यह आवश्यक नहीं है कि सभी परिवर्तन स्थायी ही हों। आज जो परिवर्तन दिखायी दे रहा है, भविष्य में उनके स्वरूप में भी परिवर्तन हो सकता है।
8. यह आवश्यक नहीं है कि समाज में होने वाले परिवर्तन उसे सदैव विकास की ओर ही ले जाएँ। कभी-कभी कुछ परिवर्तन समाज को अवनति की ओर भी ले जाते हैं।
9. सामाजिक परिवर्तन नियोजित भी हो सकता है और अनियोजित भी हो सकता है।
10. पहले की अपेक्षाा आधुनिक समाजों में परिवर्तन अधिक होता है और उन परिवर्तनों को आज हम अधिक स्पष्ट रूप से देख भी सकते हैं।
11. स्वाभाविक ढँग से और सामान्य गति से होने वाले परिवर्तनों का प्रभाव हमारे विचारों तथा सामाजिक संरचना पर पड़ता है।

1.28 सामाजिक परिवर्तन के सिद्धांत

नोट

सामाजिक परिवर्तन के मुख्यत: तीन सिद्धांत हैं–

1. **प्राविधिक सिद्धांत** (Technological Theory)–इस सिद्धांत का प्रतिपादन ऑगबर्न ने किया। उन्होंने सभी प्रकार के सामाजिक परिवर्तन का आधार तकनीकी क्षेत्र में होने वाले विकास को बताया और सामाजिक परिवर्तन तथा आविष्कारों के मध्य संबंध स्थापित किया। उन्होंने कहा कि नवीन आविष्कारों का अर्थ है–नवीन सांस्कृतिक गुणों व तत्वों की खोज। यह खोज वर्तमान संस्कृति में हेर-फेर भी हो सकती है और पूरी तरह से नवीन भी हो सकती है। जब समाज इसको अपनाने लगता है तब समाज में परिवर्तन आ जाता है।
2. **रेखीय सिद्धांत** (Linear Theory)–इस सिद्धांत के प्रतिपादक काम्टे, स्पेन्सर और कार्ल मार्क्स को माना जाता है। इन्होंने समाज के विकास के क्रम को ऐतिहासिक बताया और एक ऐसे समाज की कल्पना की, जहाँ परिवर्तन चक्र स्थिर होकर रह जाएगा। काम्टे ने सामाजिक परिवर्तन से बौद्धिक विकास का परिणाम बताया है और बौद्धिक विकास की तीन अवस्थाएँ बतायीं–(अ) धार्मिक अवस्था (ब) तात्विक अवस्था और (स) वैज्ञानिक अवस्था।
3. **चक्रीय सिद्धांत** (Cyclical Theory)–इस सिद्धांत के प्रतिपादक स्पेंगलर, सोरोकिन और टायनवी माने जाते हैं। टायनवी के अनुसार समाज में परिवर्तन व्यक्ति की आंतरिक आध्यात्मिक शक्ति के कारण आता है। सोरोकिन के अनुसार समाज की तीन श्रेणियाँ हैं–विचारात्मक, संवेदनात्मक और आदर्शात्मक–जो समाज में समयानुसार परिवर्तन लाती हैं। स्पेंगलर ने सामाजिक घटनाओं के तीन चरण बताए हैं–जन्म, परिपक्वता और अंत, जो समाज में परिवर्तन लाने के लिए उत्तरदायी हैं।

1.29 सामाजिक परिवर्तन के रूप

समाज में होने वाले परिवर्तन के निम्नलिखित तीन रूप होते हैं–

1. **विकासात्मक परिवर्तन** (Evolutionary Change)–समाज में परिवर्तन अचानक न होकर पहले से विद्यमान परिस्थितियों के आधार पर होते हैं। इस प्रकार के परिवर्तन एकदम नहीं होते, वरन् धीरे-धीरे होते हैं, लेकिन आभास ऐसा होता है, जैसे यह परिवर्तन अचानक हुए हों। विकासात्मक परिवर्तन की प्रक्रिया निरंतर चलती रहती है। किसी भी समाज में शैक्षिक, तकनीकी, चिकित्सा, स्वास्थ्य आदि क्षेत्रों को देखों तो हम यह पाएँगे कि आज उसने जो स्वरूप प्राप्त किया है, उसका विकास धीरे-धीरे हुआ है।
2. **लहरदार परिवर्तन** (Wave like change)–यह वह परिवर्तन है, जिनमें लहरों के समान उतार-चढ़ाव होता है। जिस प्रकार पानी में लहरें कभी ऊपर की ओर उठती हैं तो कभी नीचे की ओर गिरती हैं, इसी प्रकार समाज कभी बहुत तेजी के साथ प्रगति की ओर जाता है और कभी अवनति की ओर।
3. **चक्रीय परिवर्तन** (Cyclic order change)–चक्र के समान होने वाले परिवर्तन चक्रिक क्रम से होने वाले परिवर्तन कहलाते हैं। इस परिवर्तन में समाज में पूर्व में होने वाली

घटनाओं की पुनरावृत्ति होती है। जैसे रोजगार योजनाओं के द्वारा बेरोजगारी कम की जाती है, परंतु जनसंख्या वृद्धि के साथ-साथ पुनः बेरोजगारी में समस्या में वृद्धि होती है और समाज में परिवर्तन होता है। इसी प्रकार फैशन में होने वाला परिवर्तन भी इसी प्रकार का परिवर्तन है। कभी तंग मोहरी की पेंट का प्रचलन होता है, कभी चौड़ी मोहरी की पेंट का और कुछ समय बाद वही पुरानी तंग मोहरी की पेंट का प्रचलन होने लगता है। इस प्रकार के परिवर्तन में घटनाओं का चक्र निरंतर घूमता रहता है।

1.30 भारत में सामाजिक परिवर्तन के कारक

सामाजिक परिवर्तन निरंतर चलने वाली एक ऐसी प्रक्रिया है, जो अनेक कारकों से प्रभावित होती है। विभिन्न विचारकों ने सामाजिक परिवर्तन के अनेक कारक बताए हैं। भारतीय संदर्भ में सामाजिक परिवर्तन के प्रमुख कारक निम्नलिखित हैं–

1. **प्राकृतिक कारक** (Natural Factors)–प्रकृति परिवर्तन का प्रमुख आधार है। धरती की सतह सदैव एक ही स्थिति में नहीं रहती। इस पर बराबर ही कुछ न कुछ परिवर्तन होते रहते हैं। अतिवृष्टि, अनावृष्टि, अकाल, भूकंप एवं महामारी के फलस्वरूप समाज में अनेक प्रकार की समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। इन समस्याओं का समाधान करने के लिए व्यवस्था में परिवर्तन करना होता है, जिसका सामाजिक जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ता है। भारतीय अर्थ व्यवस्था कृषि पर आधारित है। सत्तर प्रतिशत से अधिक लोग खेती करते हैं। प्रकृति का यह रौद्र रूप उनको बुरी तरह से प्रभावित करता है। इसके अतिरिक्त जब किसी स्थान की उपजाऊ शक्ति कम हो जाती है, पानी आदि की सुविधाओं का अभाव हो जाता है या किसी स्थान पर खनिज पदार्थ समाप्त हो जाते हैं और लोगों की आजीविका का साधन समाप्त हो जाता है तो लोग उस स्थान को छोड़कर दूसरे स्थानों की ओर चले जाते हैं और वहाँ बस कर नए सामाजिक संबंधों की स्थापना करते हैं। इससे उनकी जीवन शैली में परिवर्तन आ जाता है।
2. **जैवकीय कारक** (Biological Factors)–सामाजिक परिवर्तन अनेक जैवकीय कारकों से भी हो सकता है। जैवकीय कारक जनसंख्या के प्रकार को निर्धारित करता है। उदाहरण के लिए यदि वंश परंपरा के द्वारा जनसंख्या को अधिक दुर्बल संतान प्राप्त हो रही है अर्थात् यदि किसी समाज में स्वास्थ्य स्तर नीचा है तो उसका प्रभाव सामाजिक जीवन पर अवश्य ही पड़ेगा। जिन समाजों में स्त्री और पुरुष का अनुपात समान नहीं होगा। पुरुष अधिक और स्त्रियाँ कम होने से बहुपति प्रथा का प्रचलन होगा और अनेक प्रकार की समस्याएँ पैदा होंगी। आजकल जातीय और प्रांतीय बंधन धीरे-धीरे शिथिल होते जा रहे हैं। भारतीय दूसरे प्रदेशों की स्त्रियों से ही नहीं, विदेशियों से और दूसरे धर्म व संप्रदाय की स्त्रियों से विवाह संबंध बना रहे हैं, जिससे समाज में परिवर्तन आ रहा है।
3. **जनसंख्यात्मक कारक** (Demographic Factors)–जनसंख्यात्मक कारक भी सामाजिक परिवर्तन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। जनसंख्या के आकार और घनत्व के घटने-बढ़ने से सामाजिक परिवर्तन हो जाने की संभावना होती है। जन्म दर के घटने और मृत्युदर बढ़ने से जनसंख्या घटती है, जिससे समाज में कार्यशील व्यक्तियों की कमी होती है और उपलब्ध समस्त प्राकृतिक साधनों में भरपूर उपयोग नहीं हो पाता। इससे देश की

नोट

आर्थिक दशा गिरती है, परिवारों का आकार घटता है और इसके फलस्वरूप सामाजिक और पारिवारिक संबंधों में परिवर्तन होता है। इसी प्रकार जन्म दर के बढ़ने और मृत्यु दर के घटने से जनसंख्या बढ़ती है और उस बढ़ी हुई जनसंख्या के पालन-पोषण के लिए नए-नए ढंग आविष्कृत किए जाते हैं। अन्न की पूर्ति के लिए गहन कृषि तथा नयी भूमि पर कृषि आरंभ हो जाती है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत की जनसंख्या में अत्यधिक वृद्धि हुई है, जिससे लोगों का जीवन स्तर गिरा है। जनसंख्या का एक बहुत बड़ा भाग गरीबी की रेखा से नीचे का जीवन व्यतीत कर रहा है, बेरोजगारी बढ़ रही है, अपराध बढ़ रहे हैं, प्रदूषण बढ़ रहा है और देश के सामने भयंकर समस्याएँ खड़ी हो रही हैं।

4. **प्रौद्योगिकीय कारक** (Technological Factors)–प्रौद्योगिकीय कारक सामाजिक परिवर्तन का एक अति महत्त्वपूर्ण कारक है। आज का युग प्रौद्योगिकी का युग है। कोई भी नयी मशीन या यंत्र का जैसे ही आविष्कार होता है, उसका प्रभाव सामाजिक जीवन पर अवश्य ही पड़ता है। ऑगबर्न ने रेडियो के आविष्कार के कारण उत्पन्न होने वाले 150 परिवर्तनों का उल्लेख किया है। मशीनों के आविष्कार से बड़े पैमाने पर उत्पादन प्रारंभ हुआ, श्रम विभाजन और विशेषीकरण की आवश्यकता हुई, व्यापार और वाणिज्य में उन्नति हुई, जीवन स्तर ऊँचा हुआ, नगरों का विकास तेजी से होने लगा, आर्थिक संकट तथा बेकारी पैदा हुई, प्रौद्योगिक विवाद, बीमारियाँ और दुर्घटनाएँ बढ़ी गाँवों का नगरीकरण प्रारंभ हुआ, धर्म का प्रभाव घटा, संयुक्त परिवारों का विघटन हुआ, स्त्रियों का घर से बाहर कार्य करना प्रारंभ हुआ और उनकी स्थिति में उन्नति हुई, निवास स्थान की कमी, गंदी बस्तियों का विकास हुआ, अपराध, व्याभिचार, संघर्ष और प्रतिस्पर्धा बढ़ी, जीवन प्रकृति से दूर हो गया और ऐसे ही अनेकानेक परिवर्तन समाज में हुए। भारतीय समाज में इस प्रौद्योगिकी के कारणों ने बहुत बड़े परिवर्तन किए हैं।

5. **सांस्कृतिक कारक** (Cultural Factors)–मैक्स वेबर, सोरोकिन और मेकाइवर आदि विद्वानों के अनुसार सामाजिक परिवर्तन का मूल स्रोत सांस्कृतिक परिवर्तन है, क्योंकि मनुष्य के विश्वासों, मूल्यों, विचारों, दृष्टिकोणों तथा परंपराओं और समाज के संबंधों एवं संस्थाओं में गहन संबद्धता पायी जाती है। डासन और गेटिस तो सांस्कृतिक परिवर्तनों को ही सामाजिक परिवर्तन का नाम देते हैं। वस्तुतः हमारा सामाजिक जीवन धर्म, परंपराओं, संस्थाओं, विश्वासों, मूल्यों आदि पर निर्भर है और इस कारण इनमें कोई भी परिवर्तन हमारे सामाजिक जीवन में भी परिवर्तन लाता है। उदाहरण के लिए पहले विवाह का एक धार्मिक आधार होता था, जिसके कारण लोग विवाह बंधन को तोड़ने की बात सोचते ही नहीं थे, लेकिन आज विवाह का आदर्श बदल गया है और आज लोग विवाह यौन संबधी संतुष्टि तथा व्यक्तिगत सुख के लिए करते हैं, जिसके कारण विवाह संबंध की स्थिरता भी घट गयी है अनेक विवाहों का अंत विवाह विच्छेद में हो रहा है। इस प्रकार से परिवार के टूटने का प्रभाव न केवल व्यक्ति के जीवन में ही अनेक परिवर्तन लाता है वरन् सामाजिक जीवन में भी अनेक परिवर्तनों का कारण बनता है। भारत में सांस्कृतिक परिवर्तनों के द्वारा ही सामाजिक परिवर्तन हुए हैं। पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव से भारतीय समाज में जहाँ भौतिकता की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिला है, लोगों में रूढ़िवादिता कम हुई है, उनमें वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास हुआ है, स्त्रियाँ घर की चारदीवारी से बाहर निकलकर विभिन्न क्षेत्रों में आगे बढ़ी हैं, सामाजिक बुराइयाँ कम हुई हैं, वहाँ लोगों में

नोट

आध्यात्मिकता के प्रति कमी आयी है, उनकी वेशभूषा और खान-पान में भारी परिवर्तन हुआ है, हाथ से काम करने की प्रवृत्ति कम हुई है और स्वार्थ भावना व केवल अपने तक सीमित रहने की भावना प्रबल हुई है।

6. **नए आविष्कारों के कारण सामाजिक परिवर्तन** (Social changes by new Inventions) –आज का युग विज्ञान का युग है। विज्ञान ने अपने आविष्कारों से, अपने चमत्कारों से सारे संसार को चमत्कृत किया है और इन नए आविष्कारों ने समाज को बहुत बड़ी मात्रा में परिवर्तित किया है। रेल, मोटरकार, वायुयान, टी.वी., रेडियो, वाशिंग मशीन, सिनेमा, टेलीफोन आदि विज्ञान के आविष्कारों ने मानव के जीवन को इतना अधिक बदल दिया है कि आश्चर्य होता है। चिकित्सा के क्षेत्र में होने वाले आविष्कारों से असाध्य समझे जाने वाले रोगों की चिकित्सा संभव हो गई है। संचार एवं संवादवाहन के क्षेत्र में अपनायी जाने वाली नई तकनीकी से और कम्प्यूटर क्रांति ने मनुष्य के सामाजिक जीवन में अविश्वसनीय परिवर्तन पैदा किया है। भारत में पिछले कुछ वर्षों में टेलीविजन, टेलीफोन और कम्प्यूटर ने सामाजिक परिवर्तन लाने में अहम भूमिका निभायी है।

7. **युद्ध** (War Factor)–ऑगबर्न ने युद्ध को सामाजिक परिवर्तन का एक महत्त्वपूर्ण कारक माना है। युद्ध के कारण अनेक नवीन आविष्कार होते हैं, नवीन व्यवस्थाएँ जन्म लेती हैं। युद्ध को सामाजिक विघटन का एक विकृत रूप माना गया है। इसके कारण जन-धन की अपार हानि होती है, आर्थिक साधन नष्ट हो जाते हैं, अनेक प्रकार की बीमारियाँ फैलती हैं, जनसंख्या कम हो जाती है, लोगों के नैतिक स्तर में गिरावट आती है। पराजित राष्ट्र को शर्तों को, सामाजिक और राजनीतिक मान्यताओं को स्वीकार करना पड़ता है। इन सब बातों से समाज में भारी परिवर्तन आता है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत में चीन और पाकिस्तान के साथ हुए युद्धों ने भारतीयों के जीवन को बहुत प्रभावित किया।

8. **धर्म** (Religion Factor)–चार्ल्स एलवुड के अनुसार धर्म सामाजिक परिवर्तन का एक कारक है। समाज और मनुष्य पर सदैव ही धर्म का शक्तिशाली नियंत्रण होता है। भारतीय समाज में धर्म की भूमिका बहुत महत्त्वपूर्ण रही है। आर्य समाज, ब्रह्म समाज जैसे धार्मिक आंदोलनों ने भारतीय जीवन में बहुत परिवर्तन किए हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारतीय संविधान ने धर्मनिरपेक्षता को अपना आदर्श माना है और इसका प्रभाव लोगों पर पड़ा है। आजकल भारत में आये दिन होने वाले धार्मिक सत्संगों और धार्मिक संत, महात्माओं, साध्वियों के प्रवचनों ने भी भारतवासियों के विचारों में भारी परिवर्तन किया है।

9. **कानून** (Law Factor)–सरकार द्वारा बनाए गए कानून जहाँ एक ओर सामाजिक नियंत्रण बनाए रखने में सहायक होते हैं, वहाँ दूसरी ओर सामाजिक परिवर्तन में भी सहायक होते हैं। कानून के द्वारा समाज के नियमों की रक्षा होती है और व्यक्ति नियमों का पालन करना सीखते हैं तथा जो लोग कानून का पालन नहीं करते, समाज विरोधी कार्य करते हैं, उनको दंडित किया जाता है, इससे समाज में व्यवस्था बनती है। भारतवर्ष में कानून के द्वारा जमींदारी प्रथा का अंत करके, प्रिवि पर्स को समाप्त करके, दासता और शोषण को समाप्त करके, लड़के-लड़कियों की विवाह की आयु निश्चित करके, बाल विवाह, बहु विवाह, सती प्रथा को दंडनीय अपराध घोषित करके, छुआछूत को समाप्त करके देश के सामाजिक जीवन में बहुत व्यापक परिवर्तन लाए गए हैं। कानून के द्वारा दल-बदल पर

रोक लगाकर और भ्रष्टाचार को रोकने के लिए लोकपालों की नियुक्ति की व्यवस्था की गयी है, इससे कुछ परिवर्तन तो परिलक्षित हो ही रहा है। वस्तुतः यदि लोगों से यों ही नवीन परिवर्तन स्वीकार करने के लिए कहा जाए तो वे उसे स्वीकार नहीं करते, लेकिन यदि वही परिवर्तन कानून बनाकर लागू किया जाए तो वे उसे मानने के लिए बाध्य हो जाते हैं। इसलिए कानून भी किसी समाज में परिवर्तन लाने का महत्त्वपूर्ण साधन है।

नोट

10. **राजनीतिक कारक** (Political Factors)–मानव समाज का इतिहास अधिकांशतः राजनीतिक उथल-पुथल का इतिहास है। समाज में अधिकतर परिवर्तन राजनीतिक कारणों से होते हैं। राजनीतिक स्थिरता से समाज में निरंतरता और स्थायित्व आता है, जबकि अस्थिरता सामाजिक परिवर्तन को जन्म देती है। हिटलर के अधिनायकवाद, साम्यवादी क्रांति, बंगलादेश का जन्म भारत का विभाजन, अमेरिका पर आतंकवादी आक्रमण आदि राजनीतिक घटनाओं ने समाज को गहरे रूप में प्रभावित किया है। स्वतंत्र भारत में प्रजातांत्रिक व्यवस्था को स्वीकार किया गया और इस व्यवस्था ने भारतीयों के जीवन में बहुत बड़ा परिवर्तन किया है। आज भारतीयों में जागरूकता आयी है, वे अपने कर्तव्य और अधिकारों के प्रति बहुत अधिक सजग हुए हैं। चुनावों में उनकी रुचि बढ़ी है और वे राष्ट्रीय समस्याओं को समझने लगे हैं। राजनीति ने शिक्षा संस्थाओं में भी प्रवेश पा लिया है। जहाँ इससे लाभ हुआ है, वहाँ हानि भी कम नहीं हो रही हैं। इस प्रकार भारत में राजनीतिक कारकों ने भारत में सामाजिक परिवर्तन करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है।

1.31 सामाजिक परिवर्तन में बाधक तत्व

समाज में निरंतर परिवर्तन होता रहता है और इस परिवर्तन को रोका भी नहीं जा सकता, लेकिन कुछ ऐसे तत्व हैं, जो सामाजिक परिवर्तन के रास्ते में अनेक प्रकार की बाधाएँ प्रस्तुत करते हैं, वे बाधक तत्व निम्नलिखित हैं–

1. **नवीनता का भय** (Fear of New Things)–समाज में अनेक व्यक्ति ऐसे होते हैं, जो अपनी और समाज की वर्तमान स्थिति से पूरी तरह संतुष्ट होते हैं, उसी में आस्था रखते हैं और उसी में अपनी सुरक्षा मानते हैं। वे सोचते हैं कि यदि उन्होंने किसी नवीन वस्तु या विचार को अपनाया तो उससे उनका अनिष्ट हो सकता है, इसलिए वे समाज में कोई परिवर्तन नहीं चाहते। ऐसी स्थिति में नवीनताएँ समाज में कोई स्थान प्राप्त नहीं कर सकतीं।
2. **सांस्कृतिक जड़ता** (Cultural Inertia)–समाज में अनेक व्यक्ति ऐसे भी होते हैं, जो यह मानते हैं कि जो बातें, जो विचार और जो विश्वास हमारे पूर्वजों के हैं, वे बिल्कुल ठीक हैं, हमें उन्हें ही स्वीकार करना चाहिए। सांस्कृतिक जड़ता का अर्थ पूर्वजों से प्राप्त उन मूल्यों, विश्वासों और परंपराओं से है, जिनके कुछ लोग दास बन जाते हैं और किसी भी हालत में वे उनको छोड़ना नहीं चाहते। ऐसी स्थिति में सामाजिक परिवर्तन होना किसी भी दृष्टि से संभव नहीं है।
3. **निहित स्वार्थ** (Vested Interests)–समाज में ऐसे व्यक्ति भी हैं, जो उन्हीं कार्यों को करते हैं, जिनसे उनकी स्वार्थ सिद्धि होती हैं। वे कोई भी ऐसा कार्य नहीं करना चाहते, जो उनकी स्वार्थ पूर्ति में बाधा डालता हो। ऐसे व्यक्तियों के लिए समाज का हित कुछ नहीं होता, अपना स्वार्थ ही प्रमुख होता है। उदाहरण के लिए हमारे देश में प्रिवी पर्स

नोट

समाप्ति का विरोध राजाओं द्वारा किया गया, और जमींदारी उन्मूलन का विरोध जमीदारों द्वारा किया गया। आरक्षण चाहे वह नौकरियों में हो और चाहे महिलाओं के संबंध में हो, निहित स्वार्थों द्वारा उनका विरोध किया जा रहा है। इस प्रकार के निहित स्वार्थ सामाजिक परिवर्तन के मार्ग की बाधा है।

4. **पृथकता की भावना** (Degree of Isolation)–समाज में अनेक व्यक्ति ऐसे भी होते हैं, जो अपने अस्तित्व को दूसरों से अलग रखना चाहते हैं। वे यह चाहते हैं कि उनकी संस्कृति सुरक्षित रहे और इसी कारण वे अन्य संस्कृतियों से कोई संपर्क नहीं रखना चाहते। जिस समाज में यह भावना होगी, जिस समाज के लोग अलगाव की भावना से ग्रस्त होंगे, उस समाज में परिवर्तन आना संभव नहीं है। इसलिए यह भी सामाजिक परिवर्तन का एक बाधक तत्व है।

1.32 शिक्षा और सामाजिक परिवर्तन

शिक्षा और सामाजिक परिवर्तन में बहुत घनिष्ठ संबंध है। चूँकि शिक्षा एक गतिशील प्रक्रिया है, इसलिए वह समाज में होने वाले परिवर्तन को स्वीकार करती हुई आगे बढ़ती है और बदलते हुए समाज की आवश्यकताओं को पूरा करने में व्यक्ति की सहायता करती है। इस प्रकार शिक्षा और सामाजिक परिवर्तन के संबंध को निम्नलिखित दो रूपों में रखा जा सकता है–

1. शिक्षा सामाजिक परिवर्तन का साधन है।
2. शिक्षा सामाजिक परिवर्तन का अनुसरण करती है।

1.33 शिक्षा सामाजिक परिवर्तन का साधन है

शिक्षा सामाजिक परिवर्तन का सबसे महत्त्वपूर्ण और सशक्त साधन है। डॉ. राधा कृष्णन ने शिक्षा को सामाजिक परिवर्तन का साधन मानते हुए कहा है कि, ''शिक्षा परिवर्तन का साधन है। जो कार्य साधारणतया समाज में परिवार, धर्म, सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओं द्वारा किया जाता है, वही आज शिक्षा संस्थाओं के द्वारा किया जाता है।'' शिक्षा के द्वारा ही हम समाज के लोगों के विचारों में बदलाव ला सकते हैं और समाज की उन्नति कर सकते हैं। ड्यूवी के शब्दों में, ''शिक्षा ही एक ऐसा साधन है, जो किसी भी समाज को प्रगति की ओर ले जा सकता है।'' ब्रूबेकर के अनुसार सामाजिक परिवर्तन की दृष्टि से शिक्षा संस्थाएँ दो प्रकार का कार्य करती हैं–एक यथास्थिति की आलोचना करना अर्थात् शिक्षा के माध्यम से लोगों को यह बताना कि वर्तमान सामाजिक व्यवस्था में क्या दोष हैं और उन दोषों को दूर करने का क्या लाभ होगा तथा दूसरा सामाजिक परिवर्तन के लिए प्रयास करना अर्थात् शिक्षा के माध्यम से नवीन परिवर्तनों के लिए भूमिका तैयार करना और लोगों से उन परिवर्तनों को स्वीकार करने के लिए तैयार करना। कोठारी आयोग ने भी इस बात पर बल दिया कि आज के युग में शिक्षा ही एक ऐसा साधन है, जिसके द्वारा शांतिपूर्ण ढंग से व्यापक सामाजिक परिवर्तन लाए जा सकते हैं। उसके शब्दों में, ''यदि बिना किसी हिंसक क्रांति के बड़े पैमाने पर परिवर्तन करना है तो केवल एक ही साधन है, जिसका प्रयोग किया जा सकता है और वह है शिक्षा। शिक्षा को सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक परिवर्तनों के एक साधन के रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है।'' इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वस्थ सामाजिक परिवर्तन के लिए शिक्षा एक शक्तिशाली साधन है। इसी कारण हर विकासशील देश शैक्षिक व्यवस्था से अधिकाधिक

कुशल, प्रभावी और योजना बनाने का प्रयास करता है सामाजिक परिवर्तन लाने में शिक्षा अग्रलिखित कार्य करती है–

नोट

1. **परिवर्तन के लिए मानसिक रूप से तैयार करना**–शिक्षा का सबसे पहला और सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य लोगों को किसी भी नए परिवर्तन को स्वीकार करने के लिए मानसिक रूप से तैयार करना होता है। प्रायः यह देखा जाता है कि लोग किसी भी नए परिवर्तन को सहज ही स्वीकार करने को तैयार नहीं होते। उन्हें इस बात का भय सताता रहता है कि इस नए परिवर्तन को स्वीकार करने से उनका अहित न हो जाए। कभी-कभी संकुचित स्वार्थों के कारण भी लोग परिवर्तन को स्वीकार नहीं करते। शिक्षा का कार्य इन परिवर्तनों से होने वाले लाभों से लोगों को परिचित करना और उनकी मानसिकता को बदलना होता है।
2. **पूर्वाग्रहों को बदलना और नवीनता की प्रेरणा देना**–समाज में कुछ लोग अत्यधिक रूढ़िवादी, अंधविश्वासी और पुरातनपंथी होते हैं। उनके अपने पूर्वाग्रह होते हैं और वे उनसे टस से मस नहीं होना चाहते। शिक्षा उनके सोचने-विचारने के ढंग में परिवर्तन करती हैं, उनके पूर्वाग्रहों को दूर करती है और उनके अंदर वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास करती है, जिससे वे आज के वैज्ञानिक तकनीकी की ओर गतिशील होने वाली परिवर्तनों का समर्थन कर सकें।
3. **नवीन परिवर्तनों को प्रोत्साहित करना**–शिक्षा मनुष्य को चिंतनशील प्राणी बनाती है। प्रत्येक परिस्थिति और प्रत्येक समाचार पर गहराई के साथ विचार करने की प्रेरणा देती है। संसार के विभिन्न देशों में होने वाले परिवर्तनों के फलस्वरूप होने वाली प्रगति और विकास से परिचित कराती है। नए परिवर्तनों को स्वीकार करने के लिए प्रोत्साहित करती है। इससे लोगों को उनसे प्रेरणा मिलती है।
4. **परिवर्तनों के मूल्यांकन में सहायता करना**–सामान्यतः समाज में होने वाले अधिकांश परिवर्तन प्रगतिशील होते हैं, वे समाज को आगे बढ़ाने में सहायता करते हैं, लेकिन कतिपय परिवर्तन ऐसे भी होते हैं, जो समाज को पीछे की ओर ले जाते हैं, जिनको स्वीकार करने से समाज की हानि हो सकती है। ऐसी स्थिति में शिक्षा ही लोगों में सामाजिक परिवर्तनों का मूल्यांकन करने की क्षमता उत्पन्न करती है और उन्हें इस योग्य बनाती है कि वे उनके गुणों या अवगुणों पर विचार कर सकें तथा यह निर्णय कर सकें कि कौन-से परिवर्तन उनके लिए उपयोगी होंगे और कौन से नहीं।
5. **शाश्वत मूल्यों को स्थायी करना**–प्रत्येक समाज के कुछ शाश्वत मूल्य होते हैं, जो उस समाज को स्थायित्व प्रदान करते हैं। यही शाश्वत मूल्य उस समाज की विशेषता समझे जाते हैं। राल्फ लिटन का कहना है कि जब कभी सामाजिक परिवर्तन के कारण इन मूल्यों में दुर्बलता आने लगती है तो समाज पतन की ओर अग्रसर होने लगता है। ऐसे समय में शिक्षा ही इन शाश्वत मूल्यों की रक्षा करती है और सामाजिक परिवर्तन के बुरे प्रभावों से बचाती है और लोगों को इनके संबंध में ऐसा ज्ञान देती है कि उनका विश्वास इन मूल्यों में बना रहे और वे सामाजिक परिवर्तनों को भी स्वीकारते रहें।
6. **ज्ञान में वृद्धि करना**–परिवर्तन के लिए यह आवश्यक है कि हमारे पुराने ज्ञान में कुछ नया ज्ञान जुड़ता रहे अर्थात् हमारे ज्ञान में निरंतर वृद्धि होती रहे। ज्ञान के विस्तार के द्व

नोट

ारा ही नवीन परिवर्तनों के विषय में जानकारी प्राप्त हो सकती है। शिक्षा के द्वारा नए-नए शोध किया जाना संभव होता है, जिससे ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों का विकास होता है। इस प्रकार ज्ञान में वृद्धि कर शिक्षा सामाजिक परिवर्तनों को प्रोत्साहित करती है।

7. **संस्कृति का हस्तांतरण ही नहीं उसमें परिवर्तन और सुधार करना**–शिक्षा के द्वारा समाज की संस्कृति का हस्तांतरण नई पीढ़ी को किया जाता है, जिससे समाज में स्थायित्व और निरंतरता आती है। लेकिन शिक्षा का कार्य ज्ञान, संस्कृति का हस्तांतरण ही नहीं है, अपितु उसमें वांछनीय परिवर्तन और सुधार लाना भी है। इस प्रकार शिक्षा सामाजिक परिवर्तन की जन्मदाता, प्रवर्तक और निर्देशक है।

8. **एकता तथा समग्रता उत्पन्न करना**–आपसी तनाव, मतभेद और विवाद होने के कारण जब समाज के विभिन्न वर्गों में संघर्ष होने लगता है तो शिक्षा लोगों के मन में ऐसे विचारों और भावों को उत्पन्न करती है, जिससे उनमें एकता और समग्रता की भावना पैदा होती है। भारतवर्ष में जाति, वर्ण, सम्प्रदाय, धर्म, भाषा और प्रांतवाद के आधार पर, आए दिन संघर्ष होते रहते हैं, शिक्षा के माध्यम से इनको दूर किया जा सकता है।

9. **मानवीय तथा सामाजिक संबंधों की प्रस्थापना करना**–आज के वैज्ञानिक, औद्योगिक और नगरीकरण के युग में जहाँ समाज ने उन्नति और विकास के क्षेत्र में बहुत लंबी यात्रा की है, वहाँ अनेक सामाजिक संस्थाओं को भी उत्पन्न किया है। इन समस्याओं में एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण समस्या मानवीय और सामाजिक संबंधों की छिन्न-भिन्न होने की है। इस प्रगति और विकास ने मानवीय गुणों के प्रति लोगों को संवेदनशून्य बना दिया है। शिक्षा का यह महत्त्वपूर्ण कार्य है कि वह इस भौतिकवादी युग में हुए सामाजिक परिवर्तनों में मानवीय और सामाजिक संबंधों की प्रस्थापना में सहयोग करे और लोगों को संवेदनशील बनाए।

10. **सामाजिक परिवर्तन में कुशल नेतृत्त्व प्रदान करने में सहायता करना**–सामाजिक परिवर्तन की दृष्टि से शिक्षा का एक महत्त्वपूर्ण कार्य योग्य और कुशल नेतृत्व प्रदान करने में सहायता करना है। स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान तिलक, महात्मा गाँधी, पंडित नेहरू, सुभाष चंद्र बोस ने समाज को जो नेतृत्व दिया,परिवर्तन की जो प्रेरणा दी, उसका सुखद परिणाम हुआ। किसी भी समाज के व्यक्ति कितने ही योग्य और प्रतिभावान क्यों न हों, जब तक उनका पथ प्रदर्शन करने वाला कुशल नेतृत्व नहीं होगा, तब तक वे न सही निर्णय कर सकेंगे और न ही सही कार्य कर सकेंगे। योग्य और कुशल नेतृत्व मिलते ही लोगों को सही दिशा मिल जाएगी, जिससे समाज में नए परिवर्तन हो सकेंगे।

1.34 शिक्षा सामाजिक परिवर्तन का अनुसरण करती है

शिक्षा और सामाजिक परिवर्तन के संबंध का दूसरा रूप है कि शिक्षा सामाजिक परिवर्तन का अनुसरण करती है। इसका अर्थ है कि सामाजिक परिवर्तन पहले होते हैं और शिक्षा तो केवल उनका अनुसरण करती है, उनके पीछे-पीछे चलती है। जब मूल्यों, आवश्यकताओं और प्रविधियों में परिवर्तन होने लगता है तो शिक्षा भी अपने आपको उन्हीं के अनुसार बना लेती है। सामाजिक परिवर्तनों के अनुसार शिक्षा के स्वरूप, उसके उद्देश्यों, उसके पाठ्यक्रम तथा पाठ्यपुस्तकों आदि में परिवर्तन होता है। ओटावे इस संदर्भ में कहते हैं कि ''कभी-कभी यह सुझाव दिया जाता है कि शिक्षा सामाजिक परिवर्तन का एक कारण है। इसके विपरीत अधिक सत्य है–शैक्षिक परिवर्तन अन्य

नोट

सामाजिक परिवर्तनों को आरंभ करने की अपेक्षा इनका अनुसरण करता है।'' वास्तव में, प्रत्येक समाज अपनी आवश्यकताओं और परिस्थितियों के अनुसार ही अपनी शिक्षा की व्यवस्था करता है। जैसा समाज का स्वरूप होता है, वैसा ही शिक्षा का सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक या राजनीतिक परिस्थितियों में परिवर्तन आता है, जीवन मूल्यों में बदलाव आता है, जीवन के प्रति दृष्टिकोण में परिवर्तन आता है तो उसी के अनुसार शिक्षा का स्वरूप ही बदल जाता है। निम्नलिखित तथ्यों के कारण शिक्षा सामाजिक परिवर्तन का अनुसरण करती है–

1. **सामाजिक शक्तियों के कारण शैक्षिक परिवर्तन**–प्रत्येक समाज की कुछ शक्तियाँ होती हैं, जैसे समाज के सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक समूह, समाज के आदर्श और मूल्य, समाज की आवश्यकताएँ और आकांक्षा में समाज को आचरण और व्यवहार प्रतिमान आदि। जब किसी कारण से इन शक्तियों में परिवर्तन होता है तो शिक्षा में भी उनके अनुरूप परिवर्तन हो जाता है।
2. **सामाजिक आवश्यकताओं के कारण शैक्षिक परिवर्तन**–प्रत्येक समाज की अपनी आवश्यकताएँ होती हैं, उन्हीं के अनुसार शिक्षा की व्यवस्था की जाती है। जैसे-जैसे समाज की आवश्यकताएँ बदलती जाती हैं, वैसे-वैसे वहाँ की शिक्षा में परिवर्तन आ जाता है। हमारे देश में आवश्यकताओं के अनुरूप शिक्षा की व्यवस्था की गयी है। हमने प्रजातांत्रिक समाजवादी धर्मनिरपेक्ष गणराज्य की स्थापना की है। इन उद्देश्यों को पूरा करने के लिए नि:शुल्क और अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा, प्रौढ़ शिक्षा, विकलांगों की शिक्षा, अल्पसंख्यकों, निर्बल वर्गों, अनुसूचित जाति तथा जनजाति के बालकों की शिक्षा के लिए विशेष प्रबंध किए गए हैं।
3. **सांस्कृतिक परिवर्तनों के कारण शैक्षिक परिवर्तन**–सांस्कृतिक परिवर्तनों के कारण भी शिक्षा के स्वरूप में परिवर्तन होते हैं, जैसा कि ओटावे ने कहा है–''शिक्षा सांस्कृति के दो रूप होते हैं–एक भौतिक संस्कृति और दूसरी अभौतिक संस्कृति। पहले भौतिक संस्कृति में परिवर्तन होता है, उसके बाद अभौतिक संस्कृति में। जब भौतिक संस्कृति में परिवर्तन होता है तो उसके साथ समायोजन करने के लिए शिक्षा में भी परिवर्तन हो जाते हैं। आज रेडियो, टेलीविजन, कम्प्यूटर आदि को शिक्षा का अंग बना दिया गया है।''

1.35 सामाजिक परिवर्तन में शिक्षक की भूमिका

सामाजिक परिवर्तन के संदर्भ में शिक्षक की भूमिका अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। आज के इस संक्रमण काल में शिक्षक ही लोगों के अंदर व्याप्त अज्ञान के अंधकार को दूर कर उन्हें प्रगति पथ की नई राह दिखा सकता है। वही परिवर्तनों के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करके नए परिवर्तनों में आस्था पैदा कर सकता है और नए परिवर्तनों को लाने में समाज का नेतृत्व भी कर सकता है। सामाजिक परिवर्तन की दृष्टि से शिक्षक एक मित्र, पथ-प्रदर्शक और दार्शनिक के रूप में बहुत महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व सिद्ध हो सकता है। शिक्षक की भूमिका के संदर्भ में अग्रलिखित बातें दृष्टव्य हैं–

शिक्षक की भूमिका

1. शिक्षक को सामाजिक परिवर्तन को सुनियोजित दिशा व गति प्रदान करनी चाहिए।
2. शिक्षक को प्रजातांत्रिक जीवन-मार्ग अपनाना चाहिए।

नोट

3. शिक्षक का व्यवहार निष्पक्ष और सभी के लिए समान होना चाहिए।
4. शिक्षक को समाज में व्याप्त संकीर्णता और पिछड़ेपन को दूर करके आदर्शों व मूल्यों की प्रतिष्ठा करनी चाहिए।
5. शिक्षक को बालकों की सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों के कारण उनमें उच्चता और निम्नता की भावना को पनपने नहीं देना चाहिए।
6. शिक्षक को समाज की वैज्ञानिक और प्रौद्योगिक प्रगति के विकास में सक्रिय योगदान देना चाहिए।
7. शिक्षक को लोगों के मन में सांस्कृतिक जड़ता की भावना को दूर करके उन्हें नवीन परिवर्तन के लिए तैयार करना चाहिए।
8. शिक्षक बुद्धिजीवी होता है। उसे ज्ञान-विज्ञान के विविध क्षेत्रों की व्यापक जानकारी होती है। अपने इस उच्च ज्ञान के आधार पर उसे नए परिवर्तनों के लिए भूमिका तैयार करनी चाहिए। उन्हें प्रारंभ करना चाहिए और उनको नियंत्रित करना चाहिए, जिससे ये परिवर्तन सही दिशा की ओर हो सकें।
9. शिक्षक को समाज में होने वाले नवीन परिवर्तन की जानकारी देनी चाहिए, जिससे सभी लोग उन परिवर्तनों को लाने में सहयोग करें।
10. शिक्षक को बालकों के समक्ष अपने को आदर्श रूप में प्रस्तुत करना चाहिए, जिससे विद्यार्थी उसका अनुकरण करके अपने विचारों को प्रगतिशील बना सके।
11. शिक्षक को पाठयक्रम में वैज्ञानिक और तकनीकी विषयों को महत्त्व देना चाहिए, जिससे समाज वैज्ञानिक और तकनीकी की दृष्टि से विकास कर सकें।
12. शिक्षक को बालकों के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास करना चाहिए, जिससे वे नए समाज की संरचना में अपना सहयोग दे सकें।
13. शिक्षक को समाज में व्याप्त कुरीतियों, अंधविश्वासों और समस्याओं से अवगत होना चाहिए तथा इनका समाधान करके समाज में प्रगतिशील मूल्य स्थापित करने चाहिए।
14. शिक्षक को सामाजिक परिवर्तन लाने के लिए कभी-कभी बालकों को कक्षा की सीमा के बाहर भी शिक्षण कार्य करना चाहिए और विविध प्रकार की जानकारी प्रदान करनी चाहिए।
15. शिक्षक को समाज की गतिविधियों और क्रियाकलापों का पूर्ण परिज्ञान होना चाहिए, जिससे वह समाज को विचार और क्रिया में नेतृत्व प्रदार कर सके।

1.36 भारत में सामाजिक परिवर्तन के कारक

भारत एक विशाल देश है और यहाँ विभिन्न प्रकार के खान-पान, रहन-सहन, जलवायु, राजनैतिक पार्टियाँ, भाषा आदि देखने को मिलती है। फिर भी इन भिन्नताओं के बीच इस देश में कुछ समानताएँ व एकता भी देखने को मिलती है। यही कारण है कि इस देश में सामाजिक परिवर्तन के कुछ सामान्य कारणों को भी ढूँढ़ा जा सकता है। वे कारण इस प्रकार हैं–

1. **पाश्चात्य सभ्यता व संस्कृति** (Western civilization and culture)–भारतीय समाज में परिवर्तन की एक प्रभावशाली शक्ति पाश्चात्य सभ्यता व संस्कृति है। आधुनिक भारत

नोट

में रहन-सहन, पोशाक, खान-पान, गीत, नृत्य, अभिवादन के ढंग, मकानों के डिजाइन, मकान सजाने के ढंग आदि असंख्य विषयों में जो परिवर्तन हो गये हैं या हो रहे हैं वे सभी पाश्चात्य सभ्यता व संस्कृति के कारण ही काफी सीमा तक प्रभावित हुए हैं। उसी प्रकार पाश्चात्य शिक्षा ने हमारा संबंध दुनिया के अन्य समाज के साथ जोड़ दिया है। उस पारस्परिक संपर्क के कारण भी भारतीय समाज में अनेक प्रकार के परिवर्तन हुए हैं। 'हिप्पी संस्कृति' आज भारतीय समाज में कितना अधिक छाया हुआ है और किस सीमा तक भारतीय नवयुवक व युवतियों के जीवन-प्रतिमान (life pattern) में परिवर्तन लाता जा रहा है, इस सत्य को हम सभी लोग जानते हैं। डॉ. एम. एन. श्रीनिवास का विचार है कि भारत में अंग्रेजी शासन की स्थापना से लेकर अब तक इस समाज में पश्चिमीकरण (westernization) की जो प्रक्रिया चल पड़ी है उसके फलस्वरूप भारतीय समाज में अनेक परिवर्तन हुए हैं और आज भी हो रहे हैं। डॉ. श्रीनिवास ने लिखा है, ''अंग्रेजीइ शासन के कारण भारतीय समाज और संस्कृति में बुनियादी और स्थायी परिवर्तन हुए। यह काल भारतीय इतिहास के पिछले सभी कालों से भिन्न था क्योंकि अंग्रेज अपने साथ नई औद्योगिकी, संस्थाएँ, ज्ञान, विश्वास और मूल्य (values) लेकर आए थे। नई औद्योगिकी और उसके कारण संचार साधनों में होने वाली क्रांति की सहायता से अंग्रेजों ने देश का ऐसा एकीकरण किया जैसा पहले उसके इतिहास में कभी नहीं हुआ था।''

2. **औद्योगीकरण व नगरीकरण** (Industrialization and urbanization)—अंग्रेजी शासन की स्थापना के बाद से भारत में औद्योगीकरण नगरीकरण को जो लहर आई है उसके कारण भारतीय समाज में अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। औद्योगीकरण ने यदि एक ओर बड़े पैमाने में उत्पादन कार्य को आरंभ करके इस देश में पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था का श्रीगणेश किया है तो दूसरी ओर गंदी बस्ती (slums), औद्योगिक झगड़े व तनाव, श्रमिक संघ, बीमारी, बेकारी व गृह-उद्योगों का विनाश आदि परिणामों व परिवर्तनों को भी उत्पन्न किया है। नगर व उद्योग-धंधे अपने अनेक आकर्षणों व प्रलोभनों द्वारा गाँव के लोगों को अपनी ओर खींचते हैं जिसके फलस्वरूप गाँव के घरेलू उद्योग व संयुक्त परिवार टूटता है। साथ ही गाँव का संपर्क नगरों से घनिष्ठ हो जाने के कारण गाँव का जीवन-प्रतिमान भी तेजी से परिवर्तित हो जाता है। बड़े-बड़े औद्योगिक केंद्रों में घनी आबादी होने के कारण व होटल, जलपान-गृह, कैंटीन आदि में साथ-साथ बैठकर खाने-पीने के कारण जाति-प्रथा के खान-पान, विवाह, पेशा आदि से संबंधित नियमों व प्रतिबंधों में अनेक परिवर्तन हो जाते है और हो भी गये हैं। परंपरागत भारतीय सामाजिक संगठन के तीन आधार-स्तंभों जाति-प्रथा, संयुक्त परिवार व पंचायत-में अनेक क्रांतिकारी परिवर्तन लाने में औद्योगीकरण व नगरीकरण की प्रक्रिया ने अत्यंत महत्त्वपूर्ण योगदान किया है।

3. **संस्कृतीकरण** (Culturization)—डॉ. एम. एन. श्रीनिवास (M. N. Srinivas) ने भारतीय समाज में, विशेषकर जातीय संरचना में होने वाले अनेक परिवर्तनों का कारण संस्कृतीकरण माना है। संस्कृतीकरण की व्याख्या करते हुए आपने लिखा है, ''संस्कृतीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा कोई निम्नस्तरीय हिंदू-जाति या कोई जनजाति अथवा अन्य समूह किसी उच्चस्तरीय और प्राय: 'द्विज' जाति का अनुकरण करता हुआ अपने रीति-रिवाज, कर्मकांड, विचारधारा और जीवनपद्धति को बदलता है। आम-तौर पर ऐसे परिवर्तनों के बाद वह जाति अपने परंपरागत जातीय स्थान से ऊँचे स्थान का दावा करने लगती है। साधारणत: बहुत

नोट

दिनों तक और वास्तव में एक-दो पीढ़ियों तक दावा किए जाने के बाद उच्चस्थान की स्वीकृति मिलती है।'' संस्कृतीकरण की इस प्रक्रिया द्वारा निम्न जाति के लोगों की केवल जातीय स्थिति, प्रथाओं व आदतों में ही नहीं अपितु विचारों व मूल्यों में भी परिवर्तन हो जाते हैं। इस प्रकार, डॉ. श्रीनिवास के अनुसार, आधुनिक भारत में संस्कृतीकरण की प्रक्रिया के द्वारा निम्न जातियों में अनेक उल्लेखनीय परिवर्तन होते जा रहे हैं जिसके फलस्वरूप एक ओर उनमें नये विचारों, मूल्यों व आदतों का श्रीगणेश हो रहा है और दूसरी ओर उनके मन से हीनता की भावना का भी लोप होता जा रहा है।

4. **कल्याण राज्य की स्थापना** (Establishment of Welfare State)–स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत में कल्याण राज्य की स्थापना की दिशा में निरंतर प्रयास चल रहा है जिसके फलस्वरूप राज्य का कार्य क्षेत्र दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है और सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को अधिक गति (speed) प्राप्त होती जा रही है। भारत में केंद्रीय तथा राज्य सरकार इस बात का प्रयत्न कर रहे हैं कि सामान्य हितों की वृद्धि के लिए व्यापारियों से उपभोक्ता की, पूँजीवादी से श्रमिकों की और बड़े उद्योगों से छोटे व गृह-उद्योगों की रक्षा की जाए, स्वस्थ वैज्ञानिक साधनों को काम में लाकर जीवन की भौतिक परिस्थितियों का सुधार किया जाए, प्राकृतिक साधनों की रक्षा करते हुए उनके उचित प्रयोग के साधनों की व्यवस्था की जाए, शिक्षा तथा स्वास्थ्य के क्षेत्र में आम जनता के लिए अधिकतम सुविधाओं को सुलभ बनाया जाए, संस्कृति के विकास के लिए राष्ट्रीय संग्रहालयों की स्थापना तथा वैज्ञानिक अनुसंधान व शोधकार्य की सहायता की जाए, सब वर्गों विशेषकर पिछड़े वर्गों के हितों को ध्यान रखकर कृषि, उद्योग तथा व्यापार की उन्नति व आवश्यकतानुसार राष्ट्रीयकरण किया जाए तथा राष्ट्रीय धन के समान वितरण की व्यवस्था की जाए। स्वतंत्रता प्राप्ति से अब तक इस 25 वर्ष की अवधि में इन सब क्षेत्रों में सरकार की उपलब्धियाँ वास्तव में बहुत कम हैं, फिर भी प्रयत्न जारी है और उन प्रयत्नों के फलस्वरूप भारत में सामाजिक परिवर्तन भी हो रहे हैं।

5. **कृषि व्यवसाय का मशीनीकरण व आधुनिकीकरण** (Mechanization and modernization of agriculture)–भारत गाँव का देश है और यहाँ के लोगों का मुख्य व्यवसाय कृषि ही है। मशीनों के आविष्कार होने तथा शहरों के निकट संपर्क में आने एवं कृषि के संबंध में नवीनतम खोजों से धीरे-धीरे परिचित होने के फलस्वरूप भारतीय गाँवों में कृषि व्यवसाय का उत्तरोत्तर मशीनीकरण व आधुनिकीकरण होता जा रहा है। फलत: यह देश अनेक वर्षों तक खाद्यान्न आदि के विषय में विदेशों पर निर्भरशील रहने के बाद अब धीरे-धीरे आत्म-निर्भर की स्थिति पर पहुँच गया है। भारतीय आर्थिक जीवन में यह एक उल्लेखनीय परिवर्तन व उपलब्धि है। इस मशीनीकरण व आधुनिकीकरण के फलस्वरूप भारतीय किसानों की आर्थिक स्थिति में परिवर्तन हुआ है और साथ ही उनके विचार, मूल्य, आदर्श व रहन-सहन भी बदला है।

6. **राजनैतिक संगठन** (Political organization)–भारत में सामाजिक परिवर्तन लाने में विभिन्न राजनैतिक पार्टियों ने भी अपनी भूमिका अदा की है। पहले भारतीय जनता में राजनैतिक चेतनता का अत्यंत अभाव था। अपने अधिकारों के संबंध में, सामाजिक कर्तव्यों के संबंध में एवं समाज की विविध समस्याओं के संबंध में वे अधिक जागरूक नहीं थे।

नोट

राजनैतिक पार्टियों ने अपने-अपने आदर्शों व उद्देश्यों के अनुसार अपने-अपने ढंग के प्रचार द्वारा जनता में राजनैतिक व सामाजिक जागृति लाने में सफल हुए हैं। इन्हीं राजनैतिक दलों के क्रिया-कलापों व प्रचारों के फलस्वरूप अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। चुनाव में अधिक दिलचस्पी, ग्रामीण जनता में एक विशेष राजनैतिक पार्टी को अच्छा मानने की प्रवृत्ति, युवा पीढ़ी के द्वारा देश के नेतृत्व में उत्तरोत्तर प्रवेश, महिलाओं का राजनैतिक व सामजिक क्षेत्र में कार्य करना व नेतृत्व करना आदि महत्त्वपूर्ण परिवर्तन राजनैतिक दलों के क्रियाकलापों व विचारों का ही परिणाम है।

7. **महिला शिक्षा** (Female education)—भारत में सामाजिक परिवर्तन लाने में महिला शिक्षा भी एक उल्लेखनीय कारण है। महिलाएँ भारतीय समाज की अत्यंत पिछड़ी व रूढ़िवादी अंग रही हैं और उनका जीवन परिवार की चार दीवारों के अंदर खाना बनाने, बच्चों को जन्म देने व पति एवं बच्चों की देखरेख करते हुए ही बीत जाता था, पर आज उन्हें शिक्षा प्राप्त करने की जो सुविधाएँ प्राप्त हो रही हैं, उसके कारण उनमें एक नवीन जागृति आ गई है और वे अपने अधिकार व कर्तव्यों के संबंध में पहले से अब कहीं ज्यादा जागरूक हो गई हैं। महिला शिक्षा ने उनकी रूढ़िवादिता को बहुत कम कर दिया है, वे अब घर से बाहर निकलकर न केवल नौकरी करती हैं, अपितु पार्टी व क्लब जाती हैं, पिकनिक पर निकलती हैं, महिला संगठनों को बनातीं हैं, समाज-सेविका के रूप में कार्य करती हैं, राजनीति में भी खुलकर हिस्सा लेती हैं और कोर्ट में जाकर 'लव मैरिज' (स्वअम उंततपंहम) करके जाति-पाँति के भेदभाव को चुनौती देती हैं। ये सभी परिवर्तन काफी हद तक महिला शिक्षा के विस्तार के कारण ही संभव हुए हैं। क्योंकि अन्य कारकों की क्रियाशीलता भी शिक्षा के स्तर पर ही निर्भर करती है।

8. **सामाजिक विधान** (Social legislation)—भारतीय समाज में अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन लाने में सरकार द्वारा पारित सामाजिक विधानों का सराहनीय सहयोग रहा है। कुछ उदाहरण ों द्वारा इस बात को सिद्ध किया जा सकता है। 'विशेष विवाह अधिनियम, 1954' ने जाति-पाँति के भेदभाव को दूर करके अंतर्जातीय विवाह (Intercaste marriage) के द्वार को खोल दिया है, जबकि 'हिंदू विवाह अधिनियम 1955' एक विवाह को अनिवार्य करते हुए कुछ निश्चित अवस्थाओं में विवाह-विच्छेद की आज्ञा प्रदान करता है जो कि हिंदू समाज में इससे पहले कदापि संभव न था। इसी प्रकार 'बाल-विवाह निरोधक अधिनियम, 1929' विवाह की आयु में परिवर्तन लाने में सहायक सिद्ध हुआ है और 'दहेज निरोधक अधिनियम, 1991' के पास हो जाने से वर-मूल्य प्रथा की कटुता में परिवर्तन होने की संभावनाएँ बढ़ गई हैं। 'हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1959' के पास हो जाने के बाद न केवल पत्नी व माता को बल्कि पुत्री को भी परिवार की संपत्ति पर अधिकार प्राप्त हो गया है जो कि हिंदू लड़कियों के आर्थिक अधिकार के क्षेत्र में एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण परिवर्तन है। इसी प्रकार 'हिंदू विधवा पुनर्विवाह अधिनियम, 1856' के द्वारा जो अधिकार पुनर्विवाह करने के संबंध में विधवाओं को मिला है उससे विधवाओं की स्थिति में परिवर्तन आ गया है। इतना ही नहीं, 'अस्पृश्यता (अपराध) अधिनियम, 1955' के पास हो जाने के बाद हरिजनों पर परंपरागत रूप में हजारों वर्षों से लादे गये खाने-पीने सामाजिक सहवास, पेशों के चुनाव तथा छुआछूत संबंधी प्रतिबंधों में अनेक परिवर्तन आज देखने को मिलते हैं। अत: स्पष्ट है कि भारत में सामाजिक परिवर्तन का एक महत्त्वपूर्ण कारक सामाजिक विधान है।

नोट

9. **बढ़ती हुई जनसंख्या** (Increasing population)–भारतीय समाज में बढ़ती हुई जनसंख्या भी अनेक परिवर्तन का कारण बनती है। सन् 1991 में जो जनसंख्या 84.6 करोड़ थी, वह सन् 2001 में बढ़कर 102.7 करोड़ हो गई है। इस दस साल की अवधि में भारत की आबादी में 18.10 करोड़ की बढ़ोतरी हुई है। संयुक्त राष्ट्र जनसंख्या प्रक्षेपण के अनुसार सन् 2035 तक भारत की जनसंख्या 1.6 अरब हो जाएगी और भारत विश्व का सबसे अधिक जनसंख्या वाला देश बन जाएग॥ भारत में शिशु मृत्युदर सन् 1991 में 146 प्रति एक हजार जीवित जन्म थी जो 2000 में घटकर 68 प्रति एक हजार जीवित जन्म अनुमानित की गई। अंतिम आँकड़ो के अनुसार भारत की जनसंख्या विश्व की कुल संख्या का 16.87 प्रतिशत है। जनसंख्या के इस विस्फोट के कारण ही पिछले पचास वर्षों में राष्ट्रीय आय बढ़कर पाँच गुनी हो जाने पर भी प्रति व्यक्ति आय मूल्य-वृद्धि को देखते हुए केवल दुगनी ही बढ़ी है। इस स्थिति से निपटने के लिए दसवीं पंचवर्षीय योजना (2002-07) के अंतर्गत परिवार कल्याण से संबंधित सभी जरूरतों को पूरा करने का लक्ष्य रखा गया है। इसी जनसंख्या के विस्फोट के कारण देश में बेरोजगारी की संख्या प्रथम पंचवर्षीय योजना के अंत में 80 लाख से बढ़कर आठवीं योजना के अंत तक 650 लाख हो जाने का अनुमान था। अत्यधिक जनसंख्या के कारण ही इस देश में प्रति व्यक्ति दवाइयों पर केवल 4 रुपये खर्च किए जाते हैं। जबकि अमेरिका में 193 रुपये, फ्रांस में 197 रुपये और जापान में 117 रुपये खर्च किए जाते हैं। आजादी के समय देश में केवल छह करोड़ लोग लिखना-पढ़ना जानते थे। सन् 1991 में इनकी संख्या बढ़कर लगभग 44 करोड़ तक जा पहुँची। परंतु जनसंख्या के अनुपात में शिक्षा का प्रतिशत अभी 30 से ज्यादा नहीं है। भारत में कपड़े के उत्पादन में भी अत्यधिक वृद्धि हुई है; फिर भी लोग नंगे क्यों? इस प्रश्न का उत्तर भी बढ़ती हुई जनसंख्या में ही ढूँढ़ा जा सकता है। बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण ही इस देश में नौवीं योजना शुरू होने से पूर्व 310 लाख आवासीय इकाइयों की कमी होगी। औद्योगिक शहरों में सामान्य आदमी के लिए गंदी बस्तियाँ, झोपड़े और फुटपाथ ही नसीब होते हैं। हर साल 20 लाख मकानों की दर से इस कमी में और वृद्धि होती है। जनसंख्या में अत्यधिक वृद्धि के कारण ही इस देश में निर्धनता, बेरोजगारी, गंभीर प्रकार के रोग, भुखमरी आदि की समस्याएँ एक दयनीय स्थिति पर पहुँच गई हैं। अत: स्पष्ट है कि भारत में अनेक सामाजिक परिवर्तन जनसंख्या में अत्यधिक वृद्धि के कारण हुए हैं।

10. **नियोजन** (Planning)–भारतीय समाज में कुछ पूर्व निश्चित परिवर्तनों को लाने में सरकार द्वारा बनाए गए नियोजन का बहुत बड़ा हाथ रहा है। संपूर्ण समाज के सामाजिक-आर्थिक ढाँचे को किस रूप से परिवर्तित किया जाए कि उन परिवर्तनों से आम जनता का अधिकतम कल्याण संभव हो एवं समाज प्रगति की ओर बढ़े, यह नियोजन द्वारा ही निर्धारित किया जाता है। भारत सरकार के योजना आयोग (Planning Commission) ने लिखा है, ''नियोजन वास्तव में सुनिश्चित सामाजिक लक्ष्यों की दृष्टि से अधिकतम लाभ उठाने के लिए अपने साधनों को संगठित करने तथा उपयोग में लाने की पद्धति है।'' इसी प्रकार का नियोजन हमारे देश में पंचवर्षीय योजनाएँ हैं। पंचवर्षीय योजनाओं द्वारा मुख्यत: आर्थिक जीवन में और सामान्य रूप में सामाजिक व सांस्कृतिक जीवन में नियोजित परिवर्तन लाने के प्रयत्न किए जाते हैं। कृषि उत्पादन, बड़े उद्योग-धंधे, व्यापार वाणिज्य, यातायात व

नोट

संचार, ग्रामीण, उद्योग, आवास, श्रम कल्याण, पिछड़ी जातियों, जनजातियों तथा वर्गों का कल्याण आदि क्षेत्रों में जो परिवर्तन आज हमें देखने को मिलते हैं, उनकी रूपरेखा पंचवर्षीय योजनाओं में ही निर्धारित की गई है। उसी प्रकार सामुदायिक विकास योजनाओं के द्वारा भारतीय ग्रामीण जीवन में बहुमुखी परिवर्तन लाया गया है। इसका भी लेखा-जोखा हमें पंचवर्षीय योजनाओं में देखने को मिलता है। परंतु इन योजनाओं के अतिरिक्त एक और नियोजन-परिवार नियोजन (Family planning) के द्वारा भातरवर्ष में जन्मदर को परिवर्तित करने अर्थात् जन्मदर को घटाने का प्रयास किया गया है और उसमें पर्याप्त सफलता भी मिली है। परिवार नियोजन की वार्षिक जन्मदर जो 1961 में 41.7 प्रति हजार थी, को घटाकर सातवीं योजना तक 30 प्रति हजार और 1990-95 तक 29 प्रति हजार है।

सरकारी अनुमान के अनुसार यदि आगे भी यह प्रवृत्तियाँ बनी रहीं तथा परिवार नियोजन कार्यक्रमों को अपेक्षित सफलताएँ मिलती रहीं तो भारत में बीसवीं शताब्दी के अंत तक जन्म दर 24 प्रति हजार तक नीचे चले जाने की आशा है। इससे पता चलता है कि परिवार नियोजन को प्रभाव अनुमान से अधिक हुआ है।

1.37 आर्थिक आवश्यकताएँ

उपर्युक्त समस्याओं के प्रकाश में यदि आज की आर्थिक आवश्यकताओं की गणना की जाये तो निम्नांकित हमारी आर्थिक आवश्यकताओं के रूप में उभरकर आयेंगी–

(1) कुशल जनशक्ति में वृद्धि

(2) भौतिक संसाधनों का विकास

(3) उत्पादन में वृद्धि

(4) कृषि एवं पशुपालन की स्थिति में सुधार

(5) राष्ट्रीय आय का समान वितरण

(6) बेरोजगारी की समाप्ति

उपरोक्त आवश्यकताओं की पूर्ति का हमारा लक्ष्य आर्थिक विकास है, जो कि हमारे राष्ट्रीय जीवन का प्रधान लक्ष्य है। अतः आधुनिक भारत की शिक्षा का प्रथम उद्देश्य 'आर्थिक विकास' होना चाहिये। इसमें निम्नलिखित बातें महत्त्वपूर्ण हैं–

राष्ट्रीय आर्थिक विकास का उद्देश्य

भारत एक लोकतांत्रिक समाजवादी समाज-व्यवस्था में रूपांतरित होने का प्रयास कर रहा है। यह तभी संभव है, जबकि समाज के सभी वर्गों को उत्पादकता में वृद्धि करने वाली शिक्षा, सुलभ कराई जाये। उत्पादन-वृद्धि से राष्ट्रीय आय में वृद्धि होगी और राष्ट्रीय आय में वृद्धि से राष्ट्रीय आर्थिक विकास होगा। राष्ट्र में बेरोजगारी कम होगी। सभी को आजीविका के अधिकाधिक एवं उत्तम अवसर मिलेंगे। हमारे मानवीय एवं भौतिक संसाधनों में वृद्धि होगी। भारत के प्रमुख उद्योग–कृषि एवं पशुपालन का विकास होगा। इस दृष्टि से शिक्षा उत्पादनोन्मुख होनी चाहिये।

उत्पादनोन्मुख शिक्षा

उत्पादन में वृद्धि आर्थिक विकास का मूलाधार है। जब तक शिक्षा को जन-जन तक पहुँचने वाले

साधन-उत्पादकता से नहीं जोड़ा जाता, तब तक हमारी आर्थिक आवश्यकताएँ पूरी नहीं हो सकतीं। अत: शिक्षा का पहला उत्पादकता से जुड़ना है। उत्पादकता से जोड़ने की दृष्टि से शिक्षा-क्षेत्र में निम्नांकित कदम उठाने होंगे–

नोट

शिक्षा में शारीरिक श्रम की प्रतिष्ठा

अंग्रेजी शासनकाल में शिक्षा को नौकरी से जोड़कर शिक्षितों के मन में शारीरिक श्रम के प्रति हीनता की भावना पैदा कर दी, जिसका भयंकर दुष्परिणाम हुआ, शिक्षा का उत्पादकता से दूर हो जाना।

महात्मा गाँधी ने शिक्षा के क्षेत्र में इस कमी को पहचाना और बुनियादी शिक्षा में श्रम की प्रतिष्ठा कर शिक्षा को उत्पादकता से जोड़ने का प्रयास किया। यूरोप के समाजवादी देशों के शैक्षिक पाठ्यक्रम में शारीरिक कार्य, कार्यानुभव आदि विभिन्न नामों से, इस विषय को अनिवार्य रूप से शामिल किया जाता है। शिक्षा आयोग ने इसे 'कार्यानुभव' (Work Experience) नाम देकर सामान्य शिक्षा के अंतिम अंग के रूप में मानने की सिफारिश की है। कार्यानुभव का अर्थ स्कूल, घर, कारखाने, खेत, फैक्ट्री या अन्य किसी भी उत्पादक स्थिति में उत्पादक काम में भाग लेना है, जिससे कि शिक्षा और कार्य का एकीकरण हो सके और शिक्षित जनशक्ति, कुशल जनशक्ति में परिणित होकर उत्पादन का महत्त्वपूर्ण साधन बन सके।

ईश्वर भाई पटेल समिति ने इसे समाजोपयोगी उत्पादक कार्य (Socially Useful Productive Work) (SUPW) के नाम से अभिहित किया। इन्होंने शारीरिक श्रम के इस कार्यक्रम के साथ समाजोपयोगिता (Social usefulness) तथा उत्पादकता (Productivity) दो शब्द जोड़कर इसकी दिशा को स्पष्ट किया।

माध्यमिक स्तर तक समाजोपयोगी उत्पादक शारीरिक कार्य को अनिवार्य अंग के रूप में अपनाना (Adopt the Socially Useful Productive Physical Work as an Essential Part till Medium Stage)

अंग्रेजी शिक्षा के परिणामस्वरूप काम की दुनिया और अध्ययन-अध्यापन की दुनिया के बीच एक चौड़ी खाई बन गयी, जिससे कि शारीरिक कार्य को हल्का समझकर हेय दृष्टि से देखा जाने लगा। परिणामत: एक ओर जहाँ देश के कुटीर एवं गृह-उद्योग नष्ट हो गये, वहाँ दूसरी ओर बेरोजगारी की बाढ़ आ गयी, जिससे कि उत्पादन में ह्रास हो गया और आर्थिक विकास मंद पड़ गया। अत: आर्थिक विकास की दिशा में आगे बढ़ने के लिये पहली जरूरत, उत्पादक कार्यों में प्रशिक्षण द्वारा शारीरिक श्रम के प्रति निष्ठा पैदा करना है। शिक्षा कार्यक्रम में इसके समावेश करते समय निम्नांकित बातों का ध्यान रखा जाना चाहिये–

(i) इसके क्रियान्वयन में यर्थाथवादी दृष्टिकोण अपनाना चाहिए।

(ii) इसे कृषि तथा अन्य लघु उद्योगों से, जिनमें विज्ञान एवं तकनीकी के माध्यम से उत्पादन क्रियायें होती हैं, संबद्ध किया जाना चाहिए।

(iii) इसका उद्देश्य कुछ न कुछ कमाना होना चाहिए, जिससे 'सीखो और कमाओ' के सिद्धांत पर शिक्षा आगे बढ़े।

(iv) शिक्षा तब तक पूर्ण नहीं मानी जाए, जब तक कि वह किसी न किसी प्रकार के ऐसे उत्पादक कार्य में भाग लेकर कुछ कमा न ले।

(v) इसके द्वारा छात्रों में निम्नांकित मूल्यों का विकास करना चाहिए–

(अ) शारीरिक श्रम के प्रति निष्ठा

(ब) उत्पादन-कार्य में आस्था

(स) कठोर श्रम और मितव्ययिता के लिए तत्परता।

नोट

प्रभावकारी शैक्षिक साधन होने के अतिरिक्त समाजोपयोगी उत्पादक कार्य निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण कार्य करेगा–

(i) बौद्धिक और शारीरिक कार्य के अंतर और उस पर आधारित सामाजिक स्तर के निर्माण की तीव्रता को कम करना।

(ii) युवकों को कर्म-क्षेत्र में प्रवेश दिलाना।

(iii) रोजगार की समस्या को आसान बनाना।

(iv) राष्ट्रीय उत्पादन वृद्धि में योगदान करना–उत्पादन-क्रियाओं तथा विज्ञान के उपयोग के लिये छात्रों में अंतर्दृष्टि का विकास करके तथा उनमें विकास करके तथा उनमें कठिन एवं उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य करने की आदत डालकर।

(v) सामाजिक एवं राष्ट्रीय एकीकरण में योगदान करना–व्यक्ति एवं समुदाय के बीच संबंध सुदृढ़ बनाकर तथा शिक्षित व्यक्तियों एवं सामान्य जनता में एक-दूसरे को समझने की सूझ उत्पन्न करके।

विज्ञान को शिक्षा के मूलाधार के रूप में अपनाना

भारत एक परंपरागत समाज से आधुनिक समाज की ओर बढ़ रहा है। आधुनिक समाज विज्ञान आधारित टेक्नोलोजी का उपयोग और विकास करता है जिससे कृषि के आधुनिकीकरण और उद्योगों के विकास से अपना आर्थिक विकास करता है। भारत को अपनी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति की दिशा में आर्थिक विकास के सशक्त साधन 'शिक्षा' को विज्ञान आधारित बनाना होगा। आर्थिक विकास क्षेत्र में हुए अनुसंधान इस बात की पुष्टि करते हैं कि शिक्षा, विज्ञान एवं टेक्नोलोजी का आर्थिक विकास में 50% तक योगदान है। इस निष्कर्ष के आधार पर बहुत से देश अपना राष्ट्रीय उत्पादन बढ़ाने में संपन्न हुए हैं। अत: हमें 'विज्ञान' को विद्यालयी शिक्षा का अभिन्न अंग बनाना होगा। विश्वविद्यालय स्तर पर मानविकी एवं समाज विज्ञान के पाठ्यक्रमों में विज्ञान को भी शामिल करना होगा।

विज्ञान-शिक्षण के उद्देश्य विज्ञान की विषय-वस्तु एवं उसके जीवन में उपयोग से होने चाहिए, जिससे हमारे राष्ट्रीय विकास में गति आये, क्योंकि विज्ञान के अध्ययन से निम्न लक्ष्यों की पूर्ति हो सकती है–

(i) मूल सिद्धांतों को उत्तरोत्तर गंभीर रूप से समझने की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिलना।

(ii) समस्याओं को सुलझाने वाले विश्लेषणात्मक कौशल का विकास।

(iii) विश्लेषणात्मक कौशल का सामाजिक जीवन एवं भौतिक वातावरण की समस्याओं को सुलझाने में उपयोग।

(iv) जिज्ञासा और प्रयोग की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन।

(v) कर्त्तव्य तथा दायित्व के रूप में सत्य के अनुसंधान के प्रति वचनबद्धता का विकास।

(vi) मताग्रह के बंधन को शिथिल करना।

(vii) अंध-विश्वास, भाग्यवाद, धर्मांधता और निश्चेष्ट, आत्म-समर्पण को दूर करना।

(viii) वैचारिक तनावों में कमी, प्राकृतिक वातावरण के रहस्यों को समझने में सहायता।

(ix) अपने तथा विश्व में अपने स्थान को समझने में सहायता।

नोट

कृषि एवं संबद्ध विज्ञानों की शिक्षा एवं अनुसंधान पर बल

भारत एक कृषि प्रधान देश है। यहाँ की 70: जनता कृषि एवं कृषि से संबंधित उद्योगों से अपना जीवन निर्वाह करती है। कृषि एवं कृषि-संबद्ध उद्योगों के आधुनिकीरण एवं विकास से ही हमारी अर्थव्यवस्था में सुधार संभव है। कृषि की शिक्षा, संबंध उद्योगों की शिक्षा एवं तत्संबंधित अनुसंधान पर सर्वाधिक बल दिया जाना चाहिये। अधिकाधिक छात्रों को इसी दिशा में अध्ययन एवं अनुसंधान हेतु प्रेरित करना चाहिये।

शिक्षा का व्यावसायीकरण

भारत की अर्थ-व्यवस्था कृषि-प्रधान अर्थ-व्यवस्था है। इस प्रकार की अर्थ-व्यवस्था में 7-8 वर्ष की सामान्य शिक्षा की अनिवार्यता उपयोगी है, किंतु उच्च एवं उच्चतर शिक्षा को उपयोगी नहीं कहा जा सकता। यहाँ सामान्य शिक्षा के बाद व्यावसायिक शिक्षा उपयोगी हो सकती है। अत: वर्ष की सामान्य शिक्षा के बाद 2-3 वर्ष की व्यवसाय की शिक्षा दी जानी चाहिये, जिससे कि एक ओर युवक-युवतियों को जीवन में प्रवेश के लिये तैयार कर सकें तो दूसरी ओर राष्ट्रीय उत्पादन की वृद्धि में योगदान कर राष्ट्रीय-आर्थिक विकास कर सकें। इसके माध्यम से हम शिक्षा को उत्पादकता से भी जोड़ सकेंगे।

व्यावसायिक शिक्षा के अंतर्गत उन्हीं व्यवसायों में प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए जो या तो कृषि से संबद्ध हो या जिन क्षेत्रों में प्रशिक्षित कुशल जनशक्ति का अभाव हो। कृषि टेक्नोलोजी को प्रधानता दी जानी चाहिये।

1.38 सामाजिक परिवर्तन में शिक्षा

भारत एक प्राचीन देश है। यहाँ वर्णाश्रम धर्म की वैज्ञानिक समाज-व्यवस्था का विकास हुआ था, किंतु धीरे-धीरे यह व्यवस्था विकृति की ओर बढ़ती गयी। वर्ण का निर्धारण गुण एवं कर्म के स्थान पर जन्म से होने लगा। वर्णों के अंतर्गत अनेकानेक जातियों का जन्म हुआ। सामाजिक ऊँच-नीच का भेद बढ़ता चला गया। यह भेद अस्पृश्यता की सीमा तक पहुँच गया। जहाँ स्त्रियों की पूजा की जाती थी, वे स्त्रियाँ समाज में द्वितीय श्रेणी की नागरिक हो गईं। उन्हें क्रय-विक्रय की वस्तु समझा जाने लगा। हमारे सामाजिक संबंधों के आधार खिसकने लगे। हम सामाजिक विघटन की ओर अग्रसर हुए, जिससे आज परिवार, विवाह आदि सामाजिक संस्थाएँ विघटित हो रही हैं।

आज जातिवाद, वंश-परंपरा और मूल्यहीन सामाजिक जीवन के कारण सामाजिक भ्रष्टाचार बढ़ रहा है। दहेज अपना मुँह फैलाये है। बलात्कार, स्त्रियों द्वारा आत्महत्या, उन्हें जलाकर मार देना आदि भारतीय समाज पर कलंक है।

शिक्षा का उद्देश्य निम्नांकित बाधाओं को दूर करके समानता पर आधारित सामाजिक व्यवस्था का विकास करना होना चाहिए–

1. जातिवाद
2. वंश परंपरा
3. अस्पृश्यता

4. ऊँच-नीच की भावना
5. स्त्रियों का समाज में हीन स्थान
6. स्त्रियों के साथ दुर्व्यवहार
7. उन्नत एवं पिछड़े वर्गों की बढ़ती खाई
8. सामाजिक मूल्यों का ह्रास
9. परिवार का विघटित स्वरूप
10. विवाह का विकृत रूप (दहेज प्रथा)

नोट

1.39 शिक्षा द्वारा सामाजिक परिवर्तन

शिक्षा का उद्देश्य सामाजिक विकास

शिक्षा, सामाजिक परिवर्तन लाने, उनकी पुष्टि करने, उनको आगे बढ़ाने का सामाजिक क्रांति करने का सशक्त साधन है। भारत की वर्तमान परिस्थितियों में सामाजिक विकास के इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु सर्वप्रथम सामाजिक मूल्यों का विकास करना होगा, जिनके अभाव में ही उपरिवर्णित बाधायें उपस्थित हुई हैं।

सामाजिक मूल्यों का विकास

मैकाइवर, पेज आदि समाज-शास्त्रियों के अनुसार समाज सामाजिक संबंधों का जाल है। इन सामाजिक संबंधों का आधार सामाजिक है। इस सामाजिक मूल्यों के निर्देश में ही सामाजिक नियम (Social norms) बनते हैं, जोकि हमारे सामाजिक व्यवहार को नियंत्रित करते हैं। व्यक्ति के अस्तित्व का आदर, व्यक्ति-व्यक्ति में समानता का भाव, परस्पर सद्भाव, प्रेम, त्याग, सेवा, आत्म-नियंत्रण सहनशीलता के आधार पर ही समाज बना रह सकता है। बड़ों का आदर, आज्ञा-पालन, निष्ठा, आस्था, ईमानदारी के बिना समाज नहीं चल सकता। अतः शिक्षालयों के क्रिया-कलापों में इन गुणों के विकास का भरसक प्रयास करना होगा। समाज सेवा के सघन कार्यक्रम हमारी शिक्षा के अभिन्न अंग बनने से ही मूल्यों का विकास हो सकेगा।

स्कूल एवं कॉलेजों को सामुदायिक जीवन का केंद्र बनाना

सामाजिक भावना के विकास के लिये यह आवश्यक है कि हमारे स्कूल एवं कॉलेजों को सामुदायिक क्रिया-कलापों का केंद्र बनाया जाये। हमारी शिक्षा सस्थायें सामुदायिक शिक्षालयों का स्वरूप ग्रहण कर लें, जिसमें कि वे सामुदायिक जीवन को अधिकाधिक उन्नत बना सकें। इससे सहयोग, छात्र/छात्राओं की सेवा, सहिष्णुता आदि की भावनाओं का विकास होगा, जिससे कि इससे किशोरावस्था में ही इस विकास की नींव पड़ जायेगी।

समाज-सेवा कार्यक्रमों को शिक्षा का अभिन्न अंग बनाना

साक्षरता न तो शिक्षा का आदि है और न अंत। अतः शिक्षा को ज्ञानात्मक पक्ष तक ही सीमित न रखकर व्यवहार रूपांतरण की क्रियात्मक शिक्षा पर बल देना होगा। इसके लिये विशेषतया समुदाय के पिछड़े वर्गों, दीन-हीनों की बस्तियों में, विद्यालय द्वारा विभिन्न सेवा कार्यक्रम चलाये जाने चाहिए।

नोट

सामुदायिक विकास के कार्यक्रमों में भाग लेने की आनिवार्यता

शिक्षा संस्थाओं को अभिन्न अंग के रूप में सामुदायिक सेवा-कार्यक्रमों को अपनाना होगा। समुदाय की प्रकृति के अनुसार तथा विद्यालय के छात्र/छात्राओं अवस्थानुसार ये कार्यक्रम भिन्न-भिन्न प्रकार के होंगे किंतु इन कार्यक्रमों में भाग लेना अनिवार्य बनाना होगा। यह निश्चित करना होगा कि जिस छात्र/छात्रा ने कम-से-कम 30 दिन तक इन कार्यक्रमों में भाग नहीं लिया है, उसे सर्टिफिकेट/डिग्री नहीं दी जाएगी । इस प्रकार के कुछ कार्यक्रम निम्नलिखित हैं–

(i) **स्वास्थ्य सेवा कार्यक्रम–**

(अ) सामान्य स्वास्थ्य सेवा शिविर

(ब) विटामिन, दवाइयाँ वितरण-शिविर

(स) महामारी में परिचर्या कार्य

(द) विभिन्न रोग-निवारण हेतु शिविर

(ii) **प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम–**

(अ) व्यावहारिक/उत्पादकता आधारित साक्षरता-शिविर

(ब) संस्कृति प्रसार शिविर

(स) सामान्य ज्ञान शिविर

(iii) **व्यावसायिक/औद्योगिक विकास कार्यक्रम–**

(अ) कृषि प्रशिक्षण शिविर

(ब) कृषि आधारित उद्योग शिविर

(स) खाद, कीटनाशक, दवाइयाँ वितरण-कार्यक्रम सेवा

(iv) **बाढ़-अकाल राहत कार्यक्रम–**

(अ) बाढ़ सहायता शिविर

(ब) राहत कार्यक्रम

ये कार्यक्रम छै (राष्ट्रीय समाज सेवा कार्यक्रम) आदि के माध्यम से प्रभावी बनाये जा सकते हैं। इस हेतु अन्य संगठनों को भी तैयार किया जा सकता है। ये कार्यक्रम पूर्णकालिक, अंशकालिक दोनों तरह के हो सकते हैं। एक वर्ष में कम से कम 20 दिन का पूर्णकालिक तथा 1ऋ महीने का अंशकालिक कार्यक्रम रखा जाना चाहिये।

6 से 14 वर्ष के बच्चों के लिए समान अनिवार्य एवं नि:शुल्क शिक्षा

वर्ण, जाति, वंश, लिंग, स्थान, धर्म आदि के भेद के बिना 6 से 14 वर्ष के बच्चों के लिए समान अनिवार्य एवं नि:शुल्क शिक्षा की व्यवस्था कर शिक्षा के क्षेत्र में फैली असमानता को दूर कर सामाजिक असमानता को दूर करना होगा, जिससे कि सभी वर्गों, वर्णों, जातियों, वंशों, लिंगों एवं स्थानों के बालक साथ-साथ पढ़कर विभेदों से दूर रह सकें।

नोट

समान-स्कूल व शिक्षा-प्रणाली

भारत में कॉमन स्कूल, पब्लिक स्कूल, कान्वेंट स्कूल, गुरुकुल आदि अनेक प्रकार के विद्यालय हैं, जो कि समाजवादी लोकतांत्रिक व्यवस्था के नाम पर विसंगति के द्योतक है। इससे वर्ग-भेद की खाई चौड़ी हो रही है और वर्ग-संघर्ष को प्रोत्साहन मिल रहा है। अतः देश में इस प्रकार के समान विद्यालयों को प्रोत्साहन मिल रहा है, जोकि धर्म, जाति, वर्ण, वंश के भेद से भरे हैं। शिक्षा आयोग ने लोक-शिक्षा की निम्नलिखित समान स्कूल-पद्धति की बात की है–

(i) जो जाति, संप्रदाय, समाज, धर्म, आर्थिक परिस्थिति और सामाजिक प्रतिष्ठा का विचार किये बिना सभी बच्चों को सुलभ हो।

(ii) जिसमें अच्छी शिक्षा का अवसर प्राप्त करना, धन या वर्ग पर निर्भर न कर प्रतिभा पर निर्भर करे

(iii) जो सभी स्कूलों में एक समुचित स्तर बनाये रखेगी तथा कम से कम एक युक्तिसंगत संख्या में अच्छे स्तर की संस्थायें सुलभ करायेगी।

(iv) जिसमें पढ़ाई की कोई फीस नहीं ली जायेगी

(v) जो एक औसत पिता की आवश्यकताओं की पूर्ति करेगी ताकि उसे इस प्रणाली से बाहर के खर्चीले स्कूलों में अपने बच्चों को भेजने की आवश्यकता साधारणतः अनुभव नहीं होगी।

स्त्री-शिक्षा को प्रोत्साहन

जब तक किसी समाज में स्त्री को महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं मिलता, तब तक वह समाज प्रगति नहीं कर सकता। भारत में स्त्री, समाज के कमजोर वर्ग में है। इन्हें समाज में उचित स्थान दिलाने की दृष्टि से शिक्षा के सभी स्तरों पर महिलाओं की शिक्षा की विशेष व्यवस्था करनी होगी। उस पर अधिकाधिक खर्चा करना होगा। यह शिक्षा उनकी प्रकृति, रुचियों, क्षमताओं तथा अभिवृत्तियों के अनुकूल भी होनी चाहिये। अभी इस दिशा में बहुत प्रयास करने की आवश्यकता है। विद्यालय, छात्रावास, अध्ययन सुविधाओं, छात्रवृत्तियों आदि का प्रावधान आवश्यक है।

पिछड़े वर्गों की शिक्षा

भारतीय समाज का एक बहुत बड़ा हिस्सा पिछड़े वर्ग के क्षेत्रों में आता है। इनके उत्थान की दृष्टि से शिक्षा-क्षेत्र में निम्नांकित व्यवस्थाएँ अभी और चलानी होंगी–

(i) पिछड़े वर्ग को शिक्षा के विभिन्न स्तरों पर प्रवेश में आरक्षण

(ii) पिछड़े वर्ग को निःशुल्क शिक्षा

(iii) पिछड़े वर्ग के छात्रों को छात्रवृत्तियाँ

(iv) पिछड़े वर्ग को छात्रावास आदि की सुविधाएँ

(v) पिछड़े वर्ग के छात्रों को भोजन, पाठन-लेखन सामग्री की मुफ्त व्यवस्था।

पाठ्यक्रम में सुधार

हमें पाठ्यक्रम के सैद्धांतिक एवं क्रियात्मक पक्ष को इस तरह से परिवर्तित/संशोधित करना होगा कि उसके परिणामस्वरूप शिक्षित व्यक्तियों के व्यवहार में निम्नांकित परिवर्तन आ जायें–

नोट

(i) वर्णवाद/जातिवाद कि प्रति अनास्था
(ii) वंश परंपरा के स्थान पर कर्म एवं गुण को महत्व देना
(iii) सामाजिक समानता में आस्था
(iv) अस्पृश्यता से घृणा
(v) स्त्रियों के प्रति समानता का भाव
(vi) समाज के पिछड़े वर्गों के प्रति सम्मान एवं सद्भाव
(vii) सामाजिक मूल्यों का व्यवहार में समावेश
(viii) दहेज आदि कुरीतियों के प्रति घृणा
(xi) अंध-विश्वास, कुरीतियों से छुटकारा,
(x) देश की सामाजिक संस्कृति के प्रति आस्था
(xi) प्राचीन मूल्यों एवं अर्वाचीन में समन्वय का प्रयास

राष्ट्रीय आवश्यकता तथा आकांक्षा के अनुरूप शैक्षिक लक्ष्य

राष्ट्रीय दृष्टि से आज राष्ट्रीय एकता हमारी सर्वोपरि आवश्यकता है–हमारी आकांक्षा एक सबल, सुदृढ़ एवं संपन्न भारत राष्ट्र है। असम में विदेशी नागरिकों की समस्या, पंजाब में खालिस्तान की माँग, कश्मीर में पुनर्वास की समस्या, आंध्र में तेलगुदेशम का आंदोलन, तमिलनाडु में हिंदी विरोध, इस आवश्यकता की पूर्ति में बाधाएँ हैं। प्रतिवाद और क्षेत्रीयता, तीव्रता से फैलकर राष्ट्र के शरीर को मृतप्राय: कर रहे हैं। प्रबल भाषायी संकीर्णता दक्षिण, उत्तर को दो भागों में विभाजित करना चाहती है। सांप्रदायिकता की आग रह-रहकर कभी पश्चिम में, गुजरात में, कभी अलीगढ़ में, कभी मुरादाबाद में, कभी पूर्व में, कभी असम में सुलग जाती है। अत: आधुनिक भारत में शिक्षा का प्रमुख लक्ष्य राष्ट्रीय एकीकरण है–इसमें प्रबल बाधायें निम्नांकित हैं–

(i) प्रांतवाद
(ii) क्षेत्रीयता
(iii) भाषावाद
(iv) सांप्रदायिकता
(v) मूल्यहीन सत्ता के लिये दौड़/सत्तावाद
(vi) त्यागपूर्ण नेतृत्व का अभाव
(vii) कर्तव्य के स्थान पर अधिकार को प्रमुखता।

उपरोक्त बाधाओं के हटने पर ही राष्ट्रीय लक्ष्य की प्राप्ति के लिये शिक्षा के निम्नांकित उद्देश्य होने चाहिए–

(अ) राष्ट्रीय चेतना को बढ़ावा देना–विभिन्न प्रदेशों, भाषाओं, उपसंस्कृतियों संप्रदायों की विविधताओं में एकता का अनुभव कराकर मातृभूमि के प्रति प्रगाढ़ प्रेम की उस भावना को अक्षुण्ण बनाये रखना, जिसका विकास हमने राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान किया था, हमारी शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य होना चाहिये, जिससे हम अपनी राष्ट्रीय संस्कृति, परंपराओं, भाषाओं पर गर्व कर सकें। कोठारी आयोग ने इस हेतु निम्नांकित दो कार्यक्रमों को शिक्षा-क्षेत्र में अपनाने ही सलाह दी है–

नोट

1. हमारी सांस्कृतिक विरासत का पुनर्मूल्यांकन तथा उसे सही ढंग से समझना–इस उद्देश्य की प्राप्ति निम्नांकित प्रकार से की जा सकती है–
   (i) भारतीय भाषा, साहित्य, दर्शन, धर्म तथा इतिहास का सुनियोजित अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था कराना।
   (ii) भारतीय वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला में संगीत-नृत्य तथा नाट्य-कला को अनिवार्य पाठ्यक्रम में शामिल कर परिचय कराना।
   (iii) भारत एवं उसके विभिन्न प्राकृतिक एवं राजनैतिक भागों की विशेषताओं को पाठ्य-चर्चा में शामिल करना।
   (vi) विभिन्न क्षेत्रों के शिक्षकों का परस्पर आदान-प्रदान करना।
   (v) अवकाशकालीन शिविरों, ग्रीष्मकालीन शिविरों को राष्ट्रीयसार पर आयोजन करना।
   (vi) अखिल भारतवर्षीय/राष्ट्रीय संस्थाओं की स्थापना करना, जिनमें राष्ट्रीय स्वरूप के दर्शन हो सकें।
2. हमारे भविष्य के प्रति दृढ़ प्रेरणापूर्ण निष्ठा का विकास करना–इस लक्ष्य की प्राप्ति निम्नांकित प्रकार से की जा सकती है–
   (i) नागरिकता संबंधी पाठ्यक्रम में छात्रों को संविधान के सिद्धांतों–उसकी प्रस्तावना, उसमें उल्लिखित लोकतांत्रिक मूल्यों का बोध कराकर।
   (ii) लोकतांत्रिक समाजवादी समाज, जिसका हम निर्माण करना चाहते हैं, उसके स्वरूप को छात्रों को समझाकर।
   (iii) राष्ट्रीय विकास की पंचवर्षीय योजनाओं आदि का विभिन्न स्तरों पर स्तरवाद पर ध्यान कराकर।
3. **सघन प्रयास**–राष्ट्रीय एकीकरण के लक्ष्य की प्राप्ति के लिये निम्नांकित दिशा में सघन एवं सुदृढ़ प्रयास करना होगा–
   (i) सभी आधुनिक भारतीय भाषाओं को शिक्षा पाठ्यक्रम में महत्त्वपूर्ण स्थान देना।
   (ii) आधुनिक भारतीय भाषाओं को शिक्षा-माध्यम एवं विचार-विनिमय के माध्यम के रूप में अपनाना।
   (iii) भाषा-अध्ययन की दृष्टि से त्रिभाषा-सूत्र को अपनाना (इसका वर्णन पहले किया जा चुका है)।
   (iv) शिक्षा का माध्यम रूप में मातृ-भाषा/क्षेत्रीय भाषा संपर्क भाषा को अपनाना।
   (v) संघीय भाषा हिंदी को संपर्क एवं राष्ट्र-भाषा-रूप में विकसित करना।
   (vi) राष्ट्रीय सेवा कार्यक्रमों को सघन रूप में सारे देश में अनिवार्य रूप से लागू करना।

राजनीतिक विकास

राष्ट्रीय एकीकरण के सभी प्रयास तब तक विफल रहेंगे जब तक हमारा राजनीतिक विकास, लोकतांत्रिक राजनीतिक व्यवस्था के अनुकूल न हों। इस चुनौती के निम्नलिखित पक्ष हैं–

(अ) नागरिकों के व्यवहार में लोकतांत्रिक मूल्यों का समावेश–ये मूल्य हैं–

नोट

(i) व्यक्ति के व्यक्तित्व का आदर

(ii) उदारतापूर्ण सहनशीलता

(iii) आत्म-नियंत्रण

(iv) पारस्परिक सद्भाव

(v) पारस्परिक सहयोग

(vi) त्याग एवं सेवा

(vii) आपसी आदान-प्रदान आदि-आदि।

(viii) अधिकारों के साथ-साथ कर्त्तव्यों के प्रति जागृति का विकास।

(ix) आर्थिक दृष्टि से राष्ट्र को आत्म-निर्भर बनाना।

सामाजिक एवं राष्ट्रीय एकीकरण से लक्ष्य की प्राप्ति तभी संभव है, जबकि हम शिक्षा द्वारा छात्रों का–

(i) सामाजिक विकास कर सकें

(ii) राजनीतिक विकास कर सकें

(iii) लोकतंत्र की जीवनशैली के रूप में अपना लें

सर्वधर्म सद्भाव की भावना का विकास

भारत एक बहुधर्मी देश है। हमने धर्म-निरपेक्ष लोकतंत्र की स्थापना की है। हमारी संवैधानिक व्यवस्थाओं ने प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आस्था के अनुसार उपासना आदि करने की स्वतंत्रता दी है। अपनी धार्मिक संस्थाओं के प्रबंध की स्वतंत्रता दी है। शिक्षा के माध्यम से ही धार्मिक स्वतंत्रता के इस अधिकार का सदुपयोग संभव है। हम किसी धर्म विशेष की शिक्षा नहीं दे सकते। सभी धर्मों के बारे में शिक्षा दे सकते हैं। इस दृष्टि से शिक्षा-संस्थाओं को निम्नांकित क्रियायें करनी होंगी–

(i) विद्यालय/कॉलेज का प्रारंभ सर्व-धर्म प्रार्थना से किया जाये।

(ii) प्रार्थना-सभा में सभी धर्मों के पवित्र ग्रंथों के अंश सुनाये जायें या उनका पाठ किया जाये।

(iii) सभी धर्मों के प्रवर्त्तकों के जन्म-दिवस, पुण्यतिथि आदि मनाई जाए।

(iv) सभी धर्मों के त्योहार, उत्सव विद्यालय/महाविद्यालय में मनाए जाएँ।

(v) विभिन्न धर्मावलंबी संतों के भाषण आदि रखे जाएँ।

(vi) स्तरवाद पाठ्यवाद बनाकर विभिन्न धर्मों के सिद्धांतों, प्रर्वतकों आदि के बारे में जानकारी दी जाये। प्राथमिक एवं माध्यमिक स्तर पर भाषा एवं सामाजिक अध्ययन विषयों के माध्यम से तथा उच्च स्तर पर पृथक् विषय के रूप में।

(vii) उच्च स्तर पर विभिन्न धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन कराया जाये।

उपर्युक्त तथा अन्य उपर्युक्त कार्यक्रमों के पाठ्यक्रम के माध्यम से हम सर्व-धर्म सद्भाव की भावना का विकास करने में सफल हो सकेंगे।

अन्तर्राष्ट्रीय सद्भाव के लिये शिक्षा

भारत 'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामया' तथा 'वसुधैवकुटुम्बकम्' की परंपरा वाला देश है। विश्व में बढ़ते तनाव आतंक, हथियारों की दौड़, छोटे राष्ट्रों की संप्रभुता को चुनौती आदि की

नोट

स्थिति में उपर्युक्त भावना का विकास अत्यावश्यक हो गया है। विज्ञान एवं टेक्नोलॉजी का उपयोग शांतिपूर्ण एवं विकासात्मक कार्यों के लिये हो। इसके लिये यह आवश्यक है कि अंतर्राष्ट्रीय सद्भाव का वातावरण तैयार किया जाये। स्वतंत्र भारत में भी हमने पंचशील, तटस्थता आदि के सिद्धांतों को देकर इस क्षेत्र में योगदान किया है। इस भावना को जन-जन में विकास की दृष्टि से शिक्षा को अपने लक्ष्यों में इसको शामिल करना होगा।

हमें विश्व नागरिक बनने में सहायता के लिये मानविकी एवं समाज-विज्ञानों एवं विज्ञानों का हमारा अध्ययन निम्न प्रकार का हो–

(i) पाठ्यक्रम में पड़ोसी राष्ट्रों तथा विश्व के अन्य राष्ट्रों की विशेषताओं की जानकारी दी जाये, जिससे कि उनको समझने एवं उनका ज्ञान प्राप्त करने में सहायता मिले।

(ii) यह ज्ञान पूर्वाग्रह पूर्णता से मुक्त तटस्थ रूप से दिया जाये।

(iii) विभिन्न देशों से आदान-प्रदान की योजनाओं को सशक्त बनाया जाये।

(vi) संयुक्त राष्ट्र संघ एवं उसकी विभिन्न संस्थाओं द्वारा निर्धारित उद्देश्यों एवं इस हेतु अपनाये गये कार्यक्रमों को हमारे शैक्षिक कार्यक्रमों में महत्त्व दिया जाये।

प्राचीनता एवं आधुनिकता का समन्वय

अंतर्राष्ट्रीय सद्भाव के लिये यह भी आवश्यक होगा कि हम पाश्चात्य देशों की विज्ञान एवं शिक्षा-विज्ञान पर आधारित आधुनिकता से सामंजस्य बैठायें। भारतीय समाज एक परंपरागत समाज है, जब तक हम अपनी प्राचीनता का पाश्चात्यों की आधुनिकता से सामंजस्य नहीं बिठायेंगे, तब तक अंतर्राष्ट्रीय सद्भाव का विकास नहीं हो पायेगा। अतः शिक्षा-प्रणाली प्राचीनता एवं आधुनिकता का समन्वय करना होगा।

प्राचीनता के रूप में भारत ने महान्, सामाजिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्य विरासत में पाये हैं। ये वे मानवीय मूल्य हैं, जो शाश्वत एवं सार्वभौम हैं, जिनके बल पर यह प्राचीनकाल में दुनिया का मसीहा, अगुआ एवं गुरु रहा है। इन मूल्यों की आज की दुनिया में बहुत आवश्यकता है। आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के सबसे शक्तिशाली साधन विज्ञान एवं शिल्प-विज्ञान हैं, जो कि मानवता को भूसंहार की ओर ले जा रहे हैं। विश्व में वैज्ञानिक अस्त्र-शस्त्रों की होड़ बढ़ रही है। इनके प्रयोग का परिणाम हम पिछले दो विश्व-युद्धों में देख चुके हैं, जिनमें कि अभूतपूर्व नरसंहार हुआ था। हम पर आधुनिकता का साधन विज्ञान हावी न हो। वह हमारा स्वामी न बन जाये, बल्कि हम उसके स्वामी बनकर उसका उपयोग मानवता के लिये करें। मूल्याधारित प्राचीनता तथा विज्ञानाधारित आधुनिकता का समन्वय हमारा लक्ष्य होना चाहिये। स्व. जवाहरलाल नेहरू ने कहा था–''क्या हम विज्ञान और शिक्षा-विज्ञान की इन तरक्की का मेल मन और रूह की तरक्की से भी नहीं बिठा सकते? हम विज्ञान को भी नहीं झुठला सकते हैं, क्योंकि आज तो वह जिंदगी की बुनियादी चीज है और पिछले जमाने में भारत जिन जरूरी सिद्धांतों पर अमल करता आ रहा है, उनको तो हम और भी कम झुठला सकते हैं। इसलिये हम अपनी पूरी ताकत और मशक्कत के साथ उद्योग-धंधों के अपने रास्ते पर चलते रहें, मगर उनके साथ ही साथ यह भी ध्यान रखें कि सहनशीलता, दया और बुद्धिमानी के बिना भौतिक दौलत धूल और राख भी हो सकती है।'' प्राचीनता एवं आधुनिकता के इस समन्वय से ही हम एक ऐसे भारतीय का निर्माण कर सकेंगे जो अनाशक्ति अपरिग्रह, सहिष्णुता, उदारता, दया, शांतिप्रियता आदि मूल्यों पर चलकर सांसारिक वैज्ञानिक उपलब्धियों का उपयोग करेगा। ऐसा होने पर ही शिक्षा अपने उद्देश्यों में सफल कही जा सकेगी।

1.40 मानव संसाधन विकास

नोट

'ज्ञान-ज्ञान के लिए है' या 'शिक्षा-शिक्षा के लिए है' का नारा सर्वमान्य सिद्धांत बना हुआ था। बालक के चारित्रिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक विकास के लिए शिक्षा देने की परंपरा थी। शिक्षा को अनुत्पादक क्रिया माना जाता था।

जब शिक्षा का प्रसार हुआ, नामांकन संख्या बढ़ने लगी, व्यय में वृद्धि होने लगी और राज्य को शिक्षा पर अधिक धन खर्च करना पड़ा तो शिक्षाशास्त्रियों का ध्यान शिक्षा के आर्थिक पक्ष की ओर गया।

अर्थशास्त्र की वर्तमान धारणा में मनुष्य की उन क्रियाओं के अध्ययन को प्रमुखता दी गई है जिसका संबंध धन से हो। इसमें मानव की धन-संबंधी सामाजिक क्रियाओं की प्रधानता है। मनुष्य समाज में रहता है और समाज में रहने के कारण उसकी अनेक आर्थिक समस्याएँ होती हैं। इन आर्थिक समस्याओं का विश्लेषण अर्थशास्त्र में होता है। डा. सीगर के अनुसार, ''अर्थशास्त्र वह समाज विज्ञान है, जिसमें मानवीय प्रयासों के उस अंश की विवेचना होती है, जिसका संबंध जीविकोपार्जन से होता है।'' प्रसिद्ध अर्थशास्त्री मार्शल कहते हैं कि ''अर्थशास्त्र मनुष्य के साधारण जीवन में व्यापार संबंधी क्रियाओं का अध्ययन करता है। इससे इस बात का पता लगता है कि वह किस प्रकार धनोपार्जन करता है तथा उसका उपयोग करता है। अत: यह एक ओर धन का अध्ययन करता है तो दूसरी ओर इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष व्यक्ति का अध्ययन करता है।'' प्रोफेसर जे. के. मेहता के अनुसार ''अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जो उन मानव व्यवहारों का अध्ययन करता है, जो आवश्यकता विहीनता की दशा की प्राप्ति के लिए किये जाते हैं।''

अस्तु, अब अर्थशास्त्र का क्षेत्र विस्तृत हो गया है। अब इसे केवल धन का शास्त्र न मानकर धन, मनुष्य तथा मानव कल्याण से संबद्ध शास्त्र माना जाता है। इस दृष्टि से उसका संबंध शिक्षाशास्त्र से भी हो जाता है। शिक्षाशास्त्र में बालक के कल्याण का ध्यान रखा जाता है। इसमें व्यक्ति व समाज के नैतिक आदर्शों की विवेचना होती है। इसमें समाज-कल्याण व व्यक्ति-कल्याण की कल्पना को मूर्तरूप दिया जाता है। शिक्षाशास्त्र का यह कार्य विद्यालयों की स्थापना, शिक्षकों की नियुक्ति, भवन-निर्माण, क्रीड़ांगण व्यवस्था, परीक्षा-व्यवस्था एवं अन्य शैक्षिक कार्यकलाप द्वारा संपन्न होता है। इस कार्य में धन की आवश्यकता होती है। धन की व्यवस्था व प्रबंधन में अर्थशास्त्र से सहायता मिलती है। अत: आजकल शिक्षा के अर्थशास्त्र का विकास हो रहा है। आर्थिक परिस्थितियों का शिक्षा पर प्रभाव पड़ता है और शिक्षा की योजना बनाने में प्रभाव पड़ता है। अमेरिका में शिक्षा के अर्थशास्त्र का विशेष रूप में विकास हुआ है। प्रसिद्ध अमरीकी अर्थशास्त्री थ्योडर शूल्ज ने इस क्षेत्र में विशेष कार्य किया। रूस में भी इस दिशा में सराहनीय कार्य किया गया और श्री एस. जी. स्टूमिलिन का योगदान अति महत्त्वपूर्ण है। इंग्लैण्ड में जान वेजी और फ्रांस में माइकेल डेवानेश आदि विद्वानों ने इस शाखा का विकास किया।

एडम स्मिथ ने स्थिर पूँजी में समाज के सदस्यों की लाभदायक योग्यताओं को सम्मिलित करके और टामस आर. माल्थस ने सामाजिक सामंजस्य और आर्थिक शांति के लिए श्रमिकों की शिक्षा और साक्षरता पर बल देकर शैक्षिक अर्थशास्त्र के विकास के लिए उर्वर भूमि तैयार कर दी थी। अल्फ्रेड मार्शल ने कहा था ''सबसे अधिक मूल्यवान् पूँजी वह है जिसका विनियोग मनुष्य पर किया जाता है।'' कार्ल मार्क्स ने श्रमिक के तकनीकी कौशल को बढ़ाने पर बल दिया था। मार्शल ने शिक्षा के व्यावसायिक पक्ष पर बल दिया था और शिक्षा को आर्थिक विकास से जोड़ने का समर्थन किया था।

1.41 मानव शक्ति नियोजन

नोट

अर्थशास्त्र की दृष्टि से मनुष्य एक पूँजी है। देश के आर्थिक विकास के लिए जैसे धन-दौलत की आवश्यकता होती है, वैसे ही मानव-शक्ति की जरूरत होती है। कारखानों में श्रमिक कार्य करते हैं। यदि श्रमिक शिक्षित है तो उसके कार्य का परिणाम अच्छा होगा। कारखाने में उत्पादन भी बढ़ेगा। शिक्षित किसान खेत में अधिक अन्न उपजायेगा क्योंकि उसे बीज, खाद, उपकरण आदि का ज्ञान होता है। इस दृष्टि से मानव को शिक्षित करना पूँजी निवेश है। मानव-शक्ति का नियोजन करने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य की कार्य क्षमता को बढ़ाना, उसे नई तकनीकों की जानकारी देना, उसे देश-विदेश में कृषि एवं उद्योगों में होने वाले परिवर्तनों से परिचित कराना आवश्यक है।

मनुष्य में असीम शक्ति है। मानव स्वयं एक शक्ति है। यहाँ पर शक्ति का तात्पर्य कोई आध्यात्मिक शक्ति नहीं है। आर्थिक दृष्टि से, पूँजी के रूप में, आर्थिक समृद्धि के सबल साधन के रूप में मानव-शक्ति है। वह एक साधन है, कल-कारखानों का एक सशक्त पुर्जा है।

आर्थिक विकास में मानवीय साधन बड़ा महत्त्वपूर्ण है। उसी के द्वारा आर्थिक विकास को गति मिलती है और देश उन्नति करता है। अतएव जितना योग्य यह साधन होगा उतना ही अधिक आर्थिक विकास संभव बनेगा। उसकी क्षमता, योग्यता और निपुणता को बढ़ाना आवश्यक है। मानव की इन शक्तियों को बढ़ाने का कार्य शिक्षा का है। इसीलिए शिक्षा आर्थिक विकास से संबद्ध हो जाती है। आर्थिक विकास श्रमिकों की कार्य कुशलता पर निर्भर करता है। श्रमिकों की कार्य कुशलता उनकी शिक्षा-दीक्षा पर निर्भर करती है। इस प्रकार शिक्षा आर्थिक विकास का अभिन्न अंग बन जाती है।

शिक्षा का उद्देश्य केवल आर्थिक विकास नहीं है। जहाँ एक ओर शिक्षा आर्थिक उन्नति के लिए आवश्यक है, वहीं दूसरी ओर वह जीवन का आनंद प्राप्त करने के लिए भी अपरिहार्य है। अच्छा आदमी बनने के लिए समन्वित व्यक्तित्व प्राप्त करने के लिए, चरित्र-निर्माण के लिए तथा संपन्न जीवनयापन के लिये शिक्षा अनिवार्य है। आत्म-परिचय तथा आत्म-संतुष्टि के लिये शिक्षा आवश्यक होती है, जिससे कि मानव व्यक्तित्व को संपूर्णता प्राप्त हो सके, शिक्षा की इस दुहरी प्रवृत्ति को समझ लेने पर ही आर्थिक उन्नति में उसका योगदान का उचित मूल्यांकन किया जा सकता है।

आर्थिक विकास का प्रयोजन मनुष्य के जीवन स्तर को ऊँचा करना है। भारत जैसे देश में दरिद्रता का उन्मूलन और जन जीवन का उन्नयन ही उसकी कसौटी है। इसके लिये प्रकृति पर आश्रित न रहकर व्यक्तियों में आधुनिक तकनीकी शक्ति और कौशलों के आधार पर आत्मनिर्भरता की भावना जाग्रत करनी है। उसमें भाग्यवादी होने, दैव-दैव पुकारने, नि:सहाय अनुभव करने की प्रवृत्तियाँ समाप्त होंगी, जिससे उसकी शक्ति का ह्रास, पहलकदमी का नाश और उत्तरदायित्व भावना का विनाश न हो। आर्थिक विकास के लिये उसमें आत्मविश्वास, प्रकृति-व्यापार समझने की शक्ति और उसका सामना करने की योग्यता उत्पन्न करके समाज में एक नये पर्यावरण का निर्माण करने के लिए एक निम्नतम आधारभूत शिक्षा आवश्यक होगी, जिसका प्रयोग आधुनिक विज्ञान और तकनीक को समझने और अपनी तार्किक शक्ति बढ़ाने में हो सके।

1.42 मानव संसाधन विकास के साधन

प्रौढ़ शिक्षा

वयस्क शिक्षा की आर्थिक विकास के लिए सर्वप्रथम आवश्यकता है। हमारे देश में 63 प्रतिशत व्यक्ति अशिक्षित हैं। भारत का विकास इन्हीं निरक्षर वयस्कों पर निर्भर करता है। अतएव साक्षरता एवं

नोट

समाज शिक्षा के सघन प्रयत्नों द्वारा उन्हें इस योग्य बनाना होगा कि वे कृषि तथा उद्योग-धंधों संबंधी साहित्य पढ़-समझ सकें और उसके आधार पर कृषि तथा व्यवसाय में प्रगति कर सकें। शिक्षा से तकनीकी ज्ञान, विवेक एवं साहस में वृद्धि होती है, जिससे आर्थिक क्रियाओं का विस्तार होता है, साधनों का विवेकीकृत उपयोग संभव बनता है तथा उत्पादन बढ़ता है जिससे आर्थिक प्रगति होती है।

प्राथमिक शिक्षा

प्राथमिक शिक्षा से शिक्षा का आधार तैयार होता है। इससे साक्षरता आती है, प्रारंभिक कुशलता मिलती है और उचित मनोवृत्ति निर्मित होती है। पढ़ने-लिखने-गिनने की योग्यता प्राप्त कर वे अपने कार्य से संबंधित साहित्य से लाभ उठा लेते हैं। अपने आस-पास के पर्यावरण की जानकारी प्राप्त कर लेने से वे अंधविश्वास और अविवेक के चक्कर में नहीं फँसते, जिससे उनके विकासात्मक प्रयासों में अवरोध नहीं आ पाता। नई तकनीकी पद्धतियों, कार्यानुभव और यंत्रों के प्रयोग के प्रति उनमें वैज्ञानिक दृष्टिकोण उत्पन्न होता है, जो उन्हें आधुनिक युग की उत्पादन क्रियाओं से समायोजन करने में सहायक होता है। इस शिक्षा काल में उनकी मनोवृत्तियाँ भी परिष्कृत होती हैं। उनमें सहानुभूति, भ्रातृत्व, सहिष्णुता, मानवता, सहकारिता आदि की भावनायें उत्पन्न करती हैं, जो उन्हें राष्ट्र, समाज तथा कार्यशाला का उपयोगी सदस्य बनाने में सहायक होती हैं।

माध्यमिक शिक्षा

माध्यमिक शिक्षा अधिकांश छात्रों के लिए अंतिम शिक्षा स्तर होता है, जिसके बाद वे किसी आर्थिक क्रिया में लग जाते हैं। यह क्रिया या तो उनका स्वयं कोई रोजगार धंधा हो या मध्यम वर्ग के कर्मचारी की हैसियत से किसी कार्यालय या कारखाने में कार्य करें। वे खेती, दस्तकारी या शिल्पकर्म करते हैं अथवा लिपिक, यांत्रिक या श्रमिक के रूप में नौकरी करते हैं। चाहे वे सीधे उत्पादन के कारखानों में काम करें अथवा प्रशासन संगठन आदि के कार्यालयों में रहें, वे आर्थिक विकास में सहायक होते हैं। माध्यमिक शिक्षा सबसे अधिक संख्या में निपुण अथवा अर्द्ध निपुण श्रमिकों का निर्माण करती है। माध्यमिक शिक्षा उत्तीर्ण कर छात्र उच्च शिक्षा में प्रवेश पाते हैं। सामान्य या विशिष्ट उच्च शिक्षा प्राप्त कर वे अधिक निपुण मानव शक्ति के रूप में उत्पादन, संगठन तथा प्रशासन कार्यों के लिये उपलब्ध हो जाते हैं। इस प्रकार माध्यमिक शिक्षा की आर्थिक विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

भारतवर्ष बहुउद्देशीय विद्यालयों के विविधीकृत पाठ्यक्रम निपुण श्रमिक निर्माण करने में असफल रहे हैं। कनिष्ठ तकनीकी विद्यालयों की अपेक्षित निवुणता में प्रशिक्षण देने में कृतकार्य नहीं हो पाये हैं। केवल औद्योगिक प्रशिक्षण संस्थायें ही इस दिशा में कुछ कर सकी हैं, किंतु वे श्रम विभाग कि द्वारा संचालित हैं। भारत का सबसे बड़ा उद्योग कृषि है। उसके निमित्त कुशल श्रमिक तैयार करने वाले विद्यालयों का सर्वथा अभाव है। माध्यमिक विद्यालयों से निकलकर उच्च शिक्षा में प्रविष्ट होने वाले छात्रों का ज्ञान एवं योग्यता इतनी निम्न स्तर की होती है कि वे उच्च शिक्षा का पूरा लाभ उठाने में असमर्थ रहते हैं। हमारी माध्यमिक शालायें न रोजगार का प्रशिक्षण और न उच्चाध्ययन की क्षमता ही दे पाती हैं।

उच्च शिक्षा

शिक्षा उच्च वर्ग के कर्मचारियों का निर्माण करती है। यह या तो बड़े-बड़े कारखानों को सँभालते या कार्यालयों को चलाते हैं। इनके विवेकपूर्ण निर्णय एवं संचालन पर ही उत्पादन की प्रगति निर्भर

करती है। उच्च शिक्षा दो प्रकार की होती है–एक सामान्य और दूसरी विशिष्ट। सामान्य शिक्षा से प्रशासन एवं संगठन के लिए लोग विशिष्ट शिक्षा से उच्च यांत्रिक एवं कर्मचारी प्राप्त होते हैं। आर्थिक विकास के लिए प्राय: दूसरे प्रकार की शिक्षा पर बल दिया जाता है, किंतु विशिष्टीकरण से व्यक्ति का दृष्टिकोण संकुचित हो जाता है। विज्ञान और तकनीकी की द्रुत प्रगति के कारण प्रविधियों में शीघ्रता से परिवर्तन होता है। अतएव ऐसे व्यक्तियों की आवश्यकता बढ़ती जाती है, जो परिवर्तित परिस्थितियों से शीघ्रता के साथ समायोजन कर सकें। इसके लिए अच्छी सामान्य शिक्षा होना आवश्यक समझा जाता है।

नोट

1.43 मानव शक्ति नियोजन में शिक्षा की भूमिका

भारतीय संविधान–भारतीय संविधान के प्रारंभ में जो प्रस्तावना दी गई है, उसमें राष्ट्र के नये मूल्यों का विचारपूर्वक स्पष्टीकरण किया गया है। उसके पीछे राष्ट्र की नई विचारधारा और नये निर्णय का समावेश है। यदि हम संविधान को राष्ट्र के जीवन में अंकित करना चाहते हैं तो हमारे शैक्षिक नियोजकों को संविधानानुसार शिक्षा-व्यवस्था करनी होगी। संविधान के आदर्शों और मूल्यों का शिक्षा द्वारा ही संचार करना होगा।

संविधान का संपूर्ण राष्ट्र-जीवन से घनिष्ठ संबंध है। संविधान का जनतंत्र में बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। उसमे ही राष्ट्र को मार्ग-दर्शन प्राप्त होता है। उसके सिद्धांतानुसार ही कार्य-पूर्ति होनी चाहिए अन्यथा लिखित संविधान का होना न होना एक समान है। संविधान में राष्ट्र-जीवन के लगभग सभी पहलुओं पर उल्लेख या आदेश होता है। उन आदेशों को व्यवहृत करना सरकार और समाज का कर्त्तव्य है।

शिक्षा संबंधी संकेत–भारतीय संविधान में शिक्षा-संबंधी संकेत निम्नलिखित हैं–

1. **प्रथम संकेत** संविधान की 'प्रस्तावना' से मिलता है, जिसके अनुसार सभी नागरिकों को हर प्रकार का न्याय, विचार तथा वाणी-स्वातंत्र्य, समानता और भ्रातृभाव प्राप्त होगा। नियोजन में शिक्षा की इस भूमिका को ध्यान में रखना है।
2. **दूसरा संकेत** 'मौलिक अधिकार' वाले अध्याय से मिलता है, जिसमें यह कहा गया है कि सभी नागरिकों को समान अधिकार प्राप्त हैं और विशेषत: सांस्कृतिक तथा शैक्षिक विकास का नागरिकों को पूरा अधिकार है। शिक्षा नियोजन में इस पर ध्यान दिया जाना चाहिए।
3. **तीसरा संकेत** 'राज्यों के लिए नीति निर्देशक तत्वों,' से मिलता है, जिसमें दिया हुआ है कि 14 वर्ष की आयु तक सभी बच्चों को नि:शुल्क और अनिवार्य शिक्षा दी जायेगी।

1.44 शिक्षा में आवश्यक परिवर्तन

यदि भारत में जनतंत्र का सच्चा स्वरूप व्यापक करना है तो शिक्षा-क्षेत्र में कुछ आधारभूत परिवर्तन करने होंगे।

1. वर्तमान भारत में सभी नागरिकों को शिक्षा का समान अवसर और अधिकार प्राप्त हैं। इसलिये शिक्षा-क्षेत्र में जातीय, धार्मिक तथा वर्गीय अंतर नहीं होना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति अपनी आवश्यकता और रुचि के अनुसार अपना विकास कर सके, इस प्रकार की शिक्षा उसे प्राप्त हो। पुरातन भारत की प्रणाली के अंतर्गत केवल उच्च वर्गों के लिए ही शिक्षा

नोट

का अधिकार सुरक्षित था, परंतु अब सामान्य जनसमूह और भिन्न-भिन्न वर्गों के बच्चों के लिए शिक्षा का अधिकार सुरक्षित है। इसलिए राज्यों को पर्याप्त संख्या में पाठशालाएँ स्थापित करनी होंगी और उनमें विविध कार्यक्रमों का आयोजन करना होगा ताकि भिन्न-भिन्न सामाजिक स्तरों से आये हुए बच्चे विद्या का पूरा लाभ ले सकें और उत्तरदायी नागरिक बन सकें।

2. भारतीय समाज में न केवल सांस्कृतिक भिन्नताएँ हैं वरन् सामाजिक और आर्थिक असमानताएँ भी हैं। वर्तमान शिक्षा-प्रणाली के अंतर्गत ये असमानताएँ और अधिक हुई हैं। धनवान वर्ग अधिक धनी और गरीब वर्ग अधिक दरिद्र बन गया है। यदि हम देश में सार्थक प्रजातंत्र का निर्माण करना चाहते हैं तो हमें शिक्षा-प्रणाली का ऐसा आयोजन करना होगा, जिससे शिक्षित वर्गों में सामाजिक और आर्थिक अंतर घटे और समानता बढ़े। उनके वेतन, वातावरण और अन्य सुविधाओं में अधिक भिन्नता न रहे। किसी एक व्यवसाय को उच्च स्थान न दिया जाये अर्थात् शिक्षक, इंजीनियर, डॉक्टर आदि को समकक्ष शिक्षा के अनुसार लगभग समान वेतन और एक से लाभ मिलने चाहिए।
3. वर्तमान यांत्रिक और व्यावहारिक शिक्षा-प्रणाली में विचार और वाणी की मुक्ति का पूरा अभाव है। पाठशालाओं में जो अभ्यास-क्रम शिक्षा-अधिकारी से नियोजित होकर आता है, उसे परीक्षा हेतु पढ़ाया जाता है और उसमें बच्चों को वाद-विवाद तथा स्वचिंतन या स्वाध्याय का कोई अवसर प्राप्त नहीं होता। मुक्त चर्चा विचार तथा आत्मिक विकास के लिये इन परीक्षाबद्ध पाठशालाओं में समय ही नहीं। केवल पुस्तकीय ज्ञान-स्मरण में ही विद्यार्थियों की शक्ति लगी रहती है। आज के स्वतंत्र भारत में यदि हमें स्वाधीनताप्रिय, विचारशील और स्वावलंबी नागरिक चाहिये तो पाठशालाओं के पाठ्यक्रम और शिक्षण पद्धति में आमूल परिवर्तन करना पड़ेगा। यदि वर्तमान शिक्षा नये राष्ट्र-जीवन का प्रतिबिंब है तो पाठशालाओं के नये मूल्यों के अनुसार बच्चों का चरित्र-गठन होना चाहिये। जब तक बच्चों को जनतंत्रात्मक जीवन का पाठशालाओं में ज्ञान नहीं कराया जायेगा। तब तक उनका प्रजातंत्र में अटूट विश्वास नहीं बँध सकेगा और वे भावी राष्ट्र का निर्माण उस राज्य-प्रणाली पर सफलता से नहीं कर पायेंगे। वे वैज्ञानिक वृत्ति वाले नहीं बन सकेंगे। वे मुक्त-मानव का विकास करने में समर्थ न होंगे। भारत के रूढ़ियुक्त समाज को बदलने के लिए यह अनिवार्य है कि देश के भावी नागरिक मन, वाणी और विचार से स्वाधीन प्राणी हों।
4. शिक्षा द्वारा परस्पर सहानुभूति और प्रेम का आयोजन होना जरूरी है। नागरिकों में एक भाषा, एक भाव और एक राष्ट्र की अनुभूति होनी चाहिए। संविधान के अनुसार एक संपर्क भाषा हिंदी का सारे देश में संचार हो और उसमें ही सभी राष्ट्रीय प्रवृत्तियाँ हों ताकि देश के भिन्न-भिन्न भाषावादी लोगों में सरलता से व्यवहार हो सके और प्रचलित जातीय अंतर कम हो सके। यह सत्य है कि एक भाषा के अभाव में पारस्परिक भेदभाव और अविश्वास विशाल रूप धारण करते हैं और एक माध्यम न होने से गलतफहमी और झगड़े बढ़ते हैं। इसलिये पाठशालाओं का यह कर्तव्य है कि वे एक भाषा का निरंतर प्रचार करती रहें और नई पीढ़ी को नया मार्गदर्शन देती रहें। 1953 में मुदालियर कमीशन ने कई सुझाव रखे थे और 12 वर्ष के बाद कोठारी कमीशन ने नये सुझाव प्रस्तुत किये, परंतु

नोट

उनका बहुत कम प्रभाव पड़ा। यदि पाठशाला-प्रबंधक, शिक्षा अधिकारी और समाज शिक्षा के नये मूल्यों से सचेत रहें, संविधान के सूत्रों से भली-भाँति परिचित बनें और प्रगति-मार्ग अपनायें तो शिक्षा-क्षेत्र में आंदोलन आ सकता है। शैक्षिक नियोजन समाज का आधार है, जिससे सभी सामाजिक प्रवृत्तियों को प्रेरणा मिलती है। शिक्षा-क्षेत्र में तो नियोजन के सिद्धांतों का विशेष स्थान है।

5. शैक्षिक नियोजन में शिक्षा की भूमिका स्वतंत्र भारत के परिप्रेक्ष्य में और अधिक महत्त्वपूर्ण हो गई है। पहले चंदा, धर्मादा, मंदिरों व मठों की आय से शिक्षा का काम सुचारु रूप से चल रहा था, किंतु स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद शिक्षा का प्रचार-प्रसार अधिक आवश्यक होने के बावजूद शैक्षिक आय के अन्य स्रोतों–दान, चंदा, धर्मादा आदि से आय बहुत कम हो गई है। नि:शुल्क शिक्षा के अभियान के कारण फीस के स्रोत से प्राप्तियाँ बहुत घट गई हैं। स्थानीय निकायों की स्थिति भी दयनीय हो गई है, जिससे उसकी सहायता अब शिक्षा को उस अनुपात में नहीं मिल पाती, जिसमें स्वतंत्रता पूर्व के काल में मिलती थी। इन सबका यह प्रभाव हुआ कि शिक्षा व्यय का अधिकाधिक भार शासन पर पड़ने लगा है। आज वह शिक्षा के व्यय का तीन-चौथाई से अधिक वहन कर रहा है। शैक्षिक अर्थशास्त्र के विकास के साथ-साथ शैक्षिक उद्देश्यों में परिवर्तन होने लगा। इस परिवर्तन का एक कारण सार्वभौमिक शिक्षा है। जब यह माना जाने लगा कि शिक्षित युवक-युवती अशिक्षितों से अच्छे नागरिक व श्रमिक होते हैं तो राज्यों ने अनिवार्य नि:शुल्क शिक्षा की नीति अपनायी। इससे व्यय बढ़ने लगा और प्रतिफल की बात लोग सोचने लगे। उधर विज्ञान और उद्योगों का विकास हो रहा था और इनमें कार्य करने के लिए कुशल श्रमिकों की माँग बढ़ती जा रही है। इन सबका एक अच्छा प्रभाव यह है कि शिक्षा के अर्थशास्त्र का तीव्र गति से विकास हो रहा है।

1.45 सामाजिक संस्तरीकरण

भारतीय समाज के अंतर्गत भारतवर्ष के समाजवादी स्वरूप की बात कही गई है और इस बात का पूर्ण प्रयास किया गया है कि समाज में प्रत्येक व्यक्ति को सामाजिक, राजनैतिक, शैक्षिक व आर्थिक आधार पर समान समझा जाये। परंतु समानता स्थापित करते हुए भी हम विभिन्नता की उपेक्षा नहीं कर सकते। यदि हम प्रकृति की ओर भी दृष्टि डालें तो शारीरिक दृष्टि से कोई गोरा, कोई काला, कोई पतला, कोई मोटा, कोई लंबा व कोई नाटा है अर्थात् व्यक्ति किसी-न-किसी रूप में एक-दूसरे से भिन्नता या असमानता लिये हुए है। इसी कारण मनोवैज्ञानिक

यह मानते हैं कि व्यक्तिगत भिन्नता एक वांछनीय गुण है जिसे हमें स्वीकार करना चाहिए। यही स्थिति समाज में भी पायी जाती है। सामाजिक असमानता भी हमें प्रत्येक स्तर पर दृष्टिगोचर होती है। समाज की व्यवस्था को सुचारू रूप से चलाने हेतु प्रत्येक व्यक्ति को निश्चित स्थिति व कार्य प्रदान करना आवश्यक है और जैसे ही हम स्थिति की कल्पना करते हैं, उसमें व्यक्ति या समूह का उत्क्रम या प्रतिष्ठा स्वत: ही निहित हो जाता है और इस उत्क्रम को ही सामाजिक संस्तरीकरण (Social Stratification) के नाम से जानते हैं।

सामाजिक संस्तरीकरण समाज को विभिन्न वर्गों में विभाजित कर देता है। इसी कारण हम उसी समाज को संस्तरीकृत समाज (Stratified Society) कहते हैं जो विभिन्न समूहों में विभाजित होता

है। सामाजिक संस्तरीकरण हमारे समाज में बहुत पहले से चला आ रहा है। समाज की व्यवस्था हेतु जब 4 वर्गों में उसे विभाजित किया गया, वह भी इसी स्तरीकरण का उदाहरण है। इस संस्तरीकरण को हम रेखाचित्र द्वारा इस प्रकार से स्पष्ट कर सकते हैं–

नोट

1. ब्राह्मण
2. क्षत्रिय
3. वैश्य
4. शूद्र

1.46 सामाजिक संस्तरीकरण की परिभाषाएँ

सामाजिक स्तरीकरण के संबध में विभिन्न विद्वानों द्वारा प्रगट किये गये विचार इस प्रकार हैं–

1. **एच. पी. फेयरचाइल्ड** (H. P. Fairchild)–''सामाजिक संस्तरीकरण से अभिप्राय है समाज के तत्वों को विभिन्न क्षैतिजीय स्तरों पर समूहों में व्यवस्थित करना तथा प्रत्येक को एक स्थिति प्रदान करते हुए उनकी उच्चता व निम्नता निर्धारित करना।''

   (Social stratification is the arrangement of societal elements into groups on different horizontal levels (and) the establishment of status on terms of variying superiority and inferiority.)

2. **विलहेलम अबर्ट** (Vilhelum Aubert)–लंबवतीय सिद्धांत के अनुसार, ''सामाजिक संस्तरीकरण समाज को व्यवस्थित करने की व्याख्या करता है। यह कार्य समाज के व्यक्तियों को या कार्यों को एक-दूसरे से ऊपर या नीचे निर्धारित करता है।''

   (Social stratification refers an ordering of society according to vertical principles the task consists in locating individuals or roles above and below each other.)

3. **पी. गिलबर्ट** (P. Gilbert)–''सामाजिक संस्तरीकरण का अर्थ समाज को कुछ ऐसे स्थायी समूहों अथवा वर्गों में विभाजन से है जो परस्पर श्रेष्ठता एवं अधीनता के संबंधों द्वारा एक-दूसरे से बँधे हों।''

   (Social stratification is the division of society in permanent groups or categories linked with each other by the relationship of superiority and subordination.)

1.47 सामाजिक संस्तरीकरण के प्रारूप

समाजशास्त्री सामाजिक संस्तरीकरण के निम्नलिखित प्रारूप बताते हैं–

1. गुलामी (Slavery), 2. भू-संपदा (Estate), 3. जाति (Caste), 4. वर्ग (Class)।

1.48 सामाजिक संस्तरीकरण के प्रकार

1. बंद संस्तरीकरण (Closed stratification)–यह वह संस्तरीकरण है जिसमें कोई परिवर्तन नहीं लाया जा सकता। व्यक्ति को एक बार जो स्थिति प्रदान कर दी जाती है, जीवन पर्यंत वह उसमें संलग्न रहता है।

2. मुक्त संस्तरीकरण (Open stratification)–इसमें व्यक्ति को अपनी स्थिति के अंदर परिवर्तन करने की स्वतंत्रता होती है। वह उस स्थिति से ऊपर व नीचे दोनों ही ओर उन्मुख हो सकता है।

1.49 सामाजिक संस्तरीकरण के आधार

नोट

आयु Age	लिंग Sex	धर्म Religion
राजनीति Politics	संस्तरीकरण के आधार	जाति Caste
व्यवसाय Occupation	निवास स्थान Locality	सामाजिक वर्ग Social Class

1.50 शिक्षा एवं सामाजिक संस्तरीकरण

शिक्षा का संस्तरीकरण से गहरा संबंध है। समाज में प्राय: निम्न वर्ग अथवा मध्यम वर्ग का बालक शिक्षा इस कारण ग्रहण करता है जिससे शिक्षित होकर वह अपना वर्ग ऊँचा कर सके जबकि उच्च वर्ग शिक्षा इस कारण ग्रहण करता है कि वह अपने पद व सम्मान को स्थायित्व प्रदान कर सके। कोई भी देश प्रौद्योगिकी व तकनीकी शिक्षा में विकास इसलिए करना चाहता है जिससे वह अपने स्तर को ऊँचा उठा सके। बढ़ती हुई प्रौद्योगिकी शिक्षा द्वारा शिक्षा का विकास हो रहा है और शिक्षा के नये-नये आयाम खुल रहे हैं। यही नये आयाम नये संस्तरीकरण को जन्म देते हैं। शिक्षा के द्वारा ही बालक के अंदर वर्ग चेतना (Class Consciousness) उत्पन्न की जाती है जिसका परिणाम यह होता है कि बालक अपनी सामर्थ्य का विकास करते हुए उच्च वर्ग प्राप्ति हेतु प्रयत्नशील रहता है। इसके साथ ही हम कह सकते हैं कि सामाजिक संस्तरीकरण का प्रभाव हमारी शिक्षा के ऊपर भी है। समाज में विभिन्न प्रकार के विद्यालय ही विभिन्न वर्गों के लिए बने हैं। इसमें उच्च वर्ग की शिक्षा संस्थाएँ निम्न वर्ग की शिक्षा संस्थाओं की तुलना में अच्छी शिक्षा प्रदान करना चाहती हैं जिसके परिणामस्वरूप शिक्षा में भी संस्तरीकरण आ रहा है। संस्तरीकरण को मनोवैज्ञानिकों ने वांछनीय गुण माना है चूँकि बौद्धिक संस्तरीकरण हमें विभिन्न प्रकार के पाठ्यक्रमों की संरचना की ओर प्रेरित करता है। इस कारण हम यह मानते हैं कि सामाजिक संस्तरीकरण और शिक्षा में घनिष्ठ संबंध है। सामाजिक संस्तरीकरण की आवश्यकता को हम निम्न पंक्तियों में स्पष्ट करेंगे–

1. समाज में विभिन्न कार्य करने हेतु अलग-अलग स्तरों के व्यक्तियों को उपलब्ध कराती है।
2. संस्तरीकरण से कार्य का विकेंद्रीकरण होता है जिससे प्रत्येक व्यक्ति अपने उत्तरदायित्व को समझता है।
3. संस्तरीकरण के अनुकूल व्यक्तियों को विभिन्न क्षेत्रों में प्रशिक्षित करके उनकी उत्पादन कुशलता को बढ़ाना संभव होता है।
4. इसके आधार पर श्रम-विभाजन करने में सुविधा होती है।
5. इसके द्वारा समाज में व्यक्तियों को उनकी क्षमता अनुसार विभिन्न पदों पर आसीन करके समाज व्यवस्था बनाए रखने में मदद मिलती है।
6. यह सुरक्षा रखने एवं पारस्परिक संघर्षों को दूर करने में भी सहयोग देती है।

नोट

1.51 सामाजिक गतिशीलता

प्राचीन भारत के समाज पर यदि हम दृष्टिपात करें तो यह पायेंगे कि समाज प्रमुख रूप से जातियों में विभक्त किया गया था–ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र। यह जातियाँ कार्य के आधार पर बनाई गई थीं परंतु धीरे-धीरे इन्होंने जन्म का आधार ग्रहण कर लिया और व्यक्तियों को यह स्वतंत्रता नहीं दी गई थी कि वह जाति के घेरे से बाहर निकल सकें। परंतु आज के भारतीय समाज में बहुत परिवर्तन आ गया है और इसके प्रमुख कारण हैं–संस्कृतीकरण, पश्चिमीकरण, नगरीकरण व औद्योगिकीकरण ।। संवैधानिक स्तर पर हम सामाजिक समानता, स्वतंत्रता व न्याय की कल्पना कर रहे हैं तो दूसरी ओर हम ऐसी शिक्षा की संरचना की कल्पना भी कर रहे हैं जिसमें सामाजिक-आर्थिक स्तर पर के आधार पर कोई भेदभाव नहीं किया जाये। हर स्तर पर हमारा प्रयास यह रहा है कि हम सामाजिक भेदभाव को मिटाकर विभिन्न समूहों को एक दूसरे के करीब लाने की चेष्टा कर रहे हैं और यह समीपता तब तक संभव नहीं है जब तक कि हम समूह को गतिशीलता के अवसर प्रदान न करें। सामाजिक गतिशीलता क्या है, इसकी चर्चा विभिन्न विद्वानों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से की है जिसकी विवेचना हम निम्न रूप में कर रहे हैं–

1.52 सामाजिक गतिशीलता की परिभाषाएँ

1. **पी. सोरोकिन** (P. Sorokin)–''सामाजिक गतिशीलता का अर्थ–सामाजिक समूहों तथा स्तरों में किसी व्यक्ति का एक सामाजिक स्थिति से दूसरी सामाजिक स्थिति में पहुँच जाना है।''

   (By social mobility we meant–any transition of an individual from one position to another in a constellation of social group and strata.)

2. **डब्ल्यू. सी. हेडरिक** (W. C. Headrick)–''सामाजिक गतिशीलता का आशय है व्यक्तियों का एक सामाजिक समूह से दूसरे सामाजिक समूह में चला जाना।''

   (Social mobility is the movement of persons from one social group to another social group.)

   अत: हम यह कह सकते हैं कि सामाजिक गतिशीलता का आशय है व्यक्ति का सामाजिक महत्त्व की दृष्टि से अपने स्थान में परिवर्तन करना और इस परिवर्तन में स्थायित्व का होना आवश्यक है।

1.53 सामाजिक गतिशीलता के प्रकार

हेडरिक ने सामाजिक गतिशीलता के दो रूप बताये हैं–

1. क्षैतिजीय गतिशीलता (Horizontal Mobility),
2. लंबीय गतिशीलता (Vertical Mobility)।

1. क्षैतिजीय गतिशीलता या समतल गतिशीलता का अभिप्राय है व्यक्ति अथवा समूह का एक ही स्तर पर अपने सामाजिक समूह के पद से दूसरे सामाजिक समूह में उसी स्तर व पद पर जाना (Movement of the individual at the same level, no change in social status, he change his affiliation.)। उदाहरणार्थ–यदि हम आगरा विश्वविद्यालय में

प्रवक्ता हैं और हम कानपुर विश्वविद्यालय चले जायें तो उसे क्षैतिजीय गतिशीलता कहेंगे। इसे हम रेखाचित्र द्वारा निम्न प्रकार से स्पष्ट कर सकते हैं।

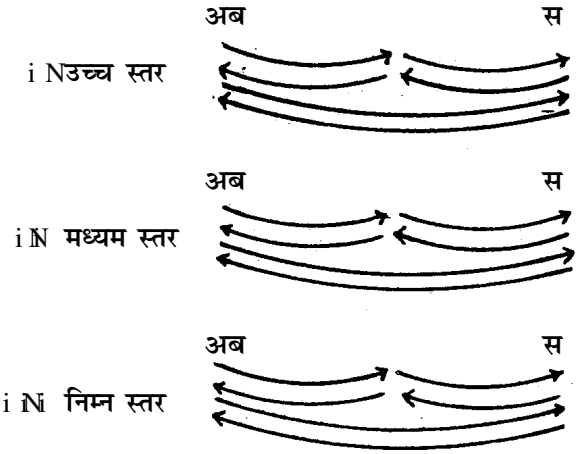

2. लंबीय या उदग्र गतिशीलता से अभिप्राय है व्यक्ति का एक सामाजिक पद से दूसरे सामाजिक पद पर जाना (When individual moved upward in his social position, is known as vertical mobility)। जैसे–यदि हम आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हैं और हमारी लॉटरी निकल आये तो हम उच्च आर्थिक वर्ग में आ जायेंगे। इस प्रकार की गतिशीलता क्षैतिजीय गतिशीलता है जिसे हम रेखाचित्र द्वारा निम्न प्रकार से प्रस्तुत कर सकते हैं–

   I. उच्च स्तर, II. मध्यम स्तर, III. निम्न स्तर

हेडरिक द्वारा दिये गये इस विचार में थोड़ा परिवर्तन हेविगर्स्ट तथा न्यूगरटेन (Havigorust and Neugarten) ने किया। इन्होंने सामाजिक गतिशीलता के दो प्रकार बताये–

1. उपक्रम सामाजिक गतिशीलता (Upward Social Mobility)
2. अधोक्रम सामाजिक गतिशीलता (Downward Social Mobility)।

1. उपक्रम गतिशीलता लंबीय गतिशीलता के अनुरूप है इसमें व्यक्ति जहाँ पर स्थिर है, वहाँ से अपने स्तर को ऊँचा उठाता है और तत्पश्चात जिस नवीन समूह में प्रवेश करता है, उसकी संस्कृति को सीखता है व उसके अनुरूप अपने व्यवहार को ढालता है।
2. अधोक्रम गतिशीलता उपक्रम गतिशीलता के बिल्कुल विपरीत है इसमें व्यक्ति जिस स्तर पर स्थिर है, वहाँ से नीचे चला जाता है। जैसे एक व्यक्ति बहुत बड़ा व्यापारी है। परंतु व्यापार में घाटा होते ही उसका दिवाला निकल जाता है तो वह उच्च आर्थिक स्तर से निम्न आर्थिक स्तर पर आ जाता है। इस गतिशीलता को हम रेखाचित्र द्वारा निम्न प्रकार से स्पष्ट कर सकते हैं–

   I. उच्च स्तर, II. मध्यम स्तर, III. निम्न स्तर

1.54 सामाजिक गतिशीलता को प्रभावित करने वाले कारक

सामाजिक गतिशीलता को प्रभावित करने वाले कारक अधोलिखित हैं–

उपरोक्त जितने भी कारक हैं, उनमें से किसी में भी उन्नति या अवनति हेतु परिवर्तन आता है, उसका प्रभाव सामाजिक गतिशीलता पर पड़ता है। यदि समाज की संरचना जाति के आधार पर

नोट

की गई है और जाति के स्वरूप में परिवर्तन आ जाये तो समाज गतिशीलता की ओर उन्मुख होने लगेगा या शिक्षा में विकास हो तो भी समाज में गतिशीलता आयेगी।

नोट

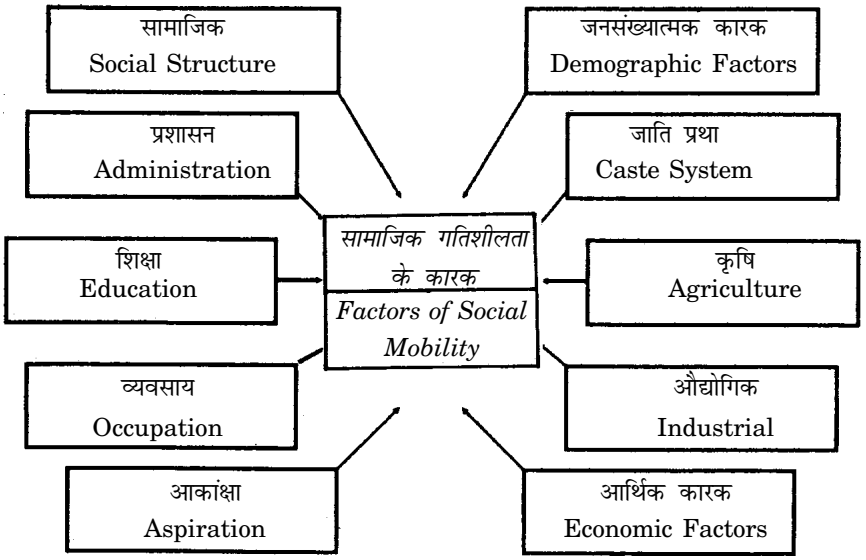

1.55 शिक्षा एवं सामाजिक गतिशीलता

भारतीय संविधान में शैक्षिक अवसरों की समानता की चर्चा की गई है जिसका प्रमुख कारण यह है कि शिक्षा के विकास द्वारा हम विभिन्न वर्गों में विद्यमान अंतराल को दूर करना चाहते हैं और साथ ही शिक्षा के विकास द्वारा हम व्यक्ति के स्तर व रहन-सहन में सुधार लाना चाहते हैं। दूसरे शब्दों में, हम यह भी कह सकते हैं कि शिक्षा जन्म पर आधारित वर्ग-भेद को समाप्त करती है तथा समाज में विद्यमान दृढ़ संस्तरण (Rigid Stratification) को नष्ट करती है। शिक्षा की प्रक्रिया में संलग्न अध्यापक व छात्रों का भी सामाजिक गतिशीलता से सकारात्मक संबंध होता है। कोई भी अध्यापक व्यवसाय-प्राप्ति के बाद जब अपने पद की वृद्धि की ओर उन्मुख होता है तो इसका अभिप्राय है कि गतिशीलता को स्वीकार करता है। साथ ही छात्र भी शिक्षा का उपयोग समाज में उच्च स्तर प्राप्ति हेतु करते हैं अर्थात् शिक्षा छात्र एवं अध्यापक दोनों को ही उपरिमुखी सामाजिक गतिशीलता (Upward Social Mobility) की ओर उन्मुख करती है। यह गतिशीलता एक वांछनीय प्रक्रिया है जिसका अवसर प्रत्येक व्यक्ति को अपनी योग्यता एवं आकांक्षा के आधार पर मिलना चाहिए। यह प्रक्रिया भारतीय समाज में पाश्चात्य समाजों की तुलना में कम है परंतु विकास की प्रक्रिया में संलग्न भारतीय समाज सामाजिक गतिशीलता की ओर उन्मुख एवं प्रयासशील अवश्य है।

1.56 सारांश

शैक्षिक समाजशास्त्र के विषय क्षेत्र की समीक्षा करते हुए डैन: डब्ल्यू. डोडसन ने लिखा है कि, ''शैक्षिक समाजशास्त्र की रुचि समस्त सांस्कृतिक समग्र है, जिसमें तथा जिसके द्वारा, व्यक्ति अनुभवों को अर्जित एवं संगठित करता है। विशिष्ट रूप से शैक्षिक समाजशास्त्र इस विषय में रुचि रखता है कि सुव्यक्तित्व विकास के लिए शैक्षिक प्रक्रियाओं का संचालन किस प्रकार किया जाए।''

अंग्रेजी शब्द कैपीटल का अर्थ होता है–मुख्य। सामान्यत: इस शब्द का प्रयोग किसी देश के बड़े नगरों के लिए अथवा उनकी राजधानियों के लिए किया जाता है। अर्थशास्त्र में इसका अर्थ

नोट

मूलधन होता है। अर्थशास्त्र में मूलधन उस धन को कहते हैं जिसके विनियोग से कोई मनुष्य और अधिक धन अर्जित करता है। सामान्यत: कोई मनुष्य किसी उद्योग अथवा व्यवसाय में जितना अधिक मूलधन लगाता है उसे उतना ही अधिक आर्थिक लाभ होता है। मूलधन की उपयोगिता उसकी सुरक्षा और उसके उचित विनियोग में निहित होती है। बस यही बात शिक्षा के साथ है।

बालक के समाजीकरण करने वाले तत्वों में स्काउटिंग और गर्ल गाइडिंग का भी विशेष स्थान है। स्काउटिंग और गर्ल गाइडिंग जाति, धर्म, वर्ण, संप्रदाय, ऊँच-नीच, बड़े-छोटे, धनवान-निर्धन के भेद तथा संकुचित राष्ट्रीयता की भावना को समाप्त करती है। वह समस्याएँ बालक के दृष्टिकोण को व्यापक बनाती हैं, उनको सामूहिक कार्य करने के अवसर प्रदान करती हैं और उनमें नि:स्वार्थ भाव से सेवा करने की भावना का विकास करती हैं। इन संस्थाओं की गतिविधियों में भाग लेने से बालक में प्रेम, सहयोग, सहकारिता, परोपकार, अपनेपन की भावना, ईमानदारी, निष्ठा आदि गुणों का विकास होता है, जो समाजीकरण में बहुत सहायक हैं।

शिक्षा और सामाजिक परिवर्तन के संबंध का दूसरा रूप है कि शिक्षा सामाजिक परिवर्तन का अनुसरण करती है। इसका अर्थ है कि सामाजिक परिवर्तन पहले होते हैं और शिक्षा तो केवल उनका अनुसरण करती है, उनके पीछे-पीछे चलती है। जब मूल्यों, आवश्यकताओं और प्रविधियों में परिवर्तन होने लगता है तो शिक्षा भी अपने आपको उन्हीं के अनुसार बना लेती है। सामाजिक परिवर्तनों के अनुसार शिक्षा के स्वरूप, उसके उद्देश्यों, उसके पाठ्यक्रम तथा पाठ्यपुस्तकों आदि में परिवर्तन होता है। ओटावे इस संदर्भ में कहते हैं कि ''कभी-कभी यह सुझाव दिया जाता है कि शिक्षा सामाजिक परिवर्तन का एक कारण है। इसके विपरीत अधिक सत्य है। शैक्षिक परिवर्तन अन्य सामाजिक परिवर्तनों को आरंभ करने की अपेक्षा इनका अनुसरण करता है।''

भारत में सामाजिक परिवर्तन लाने में विभिन्न राजनैतिक पार्टियों ने भी अपनी भूमिका अदा की है। पहले भारतीय जनता में राजनैतिक चेतनता का अत्यंत अभाव था। अपने अधिकारों के संबंध में, सामाजिक कर्तव्यों के संबंध में एवं समाज की विविध समस्याओं के संबंध में वे अधिक जागरूक नहीं थे। राजनैतिक पार्टियों ने अपने-अपने आदर्शों व उद्देश्यों के अनुसार अपने-अपने ढंग के प्रचार द्वारा जनता में राजनैतिक व सामाजिक जागृति लाने में सफल हुए हैं। इन्हीं राजनैतिक दलों के क्रिया-कलापों व प्रचारों के फलस्वरूप अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं।

महात्मा गाँधी ने शिक्षा के क्षेत्र में इस कमी को पहचाना और बुनियादी शिक्षा में श्रम की प्रतिष्ठा कर शिक्षा को उत्पादकता से जोड़ने का प्रयास किया। यूरोप के समाजवादी देशों के शैक्षिक पाठ्यक्रम में शारीरिक कार्य, कार्यानुभव आदि विभिन्न नामों से, इस विषय को अनिवार्य रूप से शामिल किया जाता है। शिक्षा आयोग ने इसे 'कार्यानुभव' (Work Experience) नाम देकर सामान्य शिक्षा के अंतिम अंग के रूप में मानने की सिफारिश की है। कार्यानुभव का अर्थ स्कूल, घर, कारखाने, खेत, फैक्ट्री या अन्य किसी भी उत्पादक स्थिति में उत्पादक काम में भाग लेना है, जिसमें कि शिक्षा और कार्य का एकीकरण हो सके और शिक्षित जनशक्ति, कुशल जनशक्ति में परिणित होकर उत्पादन का महत्वपूर्ण साधन बन सके।

शिक्षा की प्रक्रिया में संलग्न अध्यापक व छात्रों का भी सामाजिक गतिशीलता से सकारात्मक संबंध होता है। कोई भी अध्यापक व्यवसाय-प्राप्ति के बाद जब अपने पद की वृद्धि की ओर उन्मुख होता है तो इसका अभिप्राय है कि गतिशीलता को स्वीकार करता है। साथ ही छात्र भी शिक्षा का उपयोग समाज में उच्च स्तर प्राप्ति हेतु करते हैं अर्थात् शिक्षा छात्र एवं अध्यापक दोनों को ही उपरिमुखी सामाजिक गतिशीलता (Upward Social Mobility) की ओर उन्मुख करती है। यह

गतिशीलता एक वांछनीय प्रक्रिया है जिसका अवसर प्रत्येक व्यक्ति को अपनी योग्यता एवं आकांक्षा के आधार पर मिलना चाहिए। यह प्रक्रिया भारतीय समाज में पाश्चात्य समाजों की तुलना में कम है परंतु विकास की प्रक्रिया में संलग्न भारतीय समाज सामाजिक गतिशीलता की ओर उन्मुख एवं प्रयासशील अवश्य है।

नोट

1.57 अभ्यास-प्रश्न

1. शिक्षा के सामाजिक आधार का अर्थ बताइए।
2. समाजशास्त्र का अर्थ एवं परिभाषा लिखिए।
3. शैक्षिक समाजशास्त्र के उद्देश्य लिखिए।
4. शैक्षिक समाजशास्त्र का शिक्षा पर क्या प्रभाव पड़ता है?
5. 'शिक्षा का समाजशास्त्र' पर टिप्पणी लिखिए।
6. 'समाज' से आप क्या समझते हैं? इसके अर्थ एवं परिभाषा लिखिए।
7. 'समाज और शिक्षा में संबंध' का वर्णन कीजिए।
8. शिक्षा के अर्थशास्त्र का अर्थ एवं परिभाषा का उल्लेख कीजिए।
9. 'शिक्षा और राष्ट्र का आर्थिक विकास' पर टिप्पणी लिखिए।
10. समाजीकरण से आप क्या समझते हैं? स्पष्ट कीजिए।
11. समाजीकरण की विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।
12. बालक का समाजीकरण करने वाले तत्वों का विवरण दीजिए।
13. बालक के समाजीकरण में बाधक तत्वों का उल्लेख कीजिए।
14. सामाजिक परिवर्तन से क्या तात्पर्य है? स्पष्ट कीजिए।
15. 'शिक्षा सामाजिक परिवर्तन का साधन है' पर टिप्पणी लिखिए।
16. सामाजिक परिवर्तन में बाधक तत्वों का उल्लेख कीजिए।
17. भारत में सामाजिक परिवर्तन के कारकों को उल्लेख कीजिए।
18. पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति का उल्लेख कीजिए।
19. 'महिला शिक्षा' पर टिप्पणी लिखिए।
20. भारत में बढ़ती हुई जनसंख्या पर अपने विचार व्यक्त कीजिए।
21. नियोजन से क्या तात्पर्य है? बताइए।
22. राष्ट्रीय आर्थिक विकास से क्या तात्पर्य है? स्पष्ट कीजिए।
23. शिक्षा में शारीरिक श्रम की प्रतिष्ठा का उल्लेख कीजिए।
24. 'शिक्षा का व्यवसायीकरण' पर टिप्पणी लिखिए।
25. समान स्कूल व शिक्षा-प्रणाली को परिभाषित कीजिए।
26. मानव संसाधन विकास के साधनों का उल्लेख कीजिए।
27. सामाजिक परिवर्तन के कारक बताइए।

28. सामाजिक गतिशीलता से क्या तात्पर्य है? बताइए।
29. सामाजिक संस्तरीकरण से आप क्या समझते हैं? स्पष्ट कीजिए।
30. शिक्षा एवं संस्तरीकरण पर टिप्पणी लिखिए।

नोट

1.58 संदर्भ पुस्तकें

- शिक्षा के दार्शनिक और सामाजिक आधार, माथुर, एस.एस., विनोद पुस्तक मंदिर।
- शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, योगेंद्र कुमार, मधुलिका शर्मा।
- शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, ओ.पी.।
- शिक्षा और मनोविज्ञान : मापन और मूल्यांकन, शशि प्रभा।
- शिक्षा के दार्शनिक आधार, पांडेय, रामशकल।
- शिक्षा का समाजशास्त्रीय आधार, चौबे, एस.पी., इंटरनेशनल बुक्स, मेरठ।
- शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, डॉ. एन.के.।

नोट

अध्याय-2

समाजशास्त्र में उभरते रूझान

(Structure)

2.1 उद्देश्य
2.2 प्रस्तावना
2.3 समाज की संकल्पना
2.4 मानव एवं समाज के सम्बन्ध के प्रमुख सिद्धान्त
2.5 समाज के प्रमुख तत्व
2.6 शिक्षा का समाज में स्थान
2.7 समाज का शिक्षा पर प्रभाव
2.8 शिक्षा का समाज पर प्रभाव
2.9 मूल्यांकन न प्रक्रिया
2.10 प्रमुख मूल्यांकन प्रणालियाँ
2.11 मूल्यांकन कार्यक्रम
2.12 स्वतंत्रता की संकल्पना
2.13 विद्यार्थी एवं स्वतंत्रता
2.14 शिक्षा के निजीकरण का संवैधानिक स्रोत
2.15 निजीकरण के लाभ-हानि और सुझाव
2.16 शिक्षा का सार्वभौमीकरण: अवधारणा
2.17 सभी के लिए शिक्षा : भारतीय संदर्भ
2.18 दूरस्थ शिक्षा की अवधारणा, आवश्यकता और दूरस्थ शिक्षा का प्रारूप
2.19 सारांश
2.20 अभ्यास-प्रश्न
2.21 संदर्भ पुस्तकें

2.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- समाज एवं शिक्षा की संकल्पना स्पष्ट कर सकेंगे;
- समाज के तत्वों को बता सकेंगे;
- शिक्षा व समाज के सम्बंध का वर्णन कर सकेंगे;

- समाज पर शिक्षा के प्रभाव की विवेचना कर सकेंगे;
- शिक्षा पर समाज के प्रभाव को अख्यायित कर सकेंगे;
- उच्च शिक्षा के निजीकरण से होने वाले लाभ और हानियों की व्याख्या करने में;
- शिक्षा के सार्वभौमीकरण को समझने एवं व्याख्या करने में;
- दूरस्थ शिक्षा की अवधारणा, आवश्यकता और प्रारूप की विवेचना करने में।

नोट

2.2 प्रस्तावना

आदिकाल में अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति एवं अस्तित्व के लिये मनुष्य ने समाज की स्थापना की, और अपने सामाजिक सांस्कृतिक, आध्यात्मिक, धार्मिक परम्पराओं के हस्तांतरण हेतु शिक्षण संस्थाओं की स्थापना की। फिर कालांतर में शिक्षा समाज के स्वरूप एवं ढांचे पर प्रभाव डालकर परिवर्तन विकास का आधार बनी और फिर समाज के स्वरूप एवं प्रस्थिति ने शिक्षा को भी प्रभावित किया। मानव के विकास की कहानी के साथ शिक्षा भी जुड़ी है। इस इकाई में हम समाज और शिक्षा की अन्योन्याश्रिता के विषय में जानकारी प्राप्त करेंगे।

भारतीय संविधान में शिक्षा को नीति निर्देशक सिद्धान्तों के अन्तर्गत राज्य का विषय माना गया है। राज्य का कर्तव्य है कि वह अपने नागरिकों की समुचित शिक्षा की व्यवस्था करे। राज्य की यह व्यवस्था संविधान की धारा 45 के अनुसार और भी महत्वपूर्ण हो जाती है, जब 6-14 आयु वर्ग के बालकों की अनिवार्य, नि:शुल्क एवं सार्वभौम शिक्षा का दायित्व सरकार पर आ जाता है।

भारत में प्राचीन काल से ही शिक्षा पर राज्य का नियंत्रण नहीं रहा। वैदिक युग में गुरुकुलों में दी जाने वाली शिक्षा, राज्य तथा समाज द्वारा पोषित तो थी, परन्तु राज्य द्वारा नियोजित नहीं थी। शिक्षक, समाज की आवश्यकता तथा व्यक्ति के विकास के संदर्भ में शिक्षित करते थे।

आज विश्व में जनसंख्या जिस रफ्तार से बढ़ रही है, उससे दूनी रफ्तार से निरक्षरों तथा अल्पसाक्षरों की संख्या में वृद्धि हो रही है। विश्व के संदर्भ में शिक्षा की बाबत सोचने वालों ने सभी के लिये शिक्षा का उद्घोष किया है।

दूसरे महायुद्ध के पश्चात् विश्व के अधिकांश देशों का ध्यान शिक्षा के प्रचार एवं प्रसार की ओर आकृष्ट हुआ। यह सैद्धान्तिक रूप से स्वीकार किया गया कि सभी व्यक्तियों को साक्षर होना चाहिए। यूनीवर्सल डिक्लेरेशन ऑफ ह्यूमन राइट्स के द्वारा विश्व के देशों ने यह स्वीकार किया कि–"प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षा पाने का अधिकार है।" संचार एवं सूचना क्रांति से विश्व के देश एक-दूसरे के नजदीक आते जा रहे हैं। इस समीपता को बनाये रखने एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाने के लिये विश्व के सभी व्यक्तियों का साक्षर होना अनिवार्य हो गया है। शिक्षा की इस अनिवार्यता को समझते हुए विश्व के प्राय: सभी देश अपने नागरिकों को शिक्षित कराने के लिये लगभग पांच दशकों से प्रयत्नशील हैं। अन्तर्राष्ट्रीय संस्था यूनेस्को ने भी इस ओर महत्वपूर्ण कार्य किये हैं।

दूरस्थ शिक्षा का अर्थ है कि देश के दूर भागों में रहने वाले सभी छात्रों को शिक्षा सम्बन्धी सुविधएँ उपलब्ध कराई जाएँ। दूरस्थ शिक्षा (Distance Education) की व्यवस्था का कार्य व्यापक है सभी विकसित तथा विकासशील देशों में इसका प्रचार प्रचुरता से बढ़ रहा है। इसका कारण है कि शिक्षा के अर्जन मे समय एवं पैसे की बचत अर्थात् लोगों का विश्वविद्यालय या विद्यालय में अधिक शुल्क या लम्बा समय बिताने में कमी लाना है। दूसरी और सरकार की नीति है प्रत्येक

व्यक्ति को साक्षर (शिक्षित) करने की प्रवृत्ति। कुछ शिक्षाशास्त्रियों ने इसकी परिभाषा देने का प्रयत्न किया ताकि यह (दूरस्थ) शिक्षा प्रणाली परम्परागत (Traditional) शिक्षा प्रणाली से विभिन्न लगे। उच्च शिक्षा में इस प्रणाली की लोकप्रियता में वृद्धि का कारण है इसका आधुनिक परिवेश में अधिक से अधिक प्रयोग होना।

नोट

2.3 समाज की संकल्पना

मनुष्य चिन्तनशील प्राणी है। मनुष्य ने अपने लम्बे इतिहास में एक संगठन का निर्माण किया है। वह ज्यों-ज्यों मस्तिष्क जैसी अमूल्य शक्ति का प्रयोग करता गया, उसकी जीवन पद्धति बदलती गयी और जीवन पद्धतियों के बदलने से आवश्यकताओं में परिवर्तन हुआ और इन आवश्यकताओं ने मनुष्य को एक सूत्र में बाधना प्रारम्भ किया और इस बंधन से संगठन बने और यही संगठन समाज कहलाये और मनुष्य इन्हीं संगठनों का अंग बनता चला गया। बढ़ती हुई आवश्यकताओं ने मानव को विभिन्न समूहों एवं व्यवसायों को अपनाते हुये विभक्त करते गये और मनुष्य की परस्पर निर्भरता बढ़ी और इसने मजबूत सामाजिक बंधनों को जन्म दिया।

वर्तमान सभ्यता मे मानव का समाज के साथ वही घनिष्ठ सम्बंध हो गया है और शरीर में शरीर के किसी अवयव का होता है। **विलियम ईगर** महोदय का कथन है- मानव स्वभाव से ही एक सामाजिक प्राणी है, इसीलिये उसने बहुत वर्षो के अनुभव से यह सीख लिया है कि उसके व्यक्तित्व तथा सामूहिक कार्यो का सम्यक विकास सामाजिक जीवन द्वारा ही सम्भव है। **रेमण्ट** महोदय का कथन है कि- एकांकी जीवन कोरी कल्पना है। शिक्षा और समाज के सम्बंध को समझने के लिये इसके अर्थ को समझना आवश्यक है।

शाब्दिक अर्थ - समाज शब्द सस्कृत के दो शब्दों सम् एवं अज से बना है। सम् का अर्थ है इक्ट्ठा व एक साथ अज का अर्थ है साथ रहना। इसका अभिप्राय है कि समाज शब्द का अर्थ हुआ एक साथ रहने वाला समूह।

समाज की परिभाषायें

- **एडम स्मिथ**- मनुष्य ने पारस्परिक लाभ के निमित्त जो कृत्रिम उपाय किया है वह समाज है।
- **डॉ. जेम्स**- मनुष्य के शान्तिपूर्ण सम्बन्धों की अवस्था का नाम समाज है।
- **प्रो. गिडिंग्स**- समाज स्वयं एक संघ है, यह एक संगठन है और व्यवहारों का योग है, जिसमें सहयोग देने वाले व्यक्ति एक-दूसरे से सम्बंधित है।
- **प्रो. मैकाइवर**- समाज का अर्थ मानव द्वारा स्थापित ऐसे सम्बंधों से है, जिन्हें स्थापित करने के लिये उसे विवश होना पड़ता है।
- **ओटवे** के अनुसार- समाज एक प्रकार का समुदाय या समुदाय का भाग है, जिसके सदस्यों को अपने जीवन की विधि की समाजिक चेतना होती है और जिसमें सामान्य उद्देश्यों और मूल्यों के कारण एकता होती है। ये किसी संगठित ढंग से एक साथ रहने का प्रयास करते हैं किसी भी समाज के सदस्यों की अपने बच्चों का पालन-पोषण करने और शिक्षा देने की निश्चित विधियां होती है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है, समाज एक उद्देश्यपूर्ण समूह हेाता है, जो किसी एक क्षेत्र में बनता है, उसके सदस्य एकत्व एवं अपनत्व में बंधे होते हैं।

2.4 मानव एवं समाज के सम्बन्ध के प्रमुख सिद्धान्त

मानव एवं समाज अन्योन्याश्रित है पर समाजशास्त्री इस सम्बंध के विषय में पृथक-पृथक विचार रखते हैं, इनके विचारों को नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है।

नोट

1. **सामाजिक संविदा का सिद्धान्त** – यह अत्यन्त प्राचीन सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त को मानने वाले महाभारत कौटिल्य के अर्थशास्त्र, शुक्रनीतिसार, जैन और बौद्ध साहित्य आदि सभी इस सिद्धान्त का समर्थन करते हैं।

   आधुनिक पाश्चात्य् दार्शनिक में टामस हाब्स, लाक और रूसो इस मत का प्रबल समर्थक है। इस सिद्धान्त के अनुसार समाज नैसर्गिक नहीं बल्कि एक कृत्रिम संस्था है। मनुष्यों ने अपने स्वार्थ के लिये समाज का नियंत्रण स्वीकार किया है। इस सिद्धान्त के अनुसार एकांकी जीवन के कठिनाइयों एवं दबंगो के दबाव को झेलते हुये व्यक्ति ने स्वयं को संगठित कर लिया और इन संगठनों को समाज की संज्ञा दी गयी। प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री अरस्तु के कथन को मैकाइवर व पेज ने अपनी रचना सोसाइटी में लिखा कि- मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। मनुष्य सुरक्षा आराम, पोषण, शिक्षा, उपकरण, अवसर तथा उन विभिन्न सेवाओं के लिये जिन्हें समाज उपलब्ध कराता है, समाज पर निर्भर है।

2. **समाज का अवयवी सिद्धान्त** – इस सिद्धान्त का अन्तर्निहित अर्थ है समाज एक जीवित शरीर है और मनुष्य उसका अंग है। इस सिद्धान्त के समर्थक मानते हैं कि समाज विभिन्न अंगों में विभाजित है और सभी अंग अपने प्रकार्यों के माध्यम से समाज को जीवन व गति प्रदान करते हैं।

   समाज रूपी शरीर में व्यक्ति कोशिका की तरह है, और इसके अन्य अवयव समितियां तथा संस्थायें है। वास्तव में यह सिद्धान्त आज के युग में प्रासंगिक है इसके अनुसार समाज मानव के ऊपर है, यह बात सच है कि मनुष्य समाज का अंग है, और समाज को शरीर मानकर और मनुष्य को कोशिका मानकर मानव अस्तित्व को स्वीकारना ठीक नहीं है। सत्यकेतु विद्यलंकार ने स्पष्ट किया है कि समाज हमारे स्वभाव में है अत: स्थायित्व उसका स्वभाविक गुण है। शरीर सिद्धान्त के अनुसार समाज में स्वतंत्र रूप से व्यक्तियों की कोई स्थिति नहीं है, जिसे स्वीकारना भी सम्भव नहीं है।

3. **मनुष्य एवं समाज में आश्रितता** – व्यक्ति व समाज एक-दूसरे के पूरक हैं। व्यक्ति मिलकर समाज का निर्माण करते हैं और समाज व्यक्ति के अस्तित्व एवं आवश्यकता को पूरा करता है, ये दोनों परस्पर आश्रित हैं। व्यक्तियों के योग से समाज उत्पन्न होता है। **हैवी हर्स्ट** तथा **न्यू गार्टन** ने अपनी पुस्तक सोसाइटी एण्ड एजुकेशन में समाजीकरण की व्याख्या करते हुये लिखा है सामाजीकरण वह प्रक्रिया है जिसके माध्यम से बच्चे अपने समाज के स्वीकृत ढंगों को सीखते है, और इन ढंगों को अपने व्यक्तित्व का एक अंग बना देते हैं।

   सामाजिक संस्था का सदस्य होने के कारण व्यक्ति का व्यक्तित्व एवं अस्तित्व दोनों सुरक्षित रहता है, और व्यक्ति का स्व समाज के स्व के अधीन हो जाता है। स्वस्थ समाज वही है, जो लोकतांत्रिक व्यवस्था में विश्वास करता है समाज में स्वतंत्रता व्यक्ति की उन्नति का आधार बनता है। समाज और व्यक्ति के मअध्य अक्सर संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। उसका कारण व्यक्ति की इच्छायें एवं समाज की उससे अपेक्षायें होती है।

नोट

2.5 समाज के प्रमुख तत्व

समाज के निर्माण के कई तत्व है, इसे जानने के पश्चात् ही समाज का अर्थ पूर्णतया स्पष्ट हो जायेगा-

1. समाज की आत्मा से मनुष्य का अमूर्त सम्बंध है। समाज एक प्रकार से भावना का आधार लेकर बनता है। व्यक्ति समाज के अवयव के रूप में है। व्यक्तियों के बीच की विविधता समाज में समन्वय के रूप में परिलक्षित होती है। **कोहरे राबर्टस** के अनुसार-''तनिक सोचने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि समाज के अभाव में व्यक्ति एक खोखली संज्ञा मात्र है। मानव कभी अकेले नहीं रह सकता वह समाज का सदस्य बनकर रह जाता है। मानव का अध्ययन मानव समाज का अध्ययन है, व्यक्ति का विकास समाज में ही सम्भव है।''

   रॉस ने स्पष्ट किया-''समाज से अलग वैयक्तिकता का कोई मूल्य नहीं रह जाता है और व्यक्तित्व एक अर्थ ही न संज्ञा मात्र है।''
2. समाज में हम की भावना होती है। इस भावना के अन्तर्गत व्यक्तिगत में निहित होता है, और यही सामाजिक बंधन को जन्म देता है। पर समाज के सम्पूर्ण बंधन स्वार्थपूर्ण होते हैं।
3. समाज में समूह मन व समूह आत्मा होती है।, यह सम्बंध पारस्परिक चेतना से युक्त होती है, समूह मन में यह चेतना होती है और उनके यह व्यवहार में प्रकट होती है।
4. समाज में अपनी सुरक्षा की भावना पायी जाती है, इसके लिये वह अपने अस्तित्व की रक्षा के लिये सदैव प्रयत्नशील रहता है, और समाज अपनी निजता को बनाये रखने के लिये नियम कानून रीति रिवाज संस्कृति व सभ्यता को विकसित व निर्मित करता है।
5. समाज की आर्थिक स्थिति उसके सदस्यों की आर्थिक स्थिति पर निर्भर करती है तो उनसे आर्थिक स्थिति की विविधता पायी जाती है परन्तु इन सबके बाद भी उनमें एक समाज अधिकार भावना पायी जाती है, कि हम समाज के सदस्य है।
6. समाज के जीवन एवं संस्कृति सभ्यता के कारण व्यक्तियों के आचार-विचार व्यवहार मान्यताओं में एकता पायी जाती है। जिसे हम जीवन का सामान्य तरीका के रूप में देख सकते हैं।
7. समाज निश्चित उद्देश्यों को रखकर निर्मित होते है, जिसमें पारस्परिक लाभ, मैत्रीपूर्ण व शान्तिपूर्ण जीवन आदर्शों एवं कार्यों की पूर्ति आदि के रूप में देखे जा सकते हैं।
8. समाज में स्थायित्व की भावना होती है क्योंकि सभी सदस्य कई पीढ़ियों से उसी समाज के आजीवन सदस्य रहते हैं, इससे समाज बना रहता है।
9. समाज कई समूहों के संगठन होते हैं जिनमें अन्योन्याश्रितता होती है।

2.6 शिक्षा का समाज में स्थान

वैंकटरायप्पा ने शिक्षा व समाज के सम्बंध को स्पष्ट करते हुये लिखा है- ''शिक्षा समाज के बालकों का समाजीकरण करके उसकी सेवा करती है। इसका उद्देश्य - युवकों को सामाजिक मूल्यों, विश्वासों और समाज के प्रतिमानों को आत्मासात करने के लिये तैयार करना और उनको समाज की क्रियाओं में भाग लेने के योग्य बनाना है।'' शिक्षा व्यक्ति व समाज के लिये यह कार्य करती है।

- **शिक्षा - व्यक्ति व समाज की प्रक्रिया का आधार** - शिक्षा को चाहे व्यक्तित्व के विकास की प्रक्रिया कहें या सामाजिक प्रक्रिया इन दोनों में वह व्यक्ति व समाज से

सम्बंध स्थापित करती है। शिक्षा समाज को गतिशील बनाती है, और विकास का आधार प्रदान करती है।

- **समाज के व्यक्तियों का व्यक्तित्व विकास** - शिक्षा द्वारा व्यक्तित्व का विकास होता है। व्यक्तित्व के विकास से तात्पर्य शारीरिक, चारित्रिक, नैतिक और बौद्धिक गुणों के विकास के साथ सामाजिक गुणों का विकास होना। विकसित व्यक्तित्व का बाहुल्य समाज की प्रगति का आधार बनता है। व्यक्ति को निर्जीव मानकर समाज उसका उपयोग नहीं कर सकता।
- **संस्कृति व सभ्यता के हस्तांतरण की प्रक्रिया** - शिक्षा समाज की संस्कृति एवं सभ्यता के हस्तांतरण का आधार बनती है। शिक्षा के इस कार्य के विषय में **ओटवे** महोदय ने लिखा है कि - ''शिक्षा का कार्य समाज के सांस्कृतिक मूल्यों और व्यवहार के प्रतिमानों को अपने तरूण और शक्तिशाली सदस्यों को प्रदान करना है। पर असल में यह उसके साधारण कार्यों में से एक है।'' शिक्षा के इस कार्य पर **टायलर** ने लिखा है कि ''संस्कृति वह जटिल समग्रता है, जिसमें ज्ञान विश्वास, कला, नैतिकता, प्रथा तथा अन्य योग्यतायें और आदतें सम्मिलित होती है, जिनको मनुष्य समाज के सदस्य के रूप शिक्षा से प्राप्त करता है।'' महात्मा गांधी ने शिक्षा के इस कार्य की आवश्यकता एवं प्रशंसा करते हुये लिखा है - ''संस्कृति ही मानव जीवन की आधार शिला और मुख्य वस्तु है यह आपके आचरण और व्यक्तिगत व्यवहार की छोटी सी छोटी बातों में व्यक्त होनी चाहिये।''
- **शिक्षा सामाजिक प्रक्रिया के अंग के रूप में रासे** के अनुसार- ''शिक्षा एक आधारभूत सामाजिक कार्य और सामाजिक प्रक्रिया का अंग है।'' ओटवे ने शिक्षा को सामाजिक विज्ञान का रूप देते हुये स्पष्ट किया है- ''शिक्षा समाज में होने वाली क्रिया है और इसके उद्देश्य एवं विधियां उस समाज के स्वरूप के रूप के अनुरूप होती है, जिनमें इसकी क्रिया होती है।''
- **भावी पीढ़ी के प्रशिक्षण** – में शिक्षा समाज को प्रशिक्षित भावी पीढ़ी प्रदान करती है, जो कि समाज का भविष्य होते हैं। **ब्राउन** लिखते है कि- ''शिक्षा व्यक्ति व समूह के व्यवहार में परिवर्तन लाती है, यह चैतन्य रूप में एक नियंत्रित प्रक्रिया है, जिसके द्वारा व्यक्ति के व्यवहार में और व्यक्ति द्वारा समूह में परिवर्तन किये जाते हैं। शिक्षा समाज को सभ्य एवं सुसंस्कृत पीढ़ी प्रदान करती है।''
- **शिक्षा समाज की प्रगति का आधार** - शिक्षा समाज के लिये वह साधन है, जिसके द्वारा समाज के मनुष्यों के विचारों, आदर्शों, आदतों और दृष्टिकोण में परिवर्तन कर समाज की प्रगति की जाती है। **एलवुड** ने स्पष्ट किया है - ''शिक्षा वह साधन है जिसमें समाज सब प्रकार की महत्वपूर्ण सामाजिक प्रगति की आशा कर सकता है।''
- **समाज में परिवर्तन का आधार** – समाज का स्वरूप एवं प्रस्थिति में निरन्तर बदलाव की ओर अग्रसर होता है, और यह आवश्यक भी नही है, कि यह व्यक्ति और समाज के लिये हितकर हो इसमें शिक्षा इस बदलाव एवं व्यक्ति व समाज के मध्य सम्बंध स्थापित करते हुये सामंजस्य बैठाती है। **एलवुड** ने स्पष्ट किया है- ''समाज का सर्वोत्तम परिवर्तन मानव के स्वभाव में परिवर्तन कर किया जा सकता है और ऐसा करने की सर्वोत्तम विधि शिक्षा द्वारा ही सम्भव है।''
- **शिक्षा के द्वारा समाज की स्थिरता** – शिक्षा समाज के मानव संसाधन को सुसंस्कृत बनाकर अपने व समाज के लिये उपयोग बनाती है। **ओर्शिया** ने इस तथ्य को स्पष्ट

नोट

नोट

करते हुये कहा है कि ''समाज की शिक्षा व्यवस्था व्यक्तियों का मानसिक, व्यावसायिक, राजनीतिक और कलात्मक विकास करके न केवल समाज के अधेपतन की रक्षा करती है, वरन उसको स्थिरता भी प्रदान करती है।''

- **सामाजिक दोषों के सुधार का आधार** – शिक्षा में नैतिकता चारित्रिक एवं दार्शनिक पक्ष की प्रधनता होती है और शिक्षा अपनी व्यवस्था में भावी पीढ़ी को समाज में व्याप्त दोषों को इंगित कर उनमें सुधार हेतु समझ एवं मार्ग प्रदान करती है।
- **समाज की सदस्यता की तैयारी का आधार** – शिक्षा व्यक्ति को अपने व समाज के लिये उपयोगी बनाती है, प्रारम्भ में बालक परिवार का सदस्य होता है और उन्हें सामाजिक कर्तव्यों एवं नागरिकता के गुणों को विकसित कर उन्हें समाज के भावी सदस्य के रूप में तैयार करती है।

2.7 समाज का शिक्षा पर प्रभाव

शिक्षा पर समाज के प्रभाव को नकारा नहीं जा सकता है, क्योंकि समाज शिक्षा की व्यवस्था करता है। इस प्रभाव को निम्न बिन्दुओं के अन्तर्गत देखा जा सकता है-

1. **समाज के स्वरूप का प्रभाव** – समाज के स्वरूप का शिक्षा की प्रकृति पर प्रभाव पड़ता है, जैसा समाज का स्वरूप होगा वह शिक्षा को वैसे ही व्यवस्थित करता है। भारत लोकतांत्रिक देश है तो शिक्षा की प्रकृति उद्देश्यों उसके संगठन एवं वातावरण में लोकतांत्रिक आदर्श प्रतीत होते हैं। तानाशाही समाज की शिक्षा में अनुशासन व आज्ञाकारिता, आदि पर बल दिया जाता है। समाजवादी देशों की शिक्षा में समाजवादी तत्व एवं स्वरूप दिखायी देता है।
2. **सामाजिक परिवर्तन का प्रभाव** – समाज की प्रस्थिति एवं स्वरूप जैसे तैसे बदलता जाता है वैसे वैसे शिक्षा का रूप भी बदलता जाता है। भारत में आदिकाल से धार्मिक शिक्षा दी जाती थी उसके पश्चात् समय के साथ आधुनिक युग आया और देश ने राजतंत्र से प्रजातंत्र में प्रवेश किया और शिक्षा में लोकतंत्रीय आदर्श एवं मूल्य समावेशित हुये सामाजिक असमानता, कुरीतियों एवं आर्थिक असमानता को दूर कर वर्ग विशेष के लिये शिक्षा व्यवस्था से सबके लिये शिक्षा को मुख्य लक्ष्य माना गया और सभी को शिक्षा प्राप्त करने का पूर्ण अधिकार प्राप्त कराया गया।
3. **राजनैतिक दशाओं का प्रभाव** – किसी भी समाज की राजनैतिक दशा का शिक्षा पर प्रभाव पड़ता है, क्योंकि राजनीति को मजबूत आधार शिक्षा प्रदान करती है। अंग्रेज जब भारत आये तो उन्होंने अपने शासन को मजबूत आधार देने के लिय शिक्षा व्यवस्था को अपने अनुसार ढालने का प्रयास किया और इसके लिये निष्पन्दन का सिद्धान्त का अनुसरण कर आवश्यकतानुसार शिक्षा देने का प्रयास किया कम्पनी के संचालकों का विश्वास था- कि ''प्रगति उस समय हो सकती है, जब उच्च वर्ग के उन व्यक्तियों को शिक्षा दी जाये जिसके पास अवकाश है।'' वैदिक युग में राजतंत्र था तो शिक्षा वर्ग विशेष के लिये थी परन्तु प्रजातांत्रिक शासन व्यवस्था में सभी आयु वर्ग, लिंग, जाति एवं धर्म के लोगों को समान शिक्षा का अधिकार दिया गया है।
4. **आर्थिक दशाओं का प्रभाव** – जिस समाज की आर्थिक दशा अच्छी होती है वहां की शिक्षा व्यवस्था पर इसका प्रभाव पड़ता है। अमेरिका जैसे देश विकसित हैं तो वहां पर

शिक्षा का प्रचार-प्रसार जल्दी हुआ और भारत जैसे देश में हमें शिक्षा की सुविधा देने में वर्षों लग रहे हैं। आर्थिक रूप से सम्पन्न समाज अच्छे विद्यालय खोलने में सक्षम रहता है, इसके फलस्वरूप व्यावसायिक, प्राविधिाक, प्रौद्योगिक, वैज्ञानिक आदि पक्षों का अधिक से अधिक विकास हेतु संसाधन उपलब्ध रहता है। आर्थिक रूप से विपन्न देशों व समाजों की शिक्षा में भी यह विपन्नता स्पष्ट दिखायी देती है।

नोट

5. **सामाजिक आदर्शों, मूल्यों व आवश्यकताओं का प्रभाव** – शिक्षा पर सामाजिक आदर्शों का प्रभाव पड़ता है जैसे भारत में शिक्षा का स्वरूप पर **डॉ. राधकृष्णन** ने लिखा कि- ''शिक्षा को व्यक्ति और समाज दोनों का उत्थान करना चाहिये। तब हमारी शिक्षा व्यवस्था के उद्देश्यों, लक्ष्यों, शिक्षण विधियों पाठ्यक्रम एवं शिक्षार्थी, शिक्षक के गुणों की संकल्पना पर इसका प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है।'' इस प्रकार भारतीय समाज की आवश्यकता है, गरीबी, बेरोजगारी, को दूर करना असमानता की भावना दूर करना, और लोकतांत्रिक मूल्यों का समावेश किया जाये तब इन तथ्यों को शिक्षा व्यवस्था के विभिन्न पक्षों उद्देश्यों एवं पाठ्यक्रम में स्पष्ट समावेशित किया गया।
6. **समाज के दृष्टिकोण का प्रभाव** – शिक्षा व्यवस्था में समाज के दृष्टिकोण का प्रभाव पड़ता है, जैसे यदि समाज रूढ़िवादी दृष्टिकोण का है तो शैक्षिक प्रशासन एवं अनुशासन व पाठ्यक्रम में इसका स्पष्ट छाप दिखायी देती है। समाज के उदार दृष्टिकोण का प्रभाव वहाँ की शिक्षा व्यवस्था में देखी जा सकती है। जैसे वैदिक युगीन समाज का दृष्टिकोण आध्यात्मिक था तब उस समय शिक्षा व्यवस्था धार्मिक थी। इसी प्रकार से जनतांत्रिक दृष्टिकोण एंव उदार शिक्षा का प्रभाव शिक्षा व्यवस्था में स्पष्ट दिखायी देता है। एच.ओड का कथन है- ''समाज और शिक्षा का एक-दूसरे से पारस्परिक कारण और परिणाम का सम्बंध है। किसी भी समाज का स्वरूप उसकी शिक्षा व्यवस्था के स्वरूप को निर्धारित करता है, और इस व्यवस्था का स्वरूप, समाज के स्वरूप को निर्धारित करता है।''

2.8 शिक्षा का समाज पर प्रभाव

हम उपर पढ़ चुके हैं कि समाज शिक्षा के प्रत्येक पक्ष को प्रभावित करता है तो ठीक उसी प्रकार शिक्षा भी समाज को प्रत्येक पक्ष पर प्रभावित करती है, चाहे आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक स्वरूप हो। इस पर हम बिन्दुवार आगे कुछ विस्तार से देखेंगे-

- **शिक्षा व समाज का स्वरूप** – शिक्षा का प्रारूप समाज के स्वरूप को बदल देती है क्योंकि शिक्षा परिवर्तन का साधन है। समाज प्राचीनकाल से आज तक निरन्तर विकसित एवं परिवर्तित होता चला आ रहा है क्योंकि जैसे-जैसे शिक्षा का प्रचार-प्रसार होता गया इसने समाज में व्यक्तियों के प्रस्थिति, दृष्टिकोण, रहन-सहन, खान-पान, रीति-रिवाजों पर असर डाला और इससे सम्पूर्ण समाज का स्वरूप बदला।
- **शिक्षा व सामाजिक सुधार एवं प्रगति** – शिक्षा समाज के व्यक्तियों को इस योग्य बनाती है कि वह समाज में व्याप्त समस्याओं, कुरीतियों गलत परम्पराओं के प्रति सचेत होकर उसकी आलोचना करते है, और धीरे-धीरे समाज में परिवर्तन हेाता जाता है। शिक्षा समाज के प्रति लोगों को जागरूक बनाते हुये उसमें प्रगति का आधार बनाती है। जैसे शिक्षा पूर्व में वर्ग विशेष का अधिकार थी जिससे कि समाज का रूप व स्तर अलग तरीके का या

नोट

अत्यधिक धार्मिक कट्टरता, रूढिवादिता एवं भेदभाव या कालान्तर में शिक्षा समाज के सभी वर्गों के लिये अनिवार्य बनी जिससे कि स्वतंत्रता के पश्चात् सामाजिक प्रगति एवं सुधार स्पष्ट परिलक्षित हो रहा है। **डयूवी** ने लिखा है कि- शिक्षा में अनिश्चितता और अल्पतम साधनों द्वारा सामाजिक और संस्थागत उद्देश्यों के साथ-साथ, समाज के कल्याण, प्रगति और सुधार में रुचि का दुषित होना पाया जाता है।

- **शिक्षा और सामाजिक नियंत्रण** – शिक्षा समाज का स्वरूप बदलकर उस पर नियंत्रण भी करती है अभिप्राय यह है कि व्यक्ति का दृष्टिकोण एवं उसके क्रियाकलाप समाज को गतिशील रखते हैं। शिक्षा व्यक्ति के दृष्टिकोण में परिवर्तन कर उसके क्रियाकलापों में परिवर्तन कर समूह मन का निर्माण करती है और इससे अर्थव्यवस्था दूर कर उपयुक्त सामाजिक व्यवस्था का निर्माण करती है।
- **शिक्षा और सामाजिक परिवर्तन** – समाज की रचना मनुष्य ने की है, और समाज का आधार मानव क्रिया है ये क्रया सदैव चलती रहेगी और शिक्षा की क्रिया के अन्तर्गत होती है इसीलिये शिक्षा व्यवस्था जहां समाज से प्रभावित होती है वहीं समाज को परिवर्तित भी करती है जैसे कि स्वतंत्रता के पश्चात् सबके लिये शिक्षा एवं समानता के लिये शिक्षा हमारे मुख्य लक्ष्य रहे हैं इससे शिक्षा का प्रचार-प्रसार हुआ और समाज का पुराना ढांचा परिवर्तन होने लगा। आध्यात्मिक मूल्यों के स्थान पर भौतिक मूल्य अधिक लोकप्रिय हुआ। सादा जीवन उच्च विचार से अब हर वर्ग अपनी इच्छाओं के अनुरूप जीना चाहता है। शिक्षा ने जातिगत व लैंगिक असमानता को काफी हद तक दूर करने का प्रयास किया। और ग्रामीण समाज अब शहरी समाजों में बदलने लगे और सामूहिक परिवारों का चलन कम हो रहा है। शिक्षा के द्वारा सामाजिक परिवर्तन और इसके द्वारा शिक्षा पर प्रभाव दोनों ही तथ्य अपने स्थान पर स्पष्ट है। सैयदेन ने इस बात को और स्पष्ट करते हुये लिखा है कि- इस समय भारत में शिक्षा बहुत नाजुक पर रोचक अवस्था में से होकर गुजर रही है, यह स्वाभाविक है क्योंकि समग्र रूप में राष्ट्रीय जीवन भी जिसका शिक्षा भी अनिवार्य अंग है, ऐसी ही अवस्था में से होकर गुजर रहा है।

2.9 मूल्यांकन न प्रक्रिया

शिक्षा एक सतत् अन्तः क्रियात्मक प्रक्रिया है जिसका अभिन्न अंग मूल्यांकन है। मूल्यांकन कार्यक्रम एक प्रक्रिया के रूप में शिक्षण अधिगम प्रक्रिया से सम्बन्धित रहता हैं। उद्देश्य निर्धारण के उपरान्त शिक्षण बिन्दुओं का निर्धारण तथा शिक्षण क्रियाओं के आयोजन के उपरान्त छात्रों के व्यवहार परिवर्तन की स्थिति का आकलन कर कमजोरी के बिन्दुओं को पहचान कर यथोचित पृष्ठपोषण आधार तैयार करना मूल्यांकन प्रक्रिया के अन्तर्गत आता है। कहाँ पहुँचाना था? कैसे पहुँचाना था? किस प्रकार पहुँचाया गया? क्या वास्तव में पहुँचा पाये? क्या कारण हैं कि वहाँ तक नहीं पहुँच पाये? अब कैसे लक्ष्य प्राप्ति की जाये? आदि मूल्यांकन प्रक्रिया के अंग हैं। इन्हें उद्देश्य निर्धारण, अधिगम क्रियाओं का संचालन तथा मूल्यांकन में क्रमबद्ध कर सकते हैं। उद्देश्य निर्धारण मूल्यांकन प्रक्रिया का प्रथम चरण है जिसका लक्ष्य यह ज्ञात करना है कि मूल्यांकन किसका करना है? अर्थात् शैक्षिक उद्देश्य क्या हैं? दूरगामी तथा तात्कालिक उद्देश्य छात्र की शारीरिक, मानसिक स्थिति, विषय वस्तु की प्रकृति, सांस्कृतिक आधार, तथा शिक्षा के स्तर पर आधारित होते हैं। विशिष्ट उद्देश्य प्रत्यक्ष तथा कार्यपरक

होते हैं। बिना सामान्य तथा विशिष्ट उद्देश्यों के निर्धारण के शिक्षण प्रक्रिया की वान्छनीयता निर्धारित नहीं की जा सकती है। उद्देश्य निर्धारण के उपरान्त उन शिक्षण बिन्दुओं का निर्धारण किया जाता है जिनके द्वारा विशिष्ट शैक्षिक उद्देश्यों की प्राप्ति सुनिश्चित की जाती है। विषय वस्तु के वे संक्षिप्त पूर्ण इकाइयाँ जो एक क्रम में लक्ष्य प्राप्ति में सहायक होते हैं शिक्षण बिन्दु कहलाते हैं। शिक्षण बिन्दुओं के निर्धारण के उपरान्त वास्तविक शिक्षण अधिगम क्रियाओं का आयोजन होता है जिससे शिक्षण उद्देश्यों की प्राप्ति सुनिश्चित की जा सके। शिक्षण उद्देश्यों की प्राप्ति हुई या नहीं यह निर्धारित करने हेतु छात्रों में व्यवहार परिर्वतन की वस्तु स्थिति जानने का प्रयास होता है जिसमें परीक्षण, समाजमिति, प्रश्नावली, साक्षात्कार, अवलोकन, संचित अभिलेख आदि का प्रयोग किया जाता है। इनके प्राप्तांको के आधार पर परिवर्तित व्यवहार की अपेक्षित व्यवहार परिवर्तन के संदर्भ में वांछनीयता के सापेक्ष व्याख्या की जाती है जिसे मूल्यांकन कहते हैं। यदि परिवर्तित व्यवहार की स्थिति अपेक्षित व्यवहार परिवर्तनों के निकट होती है तो शिक्षण प्रक्रिया सन्तोषप्रद आँकी जाती है। चूँकि शतप्रतिशत छात्रों में शत-प्रतिशत वान्छित परिवर्तन लाना असम्भव होता है अत: व्यवहार परिवर्तनों के सन्दर्भ में न्यूनतम अधिगम स्तर (MLL) निर्धारित किया जाता है। यदि 80% छात्र 80% व्यवहार परिवर्तन दर्शाते हैं तो इसे मास्टरी लर्निंग की श्रेणी में रखते हैं। मूल्यांकन प्रक्रिया का अन्तिम और महत्वपूर्ण चरण पृष्ठपोषण (Feed Back) है। मूल्यांकन से शिक्षण के अप्राप्त विशिष्ट उद्देश्यों की स्थिति स्पष्ट होने के उपरान्त शिक्षण उद्देश्यों का पुन: निर्धारण किया जाता है। शिक्षण बिन्दुओं का चयन कर शिक्षण अधिगम प्रक्रिया का आयोजन किया जाता हैं। छात्रों की स्थिति को देखते हुए वैकल्पिक स्ट्रेटजीज अपनायी जाती हैं जिससे छात्रों को निर्धारित उद्देश्यों के समीप पहुँचाया जा सके। व्यवहार परिवर्तन की जानकारी हेतु मूल्यांकन किया जाता है। यह क्रिया चक्रिय रूप में तब तक अपनायी जाती है। जब तक निर्धारित उद्देश्य प्राप्त नहीं कर लिए जाते हैं।

नोट

2.10 प्रमुख मूल्यांकन प्रणालियाँ

शिक्षण प्रक्रिया की उपादेयता तथा उपयुक्तता के निर्धारण में मूल्यांकन महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। शैक्षिक उद्देश्य किस सीमा तक प्राप्त हो सके? उसकी गुणवत्ता के निर्धारण हेतु छात्रों की शैक्षिक प्रगति-सम्प्राप्ति को आधार बनाया जाता है। वर्तमान में छात्रों की शैक्षिक सम्प्राप्ति को जानने तथा उसकी व्याख्या करने के लिए कई मूल्यांकन प्रणालियाँ प्रचलित हैं।

वार्षिक तथा सेमेस्ट प्रणाली

वर्तमान में विद्यालयी तथा विश्वविद्यालयी स्तर पर छात्रों की शैक्षिक सम्प्राप्ति का मूल्यांकन सत्रान्त पर सम्पूर्ण पाठ्यक्रम को आधार मान कर किया जाता है जिसमें छात्र की परीक्षा अवधि में प्रदर्शित व्यवहार के आधार पर वर्ष भर के व्यवहार का आंकलन किया जाता है। इस प्रकार के मूल्यांकन में सम्पूर्ण पाठ्यक्रम का प्रतिनिधित्व नहीं हो पाता जिस कारण मूल्यांकन परिणाम प्राय: यथार्थ नहीं होते। यह मूल्यांकन छात्रों में नियमित अध्ययन को भी प्रोत्साहित नहीं कर पाता है जिससे परीक्षा निकट होने पर अति सक्रियता तथा चयनात्मक अध्ययन को बढ़ावा मिलता है। इसके विपरीत सेमेस्टर प्रणाली में सम्पूर्ण पाठ्यक्रम को छ:-छ: माह के कई खण्डों में बाँट दिया जाता है तथा एक खण्ड का अध्ययन पूर्ण होने पर उसकी शैक्षिक संप्राप्ति का आंकलन परीक्षा द्वारा कर लिया जाता है। इस प्रणाली में छात्र तथा अध्यापकों में नियमितता बनी रहती है तथा निर्धारित समयावधि में पाठ्यक्रम का विस्तृत अध्ययन सम्भव हो पाता है। साथ ही मूल्यांकन में पाठ्यक्रम के प्रत्येक

नोट

खण्ड का प्रतिनिधित्व भी पर्याप्त रहता है, जिससे चयनात्मक अध्ययन को हतोत्साहित किया जा सकता है। जिन पाठ्यक्रमों में छात्रों की संख्या अधिक होती है वहाँ व्यावहारिक कारणों से सेमेस्टर प्रणाली नहीं प्रयोग में है किन्तु कम संख्या वाले व्यावसायिक पाठ्यक्रमों में सेमेस्टर प्रणाली को सफलतापूर्वक प्रयोग किया जा रहा है।

आन्तरिक तथा वाह्य मूल्यांकन

जब मूल्यांकन का कार्य वे अध्यापक करते हैं जो छात्रों से वर्ष भर सम्पर्क में रहते हैं तब मूल्यांकन आन्तरिक कहलाता है जबकि यदि मूल्यांकन किसी ऐसे अध्यापक से कराया जाये जो छात्रों से तनिक भी सम्पर्क में न हो तब यह वाह्य मूल्यांकन कहलाता है। आन्तरिक मूल्यांकन में अध्यापक छात्रों की प्रगति, व्यवहार तथा व्यक्तित्व गुणों को भली प्रकार जानता है, अतः मूल्यांकन अपेक्षाकृत अधिक व्यापक तथा वैध रहता है, किन्तु अध्यापक की व्यक्तिगत पसन्द, पक्षपात, दुराग्रह प्रायः मूल्यांकन परिणामों को प्रभावित कर सकते हैं, जिससे मूल्यांकन दोषपूर्ण हो जाता है। वाह्य मूल्यांकन में छात्र के वैयक्तिक कारण, पृष्ठभूमि आदि परिणाम पर कोई प्रभाव नहीं डालते। यह मूल्यांकन मात्र शैक्षिक सम्प्राप्ति के उन्हीं अवयवों पर आधारित रहता है जिन्हें परीक्षा प्रश्नों में सम्मिलित किया गया है। व्यक्तित्व का समग्र मूल्यांकन करने में वाह्य मूल्यांकन प्रायः किल रहता है। किन्तु मूल्यांकनकर्ता की पसन्द या पक्षपात परिणाम को प्रभावित नहीं करते। अतः परिणाम विश्वसनीय होते हैं। दोनों की सीमाओं को देखते हुए अधिकतर संस्थानों में 20 प्रतिशत आन्तरिक तथा 80 प्रतिशत वाह्य मूल्यांकन को मान्यता दी जा रही है।

सपुस्तकीय परीक्षा प्रणाली

शिक्षा के परीक्षा केन्द्रित होने के कारण प्रमाण पत्रों तथा अंक पत्रों को प्राप्त करना शिक्षा का पर्याय मान लिया गया। परिणामस्वरूप परीक्षा में अनैतिक तथा अविधिक आचरण को बढ़ावा मिला। नकल की प्रवृत्ति दिनों दिन बढ़ती गयी जिससे परीक्षा अपने मूल उद्देश्य- छात्रों द्वारा अर्जित ज्ञान, बोध व कौशल के मापन से दूर होती चली गयी। सामूहिक नकल पर अंकुश लगाने के विकल्प के रूप सपुस्तकीय परीक्षा प्रणाली प्रादुर्भाव में आयी जो अनेक बाधाओं तथा कठिनाइयों के बावजूद नकल की समस्या पर अंकुश लगाने में उपयोगी सिद्ध हो सकती है।

खुली पुस्तक परीक्षा से तात्पर्य ऐसी परीक्षा से है जिसमें छात्रों के परीक्षा अवधि में पुस्तकें साथ रखने तथा उनके उपयोग की पूरी स्वतन्त्रता हो। पुस्तक से तात्पर्य पाठ्यपुस्तक अथवा सन्दर्भ पुस्तक है न कि गाइड बुक। खुली पुस्तक परीक्षा की मान्यता है कि छात्रों में ज्ञान संचय के परम्परागत संकुचित दृष्टिकोण को समाप्त कर बोध, चिन्तन, मनन, विश्लेषण, तर्क तथा उच्चस्तरीय मानसिक योग्यता का विकास शिक्षा का लक्ष्य हो। इससे छात्रों में रटने की प्रवृत्ति को हतोत्साहित किया जा सकता है और उच्चस्तरीय मौलिक चिन्तन की योग्यता को बढ़ावा मिल सकेगा। इस प्रयास से

छात्र किताबी ज्ञान से आगे बढ़कर सृजनात्मक चिन्तन कर सकेंगे। चूंकि खुली शिक्षा प्रणाली की शिक्षा के उद्देश्यों के सम्बन्ध में अलग दृष्टि है अतः इसमें पूछे जाने वाले प्रश्नों की प्रकृति भी परम्परागत परीक्षा से भिन्न निर्धारित की गयी है। परम्परागत परीक्षा के वर्णनात्मक तथा व्याख्यात्मक प्रश्नों के स्थान पर खुली परीक्षा प्रणाली में- बोध, कौशल, विश्लेषण, संश्लेषण, अनुप्रयोग तथा मौलिक चिन्तन की क्षमता को मापने का प्रयास किया जा सकता है। ऐसे प्रश्नों का सीधा उत्तर पुस्तकों में उपलब्ध न होगा बल्कि पुस्तकों में उपलब्ध तथ्यों के आधार पर नवीन संदर्भ में, नवीन

सम्भावनाओं की खोज तथा सृजन की क्षमता का प्रदर्शन करना होगा। इस परीक्षा में रटन्त स्मरण (Rote Memory) का महत्व समाप्त हो जायेगा और उच्च स्तरीय बौद्धिक क्षमता के विकास को बल मिलेगा। उच्च कक्षाओं में खुली परीक्षा प्रणाली को सार्थकता से प्रयुक्त किया जा सकता है जबकि छोटी कक्षाओं में इसके प्रयोग में व्यावहारिक कठिनाई आ सकती है।

नोट

अंकों की स्केलिंग तथा ग्रेडिंग

वर्तमान परीक्षा प्रणाली में छात्रों की प्रगति तथा उपलब्धि के आंकलन के लिये अंकों का प्रचलन बहुतायत से है जिसमें छात्रों को 0 से 100 तक 101 प्रकार के अंक प्रदान किये जा सकते हैं। इन अंकों को जोड़कर सम्पूर्ण प्राप्तांक के आधार पर प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय श्रेणी प्रदान की जाती है जो स्वत: में मनचाहा विभाजन है। अंकन की इस परम्परागत प्रणाली की आलोचना समय-समय पर की जाती रही है। 101 बिन्दु विभेदन में मानवीय त्रुटि आ जाना स्वाभाविक है। यह भी देखा गया कि एक प्रश्न के उत्तर को एक ही परीक्षक अलग-अलग अवसरों पर अलग अंक प्रदान करते हैं। साथ अंकन में 'J-प्रभाव' पास अंक पर अधिक आवृत्तियाँ सामान्य हो जाता है तथा 0 व 1 तथा 50 व 51 तथा 90-91 में अन्तर एक अंक का होने पर समान अर्थ नहीं प्राप्त कर पाता। साथ ही अंकों को जोड़ कर 60 प्रतिशत के ऊपर प्रथम, 45%-60% के मध्य द्वितीय, 33%-45% के मध्य तृतीय तथा 33% से कम प्राप्तांक पर अनुत्तीर्ण कर देने का निर्णय अतार्किक प्रतीत होता है। अलग-अलग विषयों में अंकों का फैलाव (Range) भी अलग-अलग होता है। अत: अंकों को जोड़ना भी तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता है। अत: यह 101 समूहों में त्रुटिपूर्ण ढंग से अंक देने के स्थान पर कुछ सीमित संख्या वाली गुणात्मक श्रेणी 5, 7 या 9 आदि में सफलतापूर्वक कोई भी परीक्षक अधिक विश्वसनीयता तथा वैधता से बाँट सकता है। छात्रों के उत्तरों की गुणवत्ता को (A-E), (0-4) बिन्दुओं में अंक या ग्रेड प्रदान करना ग्रेडिंग हैं। प्रत्येक ग्रेड के मध्य समान अन्तराल अन्तर्निहित है तथा हर ग्रेड का अपना ग्रेड बिन्दु होता है।

Five Point Grading System

Grade	A	B	C	D	E
Grade Point	4	3	2	1	0
Range	80% and above	80%-60%	60%-40%	40%-20%	20% and below
Meaning	Out Standing	Above Average	Average	Below Average	Worst

इसी प्रकार 7-बिन्दु तथा 11-बिन्दु ग्रेडिंग की जा सकती है। छात्रों को अंकों के स्थान पर ग्रेड प्रदान किये जाते हैं। ग्रेड से ग्रेड बिन्दु निकाल कर औसत ग्रेड अंक प्राप्त कर लेते हैं और अन्त में औसत ग्रेड अंक को पुन: ग्रेड में परिवर्तित कर के परिणाम घोषित कर दिया जाता है।

चूंकि विभिन्न परीक्षा संस्थाओं तथा विश्वविद्यालयों का अंकन स्तर भिन्न होता है। अत: परीक्षार्थियों की तुलना हेतु ग्रेडिंग प्रणाली को सरलतापूर्वक प्रयोग किया जा सकता है। ग्रेडिंग प्रणाली मूल्यांकन को अधिक विश्वसनीय बनाती है जिससे परीक्षा परिणामों की विश्वसनीयता बढ़ जाती है। विभिन्न विषयों में शैक्षिक उपलब्धियों की तुलना के लिए Common Scale तैयार किया जा सकता है।

नोट

प्राय: देखा जाता है कि विभिन्न विषयों में अलग-अलग प्राप्तांक फैलाव रहता है। साथ ही अलग-अलग परीक्षकों द्वारा प्रदान किये गये अंकों का फैलाव भी अलग-अलग रहता है। इस स्थिति में यदि किसी छात्र को 50 अंक अलग-अलग विषयों में प्राप्त हों तो उसकी योग्यता दोनों विषयों में समान नहीं होगी। साथ ही यदि इन अंकों को जोड़ दिया जाये और मेरिट निकाल ली जाये तो वह भी त्रुटिपूर्ण हो जायेगी। अलग-अलग परीक्षकों द्वारा जांची गयी उत्तर पुस्तिकाओं में तुलना करना भी त्रुटिपूर्ण हो जाता है क्योंकि अलग-अलग परीक्षक का स्कोरिंग रेन्ज अलग-अलग रहता है। ऐसी स्थिति में तुलनीयता हेतु यह आवश्यक हो जाता है कि भिन्न प्राप्तांक वितरणों को एक समान आभासी स्केल में परिवर्तित कर दिया जाये। अलग-अलग मध्यमान तथा मानक विचलनों वाले अंक वितरणों को किसी एक निश्चित मध्यमान तथा मानक विचलन वाले वितरण में परिवर्तित करने की क्रिया परिमापन (Scaling of Marks) कहलाती है। ऐसा करने पर अंकों की तुलना का अपेक्षाकृत यथार्थ आधार प्राप्त हो जाता है। साथ ही अंकों को जोड़ कर मेरिट निकालना भी तर्कसंगत प्रतीत होता है। परिमापन हेतु दो विधियों का प्रयोग किया जाता है।

I. रेखीय परिमापन (Linear Scaling)

II. सामान्यीकृत परिमापन (Normalized Scaling)

रेखीय परिमापन में विभिन्न परीक्षकों द्वारा प्रदान अंकों को रेखीय समीकरण द्वारा परिवर्तित करके एक आभासी वितरण तैयार कर लिया जाता है। इस परिवर्तन से प्राप्तांकों के वितरण की प्रकृति नहीं बदलती तथा छात्रों की अपने वितरण में सापेक्ष स्थिति भी अपरिवर्तित रहती है। रेखीय परिमापन में दो आधारों का प्रयोग किया जा सकता है। प्राप्तांकों का विस्तार समान करके तथा प्राप्तांकों के मध्यमान तथा मानक विचलन समान करके। विस्तार समान करने हेतु अधोलिखित समीकरण का प्रयोग करते हैं-

$$\text{परिमापीकृत प्राप्तांक } x' = \frac{H - L}{H_x - L_x}(x - L_x) + L$$

जहाँ– X = छात्र का मूल प्राप्तांक

X' = परिमापित प्राप्तांक

H_X = परीक्षक द्वारा प्रदत्त उच्चतम प्राप्तांक

L_X = परीक्षक द्वारा प्रदत्त निम्नतम प्राप्तांक

H = परिमापीकृत वितरण का उच्चतम प्राप्तांक

L = परिमापीकृत वितरण का निम्नतम

प्राप्तांक

जबकि अंकों के मध्यमान तथा मानक विचलन को समान करने हेतु निम्न समीकरण प्रयुक्त होती है-

$$\text{परिमापीकृत प्राप्तांक } x' = \left[\frac{x - M_x}{\sigma_x}\right]\sigma + M$$

जहाँ– X = छात्र का मूल प्राप्तांक

नोट

जहाँ– X = छात्र का मूल प्राप्तांक

X^1 = परिमापीकृत प्राप्तांक

M_X = मूल अंक वितरण का मध्यमान

σ_X = मूल अंक वितरण का मानक विचलन

M = परिमापित अंक वितरण का मध्यमान

σ = परिमापित अंक वितरण का मानक विचलन

सामान्यीकृत परिमापन में प्राप्तांकों को इस प्रकार परिवर्तित किया जाता है कि मध्यमान तथा मानक विचलन समान हो जाये तथा अंक वितरण प्रसामान्य वितरण का आकार प्राप्त कर ले। चूंकि रेखीय परिमापन में वितरण की प्रकृति अपरिवर्तित रहती है जिससे प्रसार अथवा मध्यमान और मानक विचलन समान होने पर भी वितरण में विषमता (Skewness) तथा वक्रता (Kurtosis) विद्यमान रहती है। ऐसी स्थिति में दो वितरणों की तुलना त्रुटिपूर्ण हो सकती है। अत: रेखीय परिमापन की तुलना में प्रमापीकृत मापन प्रयोग किया जाता है।

परिमापित प्राप्तांक $x' = M + \sigma Z$

जहाँ– X' = किसी प्राप्तांक X का परिमापित प्राप्तांक

Z = X के प्रतिशतीय क्रमांक के सापेक्ष Z प्राप्तांक

M = परिवर्तित प्राप्तांकों का मध्यमान

σ = परिवर्तित प्राप्तांकों का मानक विचलन

सामान्यीकृत परिमापन में किसी परीक्षक के द्वारा प्राप्त अंकों को किसी भी निश्चित मध्यमान तथा मानक विचलन पर परिवर्तित करने के साथ-साथ प्राप्तांकों का वितरण सामान्य प्रायिकता वक्र (NPC) का आकार भी ग्रहण कर लेता है। ये प्राप्तांक तुलना का अपेक्षाकृत ठोस आधार प्रदान करते हैं।

ऑनलाइन तथा माँग परीक्षा

परीक्षा प्रणाली को भयमुक्त, सुधारात्मक तथा स्वत:स्फूर्त प्रक्रिया के रूप में विकसित करने के उद्देश्य से राष्ट्रीय मुक्त विद्यालय ने एक अनोखी किन्तु उपयोगी- मांग पर परीक्षा (Examination On Demand) प्रारम्भ की। इसमें छात्र स्वत: यह मांग अनुभव करते हैं कि उन्हें कब, किस विषय की तथा कितनी बार परीक्षा देनी है? चूंकि छात्र स्वत: परीक्षा की मांग करते हैं अत: इस परीक्षा को (Examination On Demand) मांग पर परीक्षा कहते हैं। प्रत्येक छात्र को एक रोल नं. आवंटित किया जाता है वह कम्प्यूटर पर अपना रोल नं. तथा विषय और कक्षा अंकित करता है। तत्पश्चात् उसके सम्मुख प्रश्नपत्र आ जाता है। यह प्रश्नपत्र प्रश्न बैंक से यादृच्छिक रूप से छँटा हुआ होता है जिससे छात्रों को प्रत्येक अवसर पर अलग प्रश्नसमूह मिलते हैं जो आपस में समरूप होते हैं। चूँकि प्रश्नों की संख्या अधिक होती है अत: सम्पूर्ण पाठ्यक्रम का मूल्यांकन किया जाता है। साथ ही नकल और अनुमान (Guess) करने की सम्भावना भी कम हो जाती है। छात्र के उत्तर का मूल्यांकन भी त्वरित होता है तथा माडल उत्तर भी दिखाया जाता है जिससे छात्रों में मूल्यांकन के प्रति विश्वास हो जाता है तथा उनकी कमजोरियों का भी पता चल जाता है जिसे दूर कर छात्र पुन: परीक्षा देने हेतु तैयार हो सकता है। यह परीक्षा छात्रों को अभिप्रेरित करने में, परीक्षा से डर कम करने में, अंकों

पर विश्वास करने में तथा सतत अधिगम प्रेरित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। इस परीक्षा से मूल्यांकन को पारदर्शी बनाने में तथा शिक्षण प्रक्रिया को उन्नत बनाने में परीक्षा के सार्थक उपयोग की सम्भावना बढ़ जाती है। आन लाइन परीक्षा प्राय: प्रतियोगितात्मक परीक्षाओं में नकल तथा प्रश्न पत्र आउट होने की सम्भावना को कम करने के लिए किया जाता है। परीक्षा कम्प्यूटर द्वारा इण्टरनेट की मदद से करायी जाती है। प्रश्नपत्र भी रैण्डम विधि से प्रश्नबैंक से छाँटकर प्रस्तुत किये जाते हैं तथा मूल्यांकन कम्प्यूटर द्वारा त्वरित करके छात्र की स्थिति स्पष्ट कर दी जाती है। यह विधि परीक्षा में पारदर्शिता तथा समाज में विश्वास जागृत करने में उपयोगी सिद्ध हो सकती है।

2.11 मूल्यांकन कार्यक्रम

मूल्यांकन एक सतत तथा व्यापक प्रक्रिया है जो शिक्षा के आरम्भ से प्रारम्भ होती है तथा शिक्षा की समाप्ति के उपरान्त भी लगातार चलती रहती है। शैक्षिक मापन एवं मूल्यांकन द्वारा छात्रों की शैक्षिक प्रगति को ठीक ढंग से जारी रखने का प्रयास किया जाता है। अत: मूल्यांकन कार्यक्रम का आयोजन इस प्रकार होना चाहिए जिससे छात्रों की शैक्षिक प्रगति का निरपेक्ष आकलन करके प्राप्त परिणामों के आधार पर विभिन्न क्षेत्रों हेतु पृष्ठ पोषण प्रदान कर शिक्षा प्रक्रिया की गुणवत्ता में वृद्धि की जा सके। किसी भी अच्छे तथा व्यापक मूल्यांकन कार्यक्रम में निम्नलिखित तीन अवयव होते हैं-

- संस्थागत मूल्यांकन (Institutional Evaluation)
- कक्षागत मूल्यांकन (Classroom Evaluation)
- पृष्ठपोषण (Feed Back)

संस्थागत मूल्यांकन शिक्षा के तात्कालिक एवं समग्र उद्देश्यों से सम्बन्धित रहता है। राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय मानदण्डों के सापेक्ष छात्रों की उपलब्धि का मूल्यांकन कर शिक्षण व निर्देशन हेतु आवश्यक सूचनाएं एकत्रित करने के उद्देश्य से संस्थागत मूल्यांकन आयोजित किया जाता है। इससे शिक्षण अधिगम प्रक्रिया को उन्नत करने में मदद मिलती है। संस्थागत मूल्यांकन सहभागिता आधारित होना चाहिए जिसमें छात्र, अध्यापक तथा अभिभावक सभी की सक्रिय भागीदारी सुनिश्चित होनी चाहिए। इसका आयोजन सुनियोजित तरीके से अनुभवी तथा प्रशिक्षित लोगों द्वारा किया जाना चाहिए। प्राप्त सूचनाओं का विश्लेषण तथा अनुप्रयोग विद्यालयी गतिविधियों को उन्नत करने हेतु किया जाना चाहिए तथा इसे विद्यालयी जीवन के एक अंग के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए।

कक्षागत मूल्यांकन शैक्षिक उद्देश्यों के संदर्भ में कक्षा-कक्षीय गति-विधियों की गुणवत्ता की पहचान तथा शिक्षण प्रक्रिया में सुधार से सम्बन्धित है। छात्रों की प्रगति का आंकलन सतत रूप से नियमित अन्तराल पर किया जाये। निष्पत्ति का मूल्यांकन मात्रात्मक तथा गुणात्मक रूप में शैक्षिक उद्देश्यों के परिप्रेक्ष्य में व्यापकतापूर्वक किया जाये। सतत मूल्यांकन को सुनिश्चित करने हेतु अध्यापकों को वार्षिक योजना, मासिक योजना तथा इकाई योजना का निर्माण करना होता है। योजनाओं की समाप्ति पर छात्रों की प्रगति जानना आवश्यक हो जाता है क्योंकि छात्रों की सफलता ही अन्तत: योजना की सफलता दर्शाती है। इकाई तथा मासिक योजना हेतु अध्यापक निर्मित परीक्षण, साक्षात्कार, आदि का प्रयोग किया जाता है जिससे अध्यापक को छात्रों के ज्ञान, अवबोध, अनुप्रयोग तथा कौशल क्षेत्र विकास की जानकारी प्राप्त हो पाती है। इसका उपयोग शिक्षण योजना में सुधार हेतु किया जा सकता है।

मूल्यांकन चाहे संस्थागत हो या कक्षागत, इसके द्वारा प्राप्त परिणामों का प्रयोग पृष्ठ पोषण (Feed Back) प्रदान करने हेतु सफलतापूर्वक किया जाता है। श्रेष्ठ एवं प्रभावशाली अधिगम के

लिए यह आवश्यक है कि अध्यापक को छात्रों की वास्तविक स्थिति की जानकारी समय-समय पर प्राप्त होती रहे जिससे छात्रों के कमजोरी के क्षेत्रों की जानकारी अध्यापक को मिल सके। अध्यापक उपचारात्मक कार्यक्रमों के आयोजन तथा अपनी इकाई योजना को उन्नत करने हेतु परीक्षा परिणामों का सार्थक उपयोग कर सकता। नियोजन-शिक्षण-मूल्यांकन-पृष्ठपोषण- पुनः नियोजन का यह चक्र शिक्षण जीवन में सतत चलता रहता है। चूँकि ज्ञान के क्षितिज में लगातार परिवर्तन हो रहा है, सूचना प्रौद्योगिकी की नवीन तकनीकें विकसित हो रही हैं, समाज की प्राथमिकताएं तथा स्वरूप परिवर्तित हो रहा है जिससे शिक्षा की मांग तथा अपेक्षाएं भी निरंतर परिवर्तित हो रही हैं। परिवर्तन के इस दौर में शिक्षा व्यवस्था विशेषकर कक्षाकक्षीय शिक्षण को सदैव सजग और परिवर्तनशील रहना होगा। इस कार्य में पृष्ठपोषण विशेष भूमिका निभाता है। यह छात्रों को अध्ययन हेतु उपयोगी निर्देशन प्रदान करने के साथ-साथ अभिप्रेरणा भी प्रदान करता है। अध्यापक तथा छात्र दोनों को अपनी योजना बनाने में, योजना संचालन में तथा योजना का मूल्यांकन करने में पृष्ठ पोषण का महत्व होता है। संरचनात्मक मूल्यांकन (Formative Evaluation) में पृष्ठपोषण की महत्वपूर्ण भूमिका रहती है।

नोट

मूल्यांकन कार्यक्रम को सहकारी, व्यावहारिक तथा व्यापक होना चाहिए जिसका एक निश्चित प्रारूप हो। किसी एक व्यापक उद्देश्यपरक मूल्यांकन कार्यक्रम हेतु आवश्यक है कि- सुस्पष्ट उद्देश्य निर्धारित हों, उपयुक्त मापन उपकरणों का चयन हो, समय पर उद्देश्य के अनुरूप उपकरणों का प्रशासन किया जाय, परिणामों का विश्लेषण तथा व्याख्या की जाये, परिणामों का अनुप्रयोग पृष्ठ पोषण तथा उपचारात्मक कार्यों हेतु सुनिश्चित किया जाये, उपयुक्त अभिलेख तैयार किया जायें। यह अनिवार्यतः सुनिश्चित हो कि मूल्यांकन कार्यक्रम विद्यालयी जीवन की अनिवार्य प्रक्रिया के रूप शिक्षण अधिगम के साथ सहज रूप से चलता रहे।

2.12 स्वतंत्रता की संकल्पना

व्यक्ति या कोई भी सजीव प्राणी जीवन में जो भी करता है या सोचता है उसमें अपनी इच्छा को ही प्रमुख मानता है। व्यक्ति अपनी इच्छा को किसी के अधीन नहीं रखना चाहता है और अपनी स्वतंत्र क्रियाओं में बाध उसकी मनोवृत्ति एवं उपलब्धि को प्रभावित करती है और मनुष्य की स्वतंत्रता उसकी मनोवृत्ति से सम्बंधित है और इसकी आवश्यकता एवं स्वरूप दर्शन के भी कौतुहल का विषय रहा है। शिक्षा में स्वतंत्रता एक मनोवृत्ति है। शिक्षा के क्षेत्र में इसकी क्या आवश्यकता है इसका ज्ञान आवश्यक है।

स्वतंत्रता साधारण अर्थ में किसी भी बन्धन से मुक्ति है। **डी.वी.** ने लिखा कि ''स्वतंत्रता किसी भी प्रकार के बन्धन से योग्यता का छुटकारा है।'' **अब्राहम लिंकन** के शब्द बड़े ही मार्मिक है ''दुनिया ने कभी स्वतंत्रता का सही अर्थ नहीं समझा। अमेरिकन लोगों के लिये तो इसका सही अर्थ समझना अधिक आवश्यक है।''

स्वतंत्रता हेतु अंग्रेजी में कई शब्द प्रयुक्त होते है- लिबर्टी, इन्डिपेन्डन्स एवं फ्रीडम। लिबर्टी शब्द का मूल शब्द लिबरा है, जिसका तात्पर्य 'तुला' है। तराजु वस्तु के भार का माप करता है, अतः लिबर्टी इसी अर्थ में अपने आचरण एवं व्यवहार को मापने वाला कहा जा सकता है। 'इण्डिपेन्डेन्स' शब्द का विलोम 'डिपेन्डन्स' होता है, जिसका अभिप्राय है पराश्रित या पराधीनता। अर्थात् जो कि अपने कार्य स्वयं न कर पाये और धीर-धीरे जब करने लगे तो यह डिपेन्डेन्स से इन्डिपेन्डेन्स हो गया। फ्रीडम में मूल शब्द है फ्री अर्थातृ स्वतंत्र, पर इस स्वतंत्रता में नियंत्रण है। स्वतंत्रता में मूल

नोट

शब्द 'तन्त्र' है। इसमें 'स्व' उपसर्ग तथा 'ता' प्रत्यय लगा हुआ है, इसका अभिप्राय है कि अपने नियमों व पिरनियमों में आबद्ध मुक्ति। स्वतंत्रता व्यक्ति के व्यकित्व के सम्पूर्ण एवं प्राकृतिक विकास हेतु अति आवश्यक है। स्वतंत्रता अर्थात बिना रोक-टोक अपनी शक्तियों का उचित उपयोग पर वह दूसरों की क्रियाओं में बाध न डाले। स्वतंत्रता का सही उपयोग के लिये बोधगम्यता एवं विचारशीलता अति आवश्यक है, अर्थात् विचारशीलता स्वतंत्रता की पहली सीढ़ी है।

स्वतंत्रता के दो यंत्र आत्मानुशासन एवं आत्मनियंत्रण कहे जाते हैं। शिक्षा में स्वतंत्रता की आवश्यकता क्या है, इस को हम निम्न बिन्दुओ के अन्तर्गत देख सकते हैं-

- स्वतंत्रता के द्वारा बालक के व्यक्तित्व का संतुलित एवं सर्वांगीण विकास होता है।
- स्वतंत्रता मानसिक विकारों को प्रकट कर मानसिक दृढ़ता एवं स्वास्थ्य प्राप्त करने में सहायक है।
- स्वतंत्रता वातावरण में सहज स्वाभाविक क्रियाओं को करने में बालक को आसानी होती है।
- स्वतंत्रता स्वभाविक परिस्थितियां उत्पन्न करनें में सहायक होता है, जिससे कि बालक का विकास प्राकृतिक वातावरण में हो सके।
- यह संवेगों को प्रकट करने व गलत संवेगों को रोकने का वातावरण प्रदान करता है।
- स्वतंत्रता बालक को आत्मनिर्णय लेने एवं आत्मप्रदर्शन करने का बल प्रदान करता है।
- यह कुण्ठित भावनाओं को प्रकट कर चरित्र को स्वच्छ बनाने में सहायक होता है।
- इसके कारण बच्चों में पराश्रितता की भावना समाप्त होती है और गलत कार्यो से ही कार्यो के लिये स्वयं निर्णय लेकर प्रवृत्त होते है।
- यह काफी सीमा तक विद्यालयीय सम्बंध शिक्षक छात्र, शिक्षक, शिक्षक एवं शिक्षा छात्र एवं प्रशासन को सकारात्मक मोड़ दे सकता है।

स्वतंत्रता कितनी और कौन सी दी जानी चाहिये यह एक यक्ष प्रश्न है, इसको आगे हम पढ़ेंगे।

2.13 विद्यार्थी एवं स्वतंत्रता

इस तथ्य पर भी विचार किये जाने की आवश्यकता है कि हम शिक्षा में विद्यार्थियों को कौन-कौन सी स्वतंत्रता विद्यार्थियों को दी जाने वाली स्वतंत्रता प्रदान कर सकते है।

1. भावनात्मक स्वतंत्रता
2. बोधत्मक स्वतंत्रता
3. वैचारिक स्वतंत्रता
4. मनोवैज्ञानिक स्वतंत्रता
5. धार्मिक स्वतंत्रता
6. शिक्षणा अधिगम से सम्बंधित स्वतंत्रता

- **भावात्मक स्वतंत्रता** – विद्यालयों में दी जाने वाली स्वतंत्रता के अन्तर्गत विद्यार्थियों की अपनी भावनाओं को साकारात्मक ढंग से प्रत्यक्ष करने की स्वतंत्रता आयेगी। भावनाओं का प्रदर्शन न होने से कुण्ठा का जन्म होता है और यह कुण्ठा बालक के अन्तर्मन में व्याप्त रहती है और उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व को प्रभावित करती है। इसके लिये शिक्षकों

को विद्यार्थियों को भावनाओं के प्रदर्शन हेतु उचित अवसर कक्षा के अन्दर व कक्षा के बाहर भी प्रदान करना होगा।

- **बोधेधत्मक स्वतंत्रता** – इस प्रकार की स्वतंत्रता के अन्तर्गत विद्यार्थियों को अपनी समझ शक्ति के अनुसार ग्रहण करने की क्षमता की स्वतंत्रता आयेगी। इसके लिये शिक्षकों को छात्रों को ऐसा वातावरण प्रदान करें कि विद्यार्थियों को अपनी समझ क्षमता के अनुसार ही शिक्षण सामग्री को बोध करें। इससे विद्यार्थियों में अधिगम की रुचि बनी रहेगी।
- **वैचारिक स्वतंत्रता** – विद्यालयी वातावरण में विद्यार्थियों को विद्यालयी क्रियाकलापों समस्याओं शिक्षण क्रियाकलाप व विभिन्न सामाजिक समस्याओं पर विचार प्रकट करने की स्वतंत्रता आती है। दरअसल बालकों में सामाजिक राजनैतिक, सांस्कृतिक व अन्तर्राष्ट्रीय जागरूकता का भाव पैदा होगा और विद्यार्थियों में विचारों को प्रदर्शित करने से व्यक्तित्व में खुलापन आयेगा ।
- **मनोवैज्ञानिक स्वतंत्रता** – मनोवैज्ञानिक स्वतंत्रता एक वृहद प्रत्यय है। मनोवैज्ञानिक तथ्यों का समावेश शिक्षा में नया आयाम है और इससे शिक्षा को बालकेन्द्रिता का दृष्टिकोण दिया। मनोवैज्ञानिक स्वतंत्रता के अन्तर्गत बच्चों को रुचि, अवधन स्तरानुसार अधिगम, शारीरिक विशेषतायें, मानसिक क्षमतायें, भावनात्मक विशिष्टायें एवं व्यक्गित क्षमताओं के अनुसार विद्यालय में अध्ययन अधिगम में भाग लेते हैं।
- **धार्मिक स्वतंत्रता** - लोकतान्त्रिक व्यवस्था एवं संवैधानिक प्रावधान के अन्तर्गत विद्यार्थियों को अपने धर्म को मानने व सम्मान करने की स्वतंत्रता विद्यालयों में दी जाती है, परन्तु इसके अन्तर्गत स्वतंत्रता की सीमा के साथ निजता भी है, क्योंकि यह अध्यान देना भी चाहिये कि विद्यार्थी अपने धार्मिक विचारों को अन्य पर न थोपें न ही शैक्षिक प्रशासन धर्म विशेष को अत्यधिक महत्व न देकर सर्वधर्म समभाव का मार्ग अपनाने और शिक्षक भी सभी धर्मों के अच्छी तथ्यों की शिक्षण में सम्मिलित करे।
- **शिक्षण एवं अधिगम संबंधी स्वतंत्रता**- इस प्रकार स्वतंत्रता के अन्तगर्त विद्यार्थी क्या पढ़ना चाहता है? कितना पढ़ना चाहता है? कौन सा विषय पढ़ना चाहता? जैसे तथ्यों में विद्यार्थियों को दी जाने वाली छूट आती है। इस प्रकार की स्वतंत्रता के लिये विचारशीलता एवं आत्मविश्वास की आवश्यकता होती है। यह स्वतंत्रता विद्यार्थियों को पूर्ण आत्मविश्वासी एवं आत्मनिर्भर बनने में सहायता करता है और यह स्वतंत्रता वर्तमान शिक्षा व्यवस्था के व्यावहारिक उद्देश्यों को प्राप्त करने में सहायक होंगे।

  स्वतंत्रता के साथ अध्यापक को बहुत सतर्क रहना पडता है कि स्वतंत्रता कहीं स्वछन्दता न बन जाये इसके लिये शिक्षक को स्वयं सतर्क रहना पड़ता है।
- वह अवस्था जिसमें अध्यापक अधिक सक्रिय रहकर बालकों के लिये सभी प्रकार की व्यवस्था करें जिसमें बौद्धिक, शरीरिक एवं भावात्मक व्यवस्था में लिखने-पढ़ने की सभी सुविधायें उपलब्ध करानी पड़ती है जिससे अध्यान भंग न हो, श्रव्य दृश्य साधनों का प्रयोग करके पाठ को रोचक एवं सरलता से बोधगम्य बनाया जाये। बालकों को रोचकता सरलता पूर्वक पढ़ाया जाये। विद्यार्थियों को तादात्म्य स्थापित करने एवं प्रश्नोंत्तर करने हेतु प्रेरित करना पड़ता है। विद्यार्थियों के भावनाओं को समझकर उनके अधिगम का वातावरण तैयार किया जाता है। तब कही जाकर स्वतंत्रता का सही प्रयोग व विद्यालय में अनुशासन स्थापन की समस्या का समाधन हो जाता है।

नोट

नोट

- दूसरी अवस्था में शिक्षक स्वतंत्रता को रखते हुये अनुशासन हीनता को दूर करने हेतु उपचार ढूढ़ते है और शिक्षक इसके लिये वस्तुस्थिति की जाँच करते हैं और फिर उसको दूर करने का प्रयास किया जाता है इसमें स्वतंत्रता की सीमा को निर्धारित करते हुये अनुशासन हीनता की पुनरावृत्ति को रोकने का कार्य किया जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि स्वतंत्रता के साथ अनुशासन भी विद्यालय की आवश्यक मनोवृत्ति है।

2.14 शिक्षा के निजीकरण का संवैधानिक स्त्रोत

शिक्षा के निजीकरण का मूल भारत के संविधान की कुछ धाराओं में विरोधभास के साथ निहित है। शिक्षा के संवैधानिक प्रावधानों पर विचार करना आवश्यक है।

1. **धारा 29 : अल्प संख्यकों के हितों का संरक्षण**–(1) भारत के राज्य क्षेत्र अथवा उसके किसी भाग के निवासी जिसकी अपनी विशेष लिपि, भाषा या संस्कृति है, उसे बनाये रखने का अधिकार होगा। (2) राज्य द्वारा पोषित अथवा राज्य निधि में सहायता पाने वाली किसी शिक्षा संस्था में प्रवेश से किसी भी नागरिक को केवल धर्म, मूलवंश, जाति, भाषा अथवा इनमें किसी आधार पर वंचित न रखा जायेगा।
2. **धारा 30 : शिक्षा संस्थाओं की स्थापना और प्रशासन करने का अल्पसंख्यकों का अधिकार**–(1) धर्म या भाषा पर आधरित सभी अल्पसंख्यक वर्गों की अपनी रुचि की संस्थाओं की स्थापना और प्रशासन का अधिकार होगा। (2) शिक्षा संस्थाओं को सहायता देने में राज्य किसी विद्यालय के विरुद्ध इस आधार पर विभेद नहीं करेगा कि वह धर्म या भाषा पर आधरित किसी अल्पसंख्यक वर्ग के प्रबन्ध में है।
3. **धारा 45 : बालकों के लिये नि:शुल्क और अनिवार्य शिक्षा का उपबन्ध**–राज्य इस संविधान के प्रारंभ के दस वर्ष की कालावधि के भीतर सभी बालकों के चौदह वर्ष की अवस्था समाप्ति तक नि:शुल्क और अनिवार्य शिक्षा उपलब्ध कराने का प्रयास करेगा।
4. **धारा 46 : अनुसूचित जातियों, आदिम जातियों तथा दुर्बल विभागों के शिक्षा और अर्थ सम्बन्धी हितों की उन्नति**–राज्य जनता के दुर्बलतम विभागों के विशेषतया अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित आदिम जातियों के शिक्षा तथा अर्थ सम्बन्धी हितों की विशेष सावधनी से उन्नति करेगा तथा सामाजिक अन्याय तथा सभी प्रकार के शोषण से उनका संरक्षण करेगा।

कोठारी कमीशन ने शिक्षा के लक्ष्यों का निर्धरण राष्ट्र के विकास के संदर्भ में इस प्रकार किया–

1. खाद्य सामग्री में आत्मनिर्भरता;
2. आर्थिक विकास और रोजगार;
3. सामाजिक और राष्ट्रीय एकता;
4. राजनीतिक विकास;
5. मानव सम्बन्धों एवं स्त्रोतों का विकास।

उपरोक्त लक्ष्यों की पूर्ति के लिये आयोग ने कहा–"शिक्षा में सबसे महत्वपूर्ण और आवश्यक सुधार यह है कि इसको परिवर्तित करके व्यक्तियों के जीवन, आवश्यकताओं और आकांक्षाओं से इसका सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया जाये और इस प्रकार इसे सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिवर्तन का शक्तिशाली साधन बनाया जा सकता है।"

राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1967 में कहा गया–"शिक्षा को लोगों के जीवन के अधिक निकट लाने के लिए लगातार प्रयत्न, विज्ञान और शिल्प विज्ञान के विकास पर विशेष बल तथा नैतिक और सामान्य मूल्यों का निर्माण करना होगा।"

नोट

इस कार्य के लिये प्रादेशिक असंतुलन को दूर करना, शुल्कयुक्ति का आनुपातिक आधार तय करना, सामाजिक न्याय की प्रतिष्ठा करना आवश्यक है। तकनीकी तथा व्यावसायिक शिक्षाओं का उपयुक्त विभाजन होना चाहिए। यथा–कृषि, उद्योग, व्यापार, शिल्प, अनुरुचिकीय प्रशिक्षण आदि।

1979 की शिक्षा नीति में कहा गया है–"माध्यमिक स्तर को आधार बिन्दु तभी माना जा सकता है जबकि वह व्यवसायिक कौशल को विकसित कर सके। इसलिये इस स्तर पर शिक्षा का व्यवसायीकरण होना आवश्यक है, जिससे छात्रों को भविष्य निर्माण करने में सहायता मिल सके। अनौपचारिक तरीकों से अनेक व्यवसायिक क्षेत्रों में प्रमाणपत्र तथा डिप्लोमा पाठ्यक्रम चलाये गये हैं, इनका स्वरूप ऐसा हो कि छात्रों को भविष्य में अपने व्यवसाय में प्रगति करने के अवसर मिल सकें। माध्यमिक स्तर पर इसीलिए पाठ्यक्रम में विभिन्नता (Diversification) की आवश्यकता अनुभव की गई है। इससे ग्रामीण क्षेत्रों में विकेन्द्रीकरण को बढ़ावा मिलेगा। ग्रामीण औद्योगीकरण में गति आयेगी। स्व-रोजगार के अवसर भी इसमें प्राप्त होंगे। समस्त बाजार, उद्योग केन्द्र तथा अन्य संस्थाओं का सहयोग भी इसके लिए आवश्यक है। समुदाय तथा विद्यालय के पारस्परिक सम्बन्धों का विकास भी आवश्यक है। शिक्षा के व्यवसायीकरण में डिग्री प्राप्त करने का मोह भी समाप्त होगा। कौशल के आधार पर ही काम मिलेगा।"

1986 की राष्ट्रीय शिक्षा नीति में शिक्षा के निजीकरण की समस्या को शिक्षा के व्यवसायीकरण के संदर्भ में इन आधारों पर समझा जा सकता है।

1. कुशल जनशक्ति की मांग और पूर्ति में संतुलन बनाये रखना।
2. समेकित व्यवसायिक शिक्षा को उत्तम बनाने के लिये औद्योगिक प्रशिक्षण संस्थाओं का विकास व्यवसाय प्रतिमान के आधार पर करना।
3. व्यवसायिक शिक्षा द्वारा मनोवृत्ति, ज्ञान, कौशल, उद्यम एवं स्व-रोजगार की भावना विकसित करना।
4. व्यवसायिक पाठ्यक्रमों के संस्थान की स्थापना का दायित्व, सरकार तथा नियोजन, दोनों का ही सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्र में है।
5. व्यावसायिक, पाठ्यक्रमों के स्नातकों को सम्पर्क पाठ्यक्रमों द्वारा व्यवसायिक विकास के अवसर देना।
6. आंशिक रूप से बेरोजगारों के लिये विकास के अवसर होंगे।
7. वैकल्पिक पाठ्यक्रमों का विकास सामान्य शिक्षा प्राप्त व्यक्तियों के लिये है।

निजीकरण और शिक्षा

शिक्षा का निजीकरण तथा शिक्षा का व्यवसायीकरण दो अलग-अलग धारणायें हैं। शिक्षा के व्यवसायीकरण से अभिप्राय व्यवसाय तथा रोजगार के अधिकतम अवसर प्रदान करने के लिए विभिन्न व्यवसायों तथा उद्योगों से संबंधित पाठ्यक्रमों में छात्रों का प्रवेश देना है। इससे छात्र, शास्त्रीय, पाठ्यक्रमों के बजाय उन पाठ्यक्रमों में प्रवेश लेते हैं जो उन्हें आजीविका के अवसर देते हैं। बढ़ती जनसंख्या ने

नौकरियों के अवसर बहुत कम कर दिये हैं। इसलिये बढ़ती बेकारी को रोकने के लिए स्व-रोजगार के अवसरों में वृद्धि करना आवश्यक हो गया है।

नोट

निजीकरण की धारणा के पीछे जो भावना है, वह है–कुछ सम्पन्न तथा मुनाफाखोर व्यक्तियों का शिक्षा के क्षेत्र में धनोपार्जन करना। पहले शिक्षा संस्थाओं की स्थापना धनी व्यक्तियों द्वारा धर्मार्थ कार्य समझ कर की जाती थी; विद्या-दान की भावना उसके पीछे थी। कुछ समाजसेवी भी संस्थाओं की स्थापना कर जनसहयोग से शिक्षण संस्थाओं का परिचालन करती थीं। धार्मिक संस्थायें; यथा, आर्य समाज, धर्म समाज, ब्रह्म समाज, देव समाज, सनातन धर्म, इस्लाम, पारसी, जैन, सिक्ख समुदाय भी जन-कल्याण हेतु शिक्षण संस्थाओं की स्थापना कर शिक्षा प्रसार का कार्य करते थे।

आज स्थिति बदल गई है। सरकारों ने शिक्षा के दायित्व का निर्वाह करने में असमर्थता प्रकट की है। यहाँ तक कि अर्द्ध शिक्षा नीति में निजी उपक्रम को शिक्षा के काम में सहयोग देने का आमंत्रण दिया जाने लगा है।

उद्यमियों ने भी बड़ी-बड़ी फैक्ट्रियाँ लगाने के बजाय बड़े-बड़े पांच सितारा स्कूलों की स्थापना पर ध्यान देना शुरू किया। अनिवासी भारतीयों की देश तथा संस्कृति के प्रति आस्था ने डालर तथा पौण्ड कमाने का रास्ता दिखाया। फलतः अंग्रेजी माध्यम के आवासीय विद्यालयों की संख्या में वृद्धि होने लगी। कुछ व्यवसायिक तथा वृत्तिक शिक्षा के संस्थान भी खुले, बड़ी-बड़ी कंपनियों ने भी प्रबन्धक विज्ञान तथा उसकी शाखाओं में पाठ्यक्रम आरंभ किये। आल इण्डिया कौंसिल फार टेक्नीकल एजुकेशन द्वारा निरन्तर मान्यता देने से शिक्षा के इस उद्योग को बढ़ावा मिलने लगा। कम्प्यूटर्स के विभिन्न पाठ्यक्रमों का संचालन भी ऐसी ही कम्पनियों द्वारा हो रहा है। इन्जीनियरिंग टेक्नोलोजी के क्षेत्र में भी निजी व्यक्तियों ने संस्थानों की स्थापना की है। शिक्षक शिक्षा के क्षेत्र में राष्ट्रीय अध्यापक शिक्षा परिषद ने जिस उदारता के साथ बी.एड. पाठ्यक्रमों के लिये निजी संस्थाओं को वित्त विहीन मान्यतायें प्रदान की हैं, वह स्पष्ट देखी जा सकती है।

विद्यालयी शिक्षा के क्षेत्र में केन्द्रीय माध्यमिक शिक्षा परिषद तथा इण्डियन कौंसिल फॉर सेकेण्ड्री ऐजुकेशन ने भी वित्त विहीन मान्यता देकर निजी क्षेत्र में विकास किया है।

कोठारी कमीशन और विश्वविद्यालय शिक्षा

विश्वविद्यालयों का महत्व प्राचीनकाल से ही रहा है। नालन्दा, तक्षशिला, उज्जैन जैसी विद्यापीठ इतिहास प्रसिद्ध रही हैं। विश्वविद्यालयों का कार्य जीवन के हर क्षेत्र में नेतृत्व प्रदान करना तथा मानव की मानसिक शक्तियों का विकास करने में योगदान देना रहा है। भारतीय विश्वविद्यालय का योगदान इस क्षेत्र में मुख्य रहा है। आयोग के अनुसार विश्वविद्यालयों के प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं–

(1) विश्वविद्यालयों को राष्ट्रीय चेतना के संदर्भ में ज्ञान देना चाहिए, इसलिये उन्हें वैयक्तिक भिन्नता तथा शालीनता को सहनशीलता की सीमा में विकसित करना चाहिये।

(2) प्रौढ़ शिक्षा के कार्यक्रम को विस्तृत क्षेत्र में प्रसारित करना।

(3) गुणात्मक आत्मविकास के लिये विद्यालयों को सहायता देना।

(4) शिक्षण एवं अनुसंधान के स्तर को ऊँचा करना।

(5) विश्वविद्यालयों को विश्व के अन्य भागों में केन्द्रों की स्थापना करनी चाहिए जिससे भारत संसार में अपना स्थान बना सके।

उपरोक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिये निम्नलिखित कार्यक्रमों को प्राथमिकता देनी चाहिए–

(1) उच्च शिक्षा एवं अनुसंधान के स्तर एवं गुण को ऊँचा उठाने के लिए क्रान्तिकारी प्रयत्न करना।

(2) राष्ट्रीय विकास के लिये जनशक्ति (Man-power) की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उच्च शिक्षा का प्रसार करना।

(3) विश्वविद्यालय के संगठन एवं प्रशासन में सुधार करना।

नोट

कोठारी कमीशन ने इस कार्यक्रम के संचालन हेतु अपने सुझाव इस प्रकार दिये हैं–

(1) यू.जी.सी. को विद्यमान विश्वविद्यालयों में से 6 विश्वविद्यालयों को, जिनमें एक आई.आई. टी. एवं एक कृषि-विश्वविद्यालय भी हो, को मुख्य विश्वविद्यालयों के रूप में विकसित करने के लिए ले लेना चाहिए।

(2) प्रमुख विश्वविद्यालयों एवं कॉलेजों में उत्तम अध्यापक हो।

(3) सम्बद्ध कॉलेजों को स्तर के अनुसार वर्गीकृत करना चाहिए एवं सहायता देनी चाहिये। जहाँ एक या अच्छे स्तर के कॉलेज हों, वहाँ पर उन्हें स्वयं संचालित (Autonomous) स्तर दे देना चाहिए।

(4) कक्षा अध्यापन, कार्यशाला, प्रयोगशाला के कार्य के घण्टों का भार अध्यापकों पर किया जाये, बचा हुआ समय छात्रों के मार्ग-प्रदर्शन (Guidance), लेखन कार्य (Self-Study) आदि समस्याओं को हल करने एवं छोटी-छोटी अनुसन्धान योजनाओं (Research Project) में लगाना चाहिए।

(5) स्नातक कक्षाओं में शिक्षण का माध्यम क्षेत्रीय भाषायें हों जबकि पोस्टग्रेजुएट स्तर पर अंग्रेजी हो सकती है।

(6) विद्यार्थी-सेवा शिक्षा के अभिन्न अंग के रूप में संगठित हो। नये विद्यार्थियों की स्वास्थ्य सेवा, निवास-व्यवस्था, मार्ग-प्रदर्शन एवं परामर्श जिसमें व्यवसाय दिलाना भी है, छात्र-कल्याण एवं सहायता आदि के कार्य किये जायें।

(7) हर विश्वविद्यालय को यह निर्णय लेना चाहिए कि उसका छात्र संघ किस प्रकार कार्य करे। इसमें प्रयोग हो। यू.जी.सी. छात्र प्रतिनिधियों के वार्षिक सम्मेलन के आयोजन की व्यवस्था होनी चाहिए।

(8) शिक्षा इस योग्य हो कि उसमें युवक-युवतियाँ सभ्य व्यवहार एवं विशिष्ट मूल्यों का अर्जन करें। विश्वविद्यालय का जीवन एक हो और अध्यापक, विद्यार्थी एवं प्रशासन के व्यक्तियों में मतभेद न हो।

प्रवेश एवं कार्यक्रम

उच्च शिक्षा के प्रसार में राष्ट्र की आवश्यकताओं का ध्यान अवश्य रखना चाहिए। 1985-86 तक उच्च शिक्षा में प्रवेश बढ़ता ही जायेगा। अत: व्यावसायिक पाठ्यक्रमों का प्रसार होना चाहिये। शिक्षा आयोग का विचार है कि–

1. प्रवेश के लिये सेलेक्शन पद्धति अपनाई जाये। इसके तीन आधार इस प्रकार हो सकते हैं–

(अ) संस्थाओं में अध्यापक एवं सुविधाओं के अनुसार प्रवेश दिया जाये जिससे स्तर बना रहे।

नोट

(आ) वे विश्वविद्यालय द्वारा निर्धारित मान्यताओं के अनुसार योग्य हों।

(इ) संस्थाओं द्वारा सर्वोत्तम विद्यार्थियों को अध्ययन के लिये चुना जाना चाहिए।

2. विज्ञान तथा प्राथमिक शिक्षा की अंशकालीन (सायंकालीन कॉलेज, डाक द्वारा शिक्षा) व्यवस्था करना। 1986 तक एक-तिहाई उच्च शिक्षा अंशकालीन पद्धति से दी जाये।
3. स्नातकोत्तर-शिक्षा एवं अनुसन्धान की व्यवस्था विश्वविद्यालयों में एवं विश्वविद्यालय के केन्द्रों पर हो।
4. वर्तमान में छात्राओं का अनुपात 1 : 4 है। 1 : 3 हो जाये। मितव्ययी छात्रावास व्यवस्था एवं छात्रवृत्ति कार्यक्रम लागू किये जायें।
5. नये विश्वविद्यालय वहाँ खोले जायें, जहाँ उनकी आवश्यकता है। इसके लिये यू.जी.सी. से अनुमति प्राप्त की जाये।
6. विश्वविद्यालय सहयोग के आधार पर अपने कार्यक्रम चलायें।
7. समाज-विज्ञानों को अधिक महत्व दिया जाये।
8. विषयों के स्रोत (Combination) में अधिक लोच होनी चाहिए।
9. क्षेत्रीय अध्ययन (Area Studies) को कुछ विश्वविद्यालयों में आरम्भ किया जाये।
10. मानव विज्ञान को संगठित किया जाये।
11. शैक्षिक अनुसन्धान पर बल दिया जाये। NCERT में शैक्षिक अनुसन्धान हेतु डॉकुमेन्टेशन सेन्टर तथा क्लीयरिंग हाउस विकसित किये जायें। नेशनल ऐकेडेमी ऑफ एजुकेशन स्थापित हो। शिक्षा पर कुल व्यय बढ़ाया जाये।

विश्वविद्यालयों की सम्प्रभुता

विश्वविद्यालय अपने आप में स्वतन्त्र हों और उनके संगठन पर सरकारी नियन्त्रण हो अथवा न हो, यह प्रश्न अवश्य ही विचारणीय रहा है। आयोग ने अपने सुझाव इस प्रकार दिये हैं–

1. विश्वविद्यालयों में सम्प्रभुता विद्यार्थियों के चुनाव, अध्यापकों के चुनाव व प्रगति, पाठ्यक्रम के निर्धारण, शिक्षण पद्धति एवं अनुसन्धान के क्षेत्रों के निर्धरण में निहित होती है। भारत में सम्प्रभुता की परम्परा शक्तिशाली है। फिर भी इसका उत्तरदायित्व सरकार, आई.यू.बी., यू.जी.सी. पर रहता है। अतः यू.जी.सी., यू.बी. एवं विश्वविद्यालयों के मध्य परामर्श के लिये एक तन्त्र का निर्माण किया जाये। यू.जी.सी., आई.यू.बी. विश्वविद्यालयों की सम्प्रभुता के बनाने में जनमत तैयार करें।
2. विश्वविद्यालयों को अपने विभागों एवं संकायों को भी पर्याप्त सम्प्रभुता देनी चाहिए।
3. छात्रों एवं अध्यापकों की संयुक्त समितियाँ होनी चाहिए। एकेडेमिक कौंसिलों तथा यूनिवर्सिटी-कोर्ट्स में छात्र प्रतिनिधि हो।
4. राज्य सरकारें विश्वविद्यालयों को यथाशक्ति आर्थिक सहायता दें और उनको प्रयोग में लाने के लिये नियम सरल हों। यू.जी.सी., विश्वविद्यालयों को विकासात्मक एवं रक्षात्मक (Maintanance) अनुदान दे। ब्लाक-ग्रांट प्रणाली लागू हो। विश्वविद्यालय सरकारी जनता के हस्तक्षेप से परे हों।

किसी कार्य को सुचारू रूप से तभी किया जा सकता है जबकि उसके लिये पर्याप्त धन व्यय किया जाये। धन के अभाव में उच्च शिक्षा के मानदण्ड गिरे हैं। अध्यापकों का वेतन, छात्र-कल्याण, पाठ्यक्रम एवं अन्य कार्यक्रमों के विकास आदि के लिये धन व्यय करना ही पड़ता है।

नोट

राधकृष्णन कमीशन ने विश्वविद्यालय की अर्थव्यवस्था को दृढ़ करने के लिये निम्नलिखित सुझाव दिये हैं–

(1) राज्य द्वारा उच्च शिक्षा की आर्थिक सहायता प्रदान करने के अपने उत्तरदायित्व को स्वीकार किया जाये।

(2) व्यक्तिगत कॉलेजों को भवन निर्माण तथा अन्य कार्यों के लिये सहायता दी जाये।

(3) इन्कम-टैक्स के कानूनों में सुधार किया जाये एवं शिक्षा में लगाया जाने वाला धन करमुक्त हो।

(4) सरकार द्वारा अतिरिक्त अनुदान दिया जाये।

(5) अनुदान देने के लिये 'अनुदान आयोग' की स्थापना की जाये।

आजकल शिक्षा मन्त्रालय ने उच्च शिक्षा के विकास के लिये 17.64 करोड़ रुपये की व्यवस्था की, जबकि पिछले वर्ष में यह राशि 14.32 करोड़ रुपया थी। आज, जबकि विश्वविद्यालयों की सम्प्रभुता सभी के समक्ष विद्यमान है, और वह तभी बनी रह सकती है जब विश्वविद्यालय अनुदान आयोग जैसी स्वायत्त संस्था का गठन हो गया है, और यह बिना रोक-टोक के विश्वविद्यालयों को अनुदान देती भी है, राज्यों के विश्वविद्यालयों को राज्य सरकारों से धन प्राप्त होता है। इसलिये राज्य सरकारों का दखल अपने क्षेत्र में स्थित विश्वविद्यालयों में रहता है।

कोठारी कमीशन ने विश्वविद्यालयों की अर्थव्यवस्था को सुचारू रूप प्रदान करने के लिये इस प्रकार सुझाव दिये हैं–

(1) राज्य सरकारें विश्वविद्यालयों के साथ इस प्रकार व्यवहार करें जिससे ये आवश्यक ध नराशि द्वारा आवश्यक कार्यों को कर सकें। यदि यू.जी.सी. से परामर्श कर लें तो यह भी उचित ही होगा।

(2) जब आर्थिक मामलों में सुरक्षा की आवश्यकता अनुभव हो एवं उचित मितव्ययिता की आवश्यकता हो तो इसके लिये आवश्यक है प्रगति तथा कुशलता को विकसित करने हेतु नियमों को सरल बनाया जाये। आयोग के अनुसार–"हम यह मानते हैं कि उच्च शिक्षा के मामले में खर्चे का विश्वसनीय प्राक्कलन और पूर्वानुमान लगाना और कठिन भी है।

इसके लिए हमें अनेक रूपों में विचार करना होगा।

1. केन्द्रीय विश्वविद्यालय अनुदान आयोग से धन प्राप्त करें।
2. राज्यों के विश्वविद्यालयों को अनुदान न दिये जाने पर धन की पूर्ति करनी चाहिये, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग कुछ योजनाओं में शत-प्रतिशत, कुछ में मैचिंग (Matching) अनुदान देता है। परन्तु राज्य सरकारों की मैचिंग ग्रान्ट समय पर नहीं मिल पाती।
3. राज्य सरकारें राज्य के विश्वविद्यालयों को इस प्रकार अनुदान देती हैं–
   (1) यू.जी.सी. छात्र प्रदत्त धन पर विकासात्मक कार्यों के लिए मैचिंग ग्रान्ट।
   (2) विश्वविद्यालय के विकास के लिए नॉन-प्लान (Non-plan) अनुदान।
   (3) स्वीकृत व्यय के लिये अनुदान।

नोट

4. आयोग ने अनुदान प्रथा में इस प्रकार सुधार करने की बात कही है–
   (1) राज्य सरकारें, विश्वविद्यालयों को आर्थिक सहायता प्रदान करें एवं उसे व्यय करने की स्वाधीनता भी दें।
   (2) विश्वविद्यालय अनुदान आयोग राज्य के विश्वविद्यालयों को विकास के लिए पर्याप्त सुविधायें प्रदान करें।
   (3) विश्वविद्यालय अनुदान आयोग पर राज्य सरकारें विकास व्यय को समान रूप से वहन करें।
   (4) विश्वविद्यालयों को समग्र रूप में ब्लाक अनुदान (Block Grant) दिया जाये।
   (5) विश्वविद्यालयों को सरकारी हस्तक्षेप तथा लेखा जाँच से मुक्त रखा जाये।

हाल ही के वर्षों में केन्द्र सरकार ने उच्च शिक्षा के विकास के लिये विशेष भूमिका निभाई है। परिणामतः शुल्क, प्रतिभूतियों तथा अन्य स्त्रोतों से प्राप्त होने वाली धनराशि में कमी हुई है। अतः यह आवश्यक हो गया है कि चन्दे, शुल्क तथा अन्य स्त्रोतों पर विस्तार से विचार किया जाये। आधुनिक शुल्क प्रणाली में अनुदान (Subsidy) निहित है और यह आर्थिक स्थिति का विचार किये बिना सभी को दी जाती है। इसके विपरीत, यदि शुल्क को बढ़ाया जाता है तो इससे निर्धन वर्ग के शिक्षा प्राप्त करने के अवसर समाप्त हो जायेंगे। इसका परिणाम छात्र-असंतोष के रूप में व्यक्त होगा। अच्छा यह होगा कि व्यावसायिक तथा स्नातकोत्तर स्तर पर शुल्क बढ़ाकर छात्रवृत्तियों की संख्या में वृद्धि कर दी जाये तथा विकास शुल्क वसूला जाये।

2.15 निजीकरण के लाभ-हानि और सुझाव

निजीकरण के लाभ

शिक्षा के निजीकरण से होने वाले लाभ–

(1) शिक्षा का प्रसार हो रहा है।
(2) जिन लोगों को प्रतियोगी परीक्षाओं में असफल होने के कारण प्रवेश नहीं मिल पाता, वे अधिक धन खर्च करके वांछित शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं।
(3) देश का धन सकारात्मक कार्यों में लग रहा है।
(4) बेरोजगारी किसी सीमा तक दूर हो रही है।
(5) शिक्षण संस्थाओं की स्थापना से संबंधित रोजगार, छात्रावास, कैंटीन सेवायें, स्टेशनर्स, प्रिन्टर्स तथा पब्लिशर्स को विकास के अवसर मिल रहे हैं।
(6) योग्य व्यक्तियों को अपनी प्रतिभा का विकास करने के अवसर प्राप्त होते हैं।

निजीकरण की हानियाँ

शिक्षा को उद्योग मान लेने से शिक्षा के प्रति सात्विक भाव समाप्त हो गया है। इसके निजीकरण से होने वाली हानियाँ हैं–

(1) शिक्षा, व्यापार हो गई है। उपभोक्ता तथा नियोजक दोनों इसी दृष्टि का विकास करते हैं।
(2) निजीकरण के कारण वे लोग शिक्षा से वंचित रह जाते हैं जो निर्धनता के कारण प्रतिभा होते हुए भी प्रवेश नहीं ले पाते।

(3) निजीकरण के कारण शिक्षा महंगी हो गई है। पूर्व प्राथमिक, प्राथमिक तथा माध्यमिक स्तर पर कम से कम हजार रुपया प्रतिमाह औसतन शैक्षिक व्यय प्रति व्यक्ति आता है, जो सामान्य वेतनभोगी व्यक्ति के लिये समस्या है।

(4) बड़े-बड़े उद्योगपतियों ने शिक्षा संस्थाओं को सहयोगी उद्योग के रूप में स्थापित किया है।

(5) शिक्षकों का शोषण होता है। उन्हें पूरा वेतन तथा शैक्षिक सुविधायें प्राप्त नहीं होतीं।

(6) अधिकतम संस्थाओं में योग्य शिक्षक मंडल नहीं होता।

(7) इन संस्थाओं में शैक्षिक साधनों तथा सुविधाओं का अभाव होता है।

(8) शैक्षिक तथा बौद्धिक विकास के अवसर कम हो रहे हैं।

(9) एकाधिकारी प्रबन्ध के कारण शिक्षकों में तनाव रहता है।

नोट

निजीकरण के लिए कुछ सुझाव

सरकारें निरन्तर बढ़ते बोझ की दुहाई देकर शिक्षा के दायित्व से मुंह मोड़ने के अवसरों को तलाश करती रहती हैं। यही कारण है कि हम अभी तक चौदह वर्ष तक आयु के बालकों के लिये अनिवार्य, नि:शुल्क एवं सार्वभौम शिक्षा के लक्ष्य की प्राप्ति नहीं कर पाये। ऐसी स्थिति में नि:सन्देह निजीकरण ही एक ऐसा सहारा है जो शिक्षा को सार्वजनिक बना सकता है। निजीकरण में मुनाफाखोरी तथा आर्थिक शोषण पर नियंत्रण रखने के साथ-साथ शैक्षिक स्तर के निर्माण तथा सर्वसुलभ बनाने के लिये इन सुझावों पर ध्यान देना आवश्यक है–

(1) निजीकरण में मुनाफाखोरी की प्रवृत्ति पर रोक लगाई जाये।

(2) शिक्षा का धर्मार्थ स्वरूप विकसित हो।

(3) मान्यता देते समय इस बात का ध्यान रखा जाये कि ऐसी संस्थाओं में प्रशासनिक योजना (Administration Scheme) बनाई जाये जिसमें सरकार, शिक्षा विभाग, समाज, छात्रों तथा अध्यापकों का प्रतिनिधित्व हो। इन प्रतिनिधियों के सशक्त अधिकार हों।

(4) शिक्षकों की सेवा शर्तों का संरक्षण सरकार द्वारा किया जाये।

(5) प्रयोगशाला, वर्कशाप, खेल के मैदान, पुस्तकालय, कम्प्यूटर, लैब तथा अन्य सुविधायें हों।

(6) शिक्षकों तथा अभिभावकों का आर्थिक शोषण न हो।

(7) निजीकरण द्वारा शिक्षा संस्थायें, संस्थाओं के रूप में चलाई जायें, न कि दुकानों के रूप में।

(8) संस्थायें स्थानीय आवश्यकताओं के अनुरूप पाठ्यक्रम तैयार करें।

(9) प्रजातांत्रिकता की भावना विकसित की जाये।

हमें विश्वास है कि यदि ये सुझाव अपनाये जायें तो निजीकरण शिक्षा के प्रसार में बाधक नहीं होगा।

2.16 शिक्षा का सार्वभौमीकरण: अवधारणा

सार्वभौमीकरण का अर्थ है, "किसी विशेष संस्कृति के सभी नागरिकों की संबद्ध अनुक्रियायें (Conditioned responses) जो विचार, स्वभाव तथा जीवन शैली को निबद्ध करती है।" इस दृष्टि से किसी भी राष्ट्र की प्रगति उसके शिक्षित नागरिकों पर निर्भर करती है। यदि देश में निरक्षरता है तो निश्चय ही राष्ट्र पर कतिपय शिक्षित एवं साधन सम्पन्न लोगों का अधिकार हो जायेगा। शिक्षा के

नोट

अभाव में अज्ञान का विकास होता है, विवेक कुंठित होता है, स्वार्थ पनपता है और आदमी बिकाऊ हो जाता है, मानव-मूल्यों का पतन होने के कारण, ऐसे लोग उत्पन्न हो जाते हैं जो तनिक से स्वार्थ के कारण पूरे देश को बेचने का साहस कर डालते हैं। इसीलिए मानव मूल्यों के विकास, नागरिक गुणों की उत्पत्ति एवं पढ़ने, लिखने तथा गिनने की शिक्षा के साथ-साथ प्रबुद्ध एवं विवेकशील मनुष्य का निर्माण करने के लिए सार्वभौम शिक्षा आवश्यक है।

1947 में भारत में 15% साक्षरता थी जिस देश में 85% निरक्षर हों, उसे प्रगति के पथ पर ले जाने के लिए शिक्षा ही सशक्त माध्यम थी, इसीलिए संविधान में 6-11 आयु वर्ग के सभी बालक-बालिकाओं की सार्वभौम रूप से नि:शुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था की गई, सार्वभौम शिक्षा का लक्ष्य 1960 ई. तक प्राप्त हो जाना चाहिये था किन्तु साधनों के अभाव, जनसंख्या वृद्धि, पिछड़े वर्गों, अनुसूचित जाति, जनजाति, पिछड़े, तथा राजनीतिक दांवपेंचों ने अभी तक इस लक्ष्य को प्राप्त नहीं होने दिया। देश के हर कोने से इस उद्देश्य की पूर्ति की मांग उठ रही है और आज तक इस मांग की पूर्ति नहीं हो पा रही है। इसीलिए आज सरकार इस लक्ष्य को पूरा करने के लिए बालक की शिक्षा को मौलिक अधिकार के रूप में स्थापित किया है।

विकासशील तथा अविकसित देशों के सामने संसाधनों की कमी, जनसंख्या वृद्धि एवं जनसंख्या की अधिकता तथा अधिकांश देशों की दीर्घकालीन औपनिवेशिकता के परिणामस्वरूप सभी के लिये शिक्षा उपलब्ध कराना अत्यन्त कठिन कार्य रहा है। विभिन्न देशों में मध्यम गति से चलाये गये कार्यक्रमों का परिणाम अत्यन्त अल्प रहा है। वर्तमान में भी यह देश साक्षरता का न्यूनतम लक्ष्य प्राप्त नहीं कर सके हैं। काम चलाऊ तथा अल्पकालीन सरकारों साक्षरता का कार्यक्रमों की अकर्मण्यता का परिणाम यह रहा है कि विश्व की लगभग एक तिहाई आबादी की पहुँच प्रिन्ट मीडिया तक नहीं हो पाई है।

सभी के लिये शिक्षा के लक्ष्य को पूरा करने के उपायों को खोजने तथा शिक्षा के लिये सामूहिक वचनबद्धता को दृढ़ करने के लिये विश्व के सर्वाधिक जनसंख्या वाले सभी देशों–भारत, ब्राजील, चीन, मेक्सिको, नाईजीरिया, पाकिस्तान, बांग्लादेश, इण्डोनेशिया तथा मिस्र का प्रथम राष्ट्रीय सम्मेलन भारत में सम्पन्न हुआ था। इन देशों की सांस्कृतिक, राजनीतिक एवं धार्मिक विभिन्नता होते हुए भी जनसंख्या एवं साक्षरता के सह-सम्बन्ध में समानता मिलती है। अत: यह देश साक्षरता के प्रश्न पर एक-दूसरे की समस्याओं, कार्यक्रमों एवं अनुभवों का लाभ उठा सकते हैं।

इन देशों ने साक्षरता के लिए स्कूली शिक्षा का प्रसार तथा अनौपचारिक शिक्षा, प्रौढ़ साक्षरता आदि कार्यक्रम चलाए हैं। भारत ने राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1986) के माध्यम से प्राथमिक शिक्षा, अनौपचारिक शिक्षा आदि के माध्यम से सभी को शिक्षा प्रदान करने का प्रयास किया तथा 1992 में प्राथमिक शिक्षा के सार्वभौमिकता, प्रौढ़ साक्षरता, लड़कियों तथा अन्य उपेक्षित वर्गों को बुनियादी शिक्षा देने के लिए कार्यक्रमों में व्यापक सुधार करके तेजी लाई गई।

इण्डोनेशिया ने साक्षरता के व्यापक प्रचार-प्रसार के लिए सामुदायिक भागीदारी के माध्यम से लक्ष्य प्राप्त करने का प्रयास किया है। मिस्र ने प्रौढ़ शिक्षा के कार्यक्रम में अत्यधिक सफलता प्राप्त की है। चीन जैसे सर्वाधिक जनसंख्या वाले देश ने भी साक्षरता के लिए अनेक कार्यक्रम प्रारम्भ किये हैं। पाकिस्तान में शिक्षा के लिए निजी और सरकारी क्षेत्र की भागीदारी में कार्यक्रम चलाए जा रहे हैं और महिला शिक्षा का अब तक उपेक्षित कार्यक्रम तेजी से आगे बढ़ाया जा रहा है। ब्राजील में साक्षरता अभियान सफल बनाने के लिए एक 10 वर्षीय राष्ट्रीय योजना चलाई जा रही है। इस

सम्मेलन में भाग लेने वाले नौ देशों की कुल जनसंख्या विश्व की आधी जनसंख्या से अधिक है तथा विश्व के सत्तर प्रतिशत निरक्षर इन देशों में रहते हैं।

'सभी के लिए शिक्षा' सम्मेलन में विशेष रूप में लड़के एवं लड़कियों के भेद को समाप्त करना, महिलाओं एवं लड़कियों को बेहतर शिक्षा की व्यवस्था करना, शिक्षा के प्रचार-प्रसार के लिए संसाधन जुटाना, मौलिक शिक्षा की उत्कृष्टता एवं गुणवत्ता को श्रेष्ठतर बनाने के लिए शैक्षिक सुधार करने तथा शिक्षा के साथ स्वास्थ्य, जनसंख्या एवं पर्यावरण आदि महत्वपूर्ण विषयों पर विचार-विमर्श हुआ। इससे पूर्व 'सबके लिए शिक्षा' पर एक विशेष सम्मेलन जोमतिएन, थाइलैण्ड में आयोजित किया गया था, जिसमें यह विचार किया गया था कि शिक्षा के व्यापक प्रचार-प्रसार के लिए किस प्रकार अधिक से अधिक संसाधन जुटाए जाएं?

नोट

मानव संसाधन विकास मंत्री ने तीन दिवसीय मंत्रिस्तरीय सम्मेलन के विचार-विमर्श का उल्लेख करते हुए बताया कि साक्षरता एवं शिक्षा प्रसार के क्षेत्र में लगातार आदान-प्रदान एवं विचार-विमर्श के बारे में सभी देश सहमत हैं। विशेषज्ञों का मत था कि यदि सबके लिए शिक्षा का लक्ष्य प्राप्त करना है तो सतत् प्रयत्नशील रहना पड़ेगा और महिलाओं एवं बालिकाओं की शिक्षा को सर्वोच्च प्राथमिकता प्रदान करनी होगी।

शिखर बैठक का उद्घाटन करते हुए डॉ. शर्मा ने कहा कि, "सबके लिए शिक्षा अभियान का उद्देश्य एक ऐसी सभ्यता का विकास करना है जो विज्ञान और प्रौद्योगिकी का उपयोग करती हो तथा मानवता, शांति और मित्रता की भावना को बढ़ाती हो।" उन्होंने लड़कियों तथा महिलाओं की शिक्षा पर विशेष ध्यान देने के लिए कहा जिससे उनकी क्षमताओं का पूरा लाभ उठाया जा सके। भारत के प्रधानमंत्री ने प्रारम्भिक स्वागत भाषण में कहा कि, "सभी देशों ने शिक्षा को अपने विकास कार्यक्रमों में प्राथमिकता दी है तथा वह लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए संसाधन जुटाने के उपाय खोज रहे हैं।" इण्डोनेशिया के राष्ट्रपति ने कहा कि, "विकासशील देश हर प्रकार की हीन भावना त्यागकर शिक्षा प्रसार में खुलकर आपसी सहयोग करें।" यूनेस्को के महानिदेशक ने कहा कि, "लड़कियों को शिक्षा उपलब्ध करना आज का सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथा तात्कालिक विषय है।" यूनीसेफ के कार्यकारी निदेशक ने प्राथमिक शिक्षा की प्रगति की प्रत्येक दो वर्ष बाद समीक्षा पर बल दिया। ब्राजील के शिक्षा तथा खेल मंत्री ने 10-वर्षीय राष्ट्रीय शिक्षा योजना का विवरण प्रस्तुत किया। नाइजीरिया के शिक्षा एवं युवा विकास मंत्री ने एक वक्तव्य में विचार व्यक्त किए कि पर्याप्त वित्तीय संसाधनों की कमी से अच्छी से अच्छी योजनाएं असफल हो जाती हैं। चीन के उप-प्रधानमंत्री ने कहा कि राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के विकास कार्यों को जारी रखते हुए हमें शिक्षा की कमी अनदेखी नहीं करनी चाहिए। उन्होंने कहा, "हमें विकास को दीर्घकालीन परिप्रेक्ष्य में देखना चाहिए तथा शिक्षा, विकास और शांति के उद्देश्य में संतुलन स्थापित करना चाहिए।" पाकिस्तान की शिक्षा एवं सामाजिक विकास प्रभारी ने कहा कि, "इस अभियान के लिए पाठ्यक्रम स्थानीय आवश्यकताओं के अनुरूप होगा तथा पूरा कार्यक्रम स्वयं समुदाय द्वारा चलाया जाना चाहिए।"

नई दिल्ली शिखर बैठक ने 18-सूत्रीय घोषणा-पत्र को स्वीकृति प्रदान की। इसमें स्वीकार किया गया कि जनसंख्या वृद्धि के बढ़ते दबाव ने शिक्षा प्रणाली पर अत्यधिक बोझ डाला है। सभी राष्ट्र सहमत थे कि राष्ट्रीय स्तर पर विकास, जीवन स्तर सुधार, अयोग्यता और जनसंख्या नियंत्रण तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सहिष्णुता, सद्भाव और शान्ति के लिए सभी को शिक्षा का लक्ष्य प्राप्त करना आवश्यक है।

नोट

घोषणा-पत्र में शताब्दी के अन्त तक इन सभी देशों ने सभी को शिक्षा उपलब्ध कराने का संकल्प व्यक्त किया है।

घोषणा-पत्र में कहा गया है कि, "शिक्षा सार्वभौम मानव मूल्यों के संवर्धन का सर्वाधिक प्रभावी माध्यम है तथा इसमें मानव संसाधनों की गुणवत्ता और सांस्कृतिक वैविध्य के लिए आदर का भाव भी विकसित किया जा सकता है।" शिक्षा पूरे समाज की जिम्मेदारी होनी चाहिए, जिसमें सरकारें परिवार, समुदाय तथा गैर-सरकारी एजेंसियाँ भी शामिल हैं।

इस शिखर सम्मेलन में भाग लेने वाले देशों द्वारा सन् 2000 तक सभी को शिक्षा प्रदान करने का लक्ष्य पूरा हुआ है या नहीं, यह तो सर्वविदित है। यूनेस्को तथा यू.एन.एफ.पी.ए. संस्थाओं को इसमें संदेह है। एक संवाददाता सम्मेलन में यू.एन.एफ.पी.ए. की कार्यकारी निदेशक ने कहा कि, "वह लक्ष्य प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है, लेकिन फिर भी प्रयास करना चाहिए।" यूनेस्को की ओर से मंत्रिस्तरीय बैठक में भी एक दस्तावेज में यह कहा गया कि शिखर सम्मेलन में भाग ले रहे देशों में से केवल छः देश 90 से 100 प्रतिशत तक स्कूल जाने की उम्र वाले लड़के-लड़कियों को स्कूल भेजने में समर्थ हो सकते हैं। शेष देश प्रयास करें तो 90 प्रतिशत तक यह लक्ष्य प्राप्त कर सकते हैं।

शिखर सम्मेलन के लक्ष्य महान हैं। इन लक्ष्यों को पूरी ईमानदारी से देखा तथा परखा जाना चाहिए। भारत के संदर्भ में तो यह दायित्व और भी बढ़ जाता है।

शिखर सम्मेलन के प्रस्ताव

नई दिल्ली में सबके लिए शिक्षा के बारे में आयोजित शिखर सम्मेलन में सबसे घनी आबादी वाले देशों–भारत, बांग्लादेश, पाकिस्तान, चीन, मिस्र, मेक्सिको, ब्राजील, इंडोनेशिया और नाइजीरिया ने ऐतिहासिक दिल्ली घोषणा पर हस्ताक्षर किए। इन नौ देशों के नेताओं ने जितनी जल्दी हो सके उससे पहले सभी के लिए शिक्षा की व्यवस्था करने का संकल्प किया और प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य बनाकर तथा बच्चों, युवाओं व वयस्कों के लिए शिक्षा के अवसर अपने-अपने देश के लोगों की शिक्षा प्राप्त करने की बुनियादी आवश्यकतायें पूरी करने के लिए अपनी वचनबद्धता दोहराई। दिल्ली घोषणा का पूरा आलेख इस प्रकार है–

1. हम विश्व के सबसे घनी आबादी वाले नौ देशों के नेतागण प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य बनाकर तथा बच्चों, युवाओं एवं वयस्कों के लिए शिक्षा प्राप्त करने की सुविधाओं का विस्तार करने अपने-अपने देश के सभी लोगों की शिक्षा प्राप्त करने की बुनियादी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये सबके लिए शिक्षा के विश्व सम्मेलन तथा बच्चों के बारे में विश्व शिखर सम्मेलन के निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति की दिशा में दृढ़ संकल्प एवं पूर्ण उत्साह के साथ प्रयास करने के प्रति अपनी वचनबद्धता को दोहराते हैं। हम अच्छी तरह जानते हैं कि विश्व की आधी से अधिक आबादी हमारे देशों में रहती है और हमारे प्रयासों की सफलता सबको शिक्षित बनाने के अन्तर्राष्ट्रीय लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है।
2. हम यह मानते हैं कि–
   (i) हमारे देशों की आकांक्षाओं तथा विकास सम्बन्धी लक्ष्यों को सभी लोगों के लिये शिक्षा की व्यवस्था से ही पूरा किया जा सकता है। शिक्षा प्राप्ति का यह अधिकार मानव अधिकारों की सार्वभौम घोषणा और हमारे देशों के संविधानों व कानूनों में भी शामिल है।

नोट

(ii) शिक्षा सार्वभौम मानव मूल्यों, मानव संसाधनों की गुणवत्ता तथा सांस्कृतिक विविधता के प्रति सम्मान की भावना है।

(iii) यद्यपि हमारे दशों में बड़ी संख्या में लोगों को शिक्षित बनाने की दिशा में शिक्षा प्रणालियों ने काफी प्रगति की है परन्तु हम अभी तक अपने सभी देशवासियों को स्तरीय शिक्षा देने में सफल नहीं हो पाए हैं जो इस बात की ओर संकेत है कि हमें औपचारिक प्रणालियों में तथा उससे बाहर रचनात्मक दृष्टिकोण विकसित करने की आवश्यकता है।

(iv) शिक्षा के विषय एवं विधियां ऐसी बनाई जानी चाहिये जिनमें व्यक्तियों एवं समाजों की बुनियादी आवश्यकतायें पूरी होती हों और वे टी.वी. उन्मूलन, उत्पादकता बढ़ाने, जीवन स्तर में सुधार लाने और पर्यावरण की रक्षा जैसी अपनी सबसे गम्भीर समस्याओं पर ध्यान देने और लोकतांत्रिक समाज की रचना एवं अपनी सांस्कृतिक धारोहर को समृद्ध बनाने में अपनी उचित भूमिका निभाने में सक्षम बन सकें।

(v) सफल शिक्षा कार्यक्रम चलाने के लिए परिवार एवं समाज की भूमिका के संदर्भ में समुचित पोषाहार, स्वास्थ्य रक्षा तथा बच्चों की उचित देखभाल और विकास के क्षेत्र में कार्य करना आवश्यक है।

(vi) लड़कियों तथा महिलाओं को शिक्षित करना तथा उन्हें सक्षम बनाना अपने आप में महत्वपूर्ण लक्ष्य होने के साथ-साथ सामाजिक विकास वर्तमान एवं भावी पीढ़ियों के कल्याण एवं शिक्षण और महिलाओं के लिए अपनी क्षमताओं के पूर्ण विकास के अवसरों के विस्तार को बढ़ावा देने के आधारभूत पहलू हैं।

(vii) बढ़ती हुई जनसंख्या के दबाव से शिक्षा प्रणालियों की क्षमताओं पर विपरीत प्रभाव पड़ा है तथा इनमें आवश्यक सुधार एवं संशोधन की प्रक्रिया में बाधा आई है। हमारे देश की आबादी में वर्तमान आयु अनुपात को देखते हुए आने वाले दशकों में भी यह बाधा रहेगी।

(viii) शिक्षा एक सामाजिक जिम्मेदारी है और होनी चाहिए जो सरकारी परिवारों, समुदायों तथा गैर-सरकारी संगठनों की सीमाओं से परे हैं। इसमें ऐसे विशाल मेलजोल में सभी की वचनबद्धता और भागीदारी की आवश्यकता है जिसमें भिन्न-भिन्न विचारों तथा राजनीतिक स्थितियों पर कोई ध्यान न दिया जाना हो।

3. हमारे देश के विकास में शिक्षा की महत्वपूर्ण भूमिका को पहचानते हुए हम संकल्प लेते हैं कि जितनी जल्दी हो सके–

(i) हम प्रत्येक बच्चे को उसकी सामर्थ्य के अनुसार किसी विद्यालय या शिक्षा कार्यक्रम में प्रवेश दिलाने की व्यवस्था करेंगे, ताकि कोई भी बालक किसी अध्यापक, पठन-पाठन सामग्री अथवा उचित स्थान के अभाव के कारण शिक्षा प्राप्त करने से वंचित न रहे। यह संकल्प हम बच्चे के अधिकार की उस संधि के अन्तर्गत व अपनी वचनबद्धता को पूर्ण करने के लिए करते हैं, जिसकी हमने पुष्टि की है।

(ii) सभी के लिए बुनियादी शिक्षा की एक समन्वित कार्यनीति के संदर्भ में हम बच्चों व बड़ों को बुनियादी शिक्षा उपलब्ध कराने एवं अपने साक्षरता तथा वयस्क शिक्षा

नोट

कार्यक्रमों का विस्तार करने की दिशा में सरकारी तथा गैर-सरकारी साधनों से अपने प्रयासों में और तेजी लाएंगे।

(iii) हम लिंग, आयु, उम्र, परिवार, संस्कृति, जाति व भाषा सम्बन्धी भिन्नताओं तथा भौगोलिक दृष्टियों के कारण बुनियादी शिक्षा तक पहुँच के मामले में विषमताओं को दूर करेंगे।

(iv) हम अध्यापकों के स्तर, प्रशिक्षण व कार्य स्थितियों में सुधार लाने, शिक्षण के विषयों और सामग्री को बेहतर बनाने तथा अपनी शिक्षा प्रणालियों में आवश्यक संशोधन करने के प्रयासों में और गति लाकर बुनियादी शिक्षा के कार्यक्रमों की गुणवत्ता एवं महत्ता में सुधार लाएंगे।

(v) हम अपने कार्यों में राष्ट्रीय तथा अन्य स्तरों पर मानव विकास को सर्वोच्च प्राथमिकता देंगे, ताकि राष्ट्रीय और सामुदायिक संसाधनों के प्रबन्ध को बेहतर बनाने पर खर्च किया जाए।

(vi) हम अपने समाजों के सभी वर्गों के लिए सबके लिए शिक्षा की दिशा में काम करने को प्रेरित करेंगे क्योंकि यहाँ हम इस घोषणा के साथ कार्य संरचना का भी अनुमोदन कर रहे हैं और हम संकल्प करते हैं कि हम राष्ट्रीय स्तर पर अपनी प्रगति की समीक्षा करेंगे तथा आपस में और विश्व के अन्य देशों के साथ अपने-अपने अनुभवों का आदान-प्रदान करेंगे।

4. इसलिए हम आह्वान करते हैं कि–

(i) अन्तर्राष्ट्रीय सहयोगकर्ता बुनियादी शिक्षा सुविधाओं के विस्तार एवं सुधार की अपनी राष्ट्रीय क्षमताओं में वृद्धि के हमारे प्रयत्नों के लिये अपने समर्थन को और बढ़ायें।

(ii) अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थान ढांचागत समायोजनों के संदर्भ में शिक्षा में निवेश पर पूर्व-निर्धारित सीमाएँ लगाए बिना शिक्षा को महत्वपूर्ण निवेश के रूप में मान्यता दे और ऐसा अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण बनाये जिससे सभी देश अपना सामाजिक-आर्थिक विकास करने में समर्थ बन सकें।

(iii) विश्व समुदाय सभी के लिए शिक्षा के लक्ष्य के प्रति हमारी वचनबद्धता की पुष्टि से पूरा साथ दे और तक या जितनी जल्दी हो सके उससे पहले उसे प्राप्त करने के प्रयासों में तेजी लाए।

2.17 सभी के लिए शिक्षा : भारतीय संदर्भ

हमारे स्वतन्त्रता-संग्राम के नेताओं ने देश की आजादी से काफी पहले राष्ट्रीय विकास के माध्यम के रूप में शिक्षा के महत्व को पहचान लिया था। वे यह जान चुके थे कि आर्थिक और सामाजिक उत्थान के लिये शिक्षा बहुत जरूरी है। लोगों, विशेष रूप से कमजोर वर्गों के लोगों के जीवन-स्तर में सुधार के लिए शिक्षा काफी कारगर साधन सिद्ध हो सकती है। महात्मा गाँधी भी शिक्षा को "चेतना के विकास और समाज के पुनर्निर्माण का बुनियादी हथियार" मानते थे। 1937 में उन्होंने बुनियादी तालीम का जो कार्यक्रम प्रस्तुत किया था, उसमें सभी बच्चों के लिए मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था करने की बात की गयी थी। इस कार्यक्रम में बच्चों के चहुँमुखी विकास पर विशेष जोर दिया गया था। इसके अलावा राष्ट्रीय दृष्टिकोण के विकास, ज्ञान के स्रोत के रूप में

अपने आस-पास के माहौल के इस्तेमाल, शिक्षा और कार्य के बीच तालमेल तथा सबसे बढ़कर पढ़ाने और सीखने के माध्यम के रूप में मातृभाषा का उपयोग जैसी बातें भी गांधीजी की बुनियादी तालीम की धारणा में शामिल थीं। पढ़ना-लिखना सीखने वालों की आवश्यकताओं के अनुरूप राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली विकसित करने की दिशा में पहला महत्वपूर्ण कदम था। इस कार्यक्रम में सामाजिक न्याय के साथ-साथ सबको उन्नति के समान अवसर उपलब्ध कराने की क्षमता थी।

नोट

1947 में देश की आजादी के समय प्रारम्भिक शिक्षा का स्तर बिल्कुल संतोषजनक नहीं था। अंग्रेजों द्वारा थोपी गयी शिक्षा प्रणाली कुछ खास लोगों के लिए थी, जिसने शिक्षित और निरक्षरों के बीच बहुत बड़ी खाई पैदा कर दी। आर्थिक असमानता, लड़के-लड़की के बीच भेदभाव और कठोर जाति भेद जैसे कारणों से शैक्षिक असमानता और भी गम्भीर रूप धारण करती जा रही थी।

1. **शिक्षा और संविधान**—हमारे संविधान निर्माताओं ने इस स्थिति के घातक परिणामों और इससे बचने की प्रबल आवश्यकता भली-भांति जान-समझ ली थी। इसीलिये तो उन्होंने संविधान में व्यवस्था की कि, "राज्य (यानी सरकार) इस संविधान के लागू होने के बाद के दस वर्षों की अवधि में सभी बच्चों को चौदह वर्ष की उम्र तक मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा उपलब्ध करायेगा।" इस लक्ष्य को प्राप्त करने की दिशा में बाद में किये गये प्रयासों का उद्देश्य सभी बच्चों, युवाओं और वयस्कों को प्राथमिक शिक्षा उपलब्ध कराना था। राष्ट्र के विकास के जो प्रयास किये गये, उनका उद्देश्य देश में सामाजिक-आर्थिक बदलाव लाना तथा एक ऐसी नयी सामाजिक व्यवस्था कायम करना था जो लोकतन्त्र, सामाजिक न्याय और धर्मनिरपेक्षता पर आधारित हो। यह महसूस किया गया कि प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम में आम आदमी की भागीदारी के बिना न्यायोचित और समतामूलक समाज की स्थापना करना सम्भव नहीं होगा। यह बात भी महसूस की गयी कि विकास कार्यक्रमों का सफल क्रियान्वयन जनता की सक्रिय भागीदारी पर निर्भर करेगा। आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए जनता को ज्ञान, कौशल, मूल्यों और नयी दृष्टि से सुसज्जित करना होगा।

   देश में 14 वर्ष की उम्र के सभी बच्चों को सन् 1960 तक प्राथमिक शिक्षा उपलब्ध कराने के बारे में जो संवैधानिक निर्देश जारी हुआ था, वह अभी तक पूरा नहीं हो पाया है। लेकिन इस अवधि में विभिन्न वर्गों की आकांक्षाओं और आवश्यकताओं की सही-सही पहचान कर ली गयी है। बुनियादी ढांचे सम्बन्धी सुविधाओं और विभिन्न सामाजिक वर्गों को इसके दायरे में लाने के कार्य में कई गुना बढ़ोत्तरी हुई है। 1951 से भारत की प्राथमिक शिक्षा प्रणाली में भारी बढ़ोत्तरी हुई है, यह दुनिया की सबसे बड़ी प्रणालियों में से एक हो गयी है।

2. **अधूरे कार्य**—प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में इस विस्तार के बावजूद सभी को प्राथमिक शिक्षा उपलब्ध कराने का लक्ष्य पूरा नहीं हो पाया है। जनसंख्या में वृद्धि और आर्थिक कठिनाइयों की वजह और संसाधनों और आवश्यकताओं का संतुलन गड़बड़ा गया है। ऐसे स्कूलों की संख्या बहुत ज्यादा है जिनकी कोई इमारत नहीं है और जिनके पास बच्चों को खेलने के मैदान भी नहीं है। अध्यापकों के ठीक से प्रशिक्षित न होने और उनमें अपने काम के प्रति लगन के अभाव, प्रबन्ध व्यवस्था में कमी तथा छात्रों को कोई प्रेरणा न देने वाले माहौल की वजह से स्कूली पढ़ाई पूरी न कर पाने वाले बच्चों की संख्या चिन्ताजनक रूप से बढ़ गयी है।

नोट

आज जिस बात की ज्यादा जरूरत है, वह यह है कि हम अपने शैक्षिक प्रयास के लिये आवश्यक संसाधनों की स्पष्ट रूपरेखा अपने मन में बना लें ताकि सभी बच्चों की पढ़ाई-लिखाई की आवश्यकताओं को पूरा किया जा सके। शिक्षा के प्रसार से कुछ ऐसी उलझनें भी उठ खड़ी हुई हैं जिन्हें दूर करना जरूरी हैं।

अध्यापकों के प्रशिक्षण और लगन की कमी के साथ-साथ काम के बोझ से चरमराती प्रबन्ध व्यवस्था और अनाकर्षक स्कूली माहौल के कारण शिक्षा प्रणाली में विस्तार के रूप में हुई पहल अधूरी रह गयी है। दूर-दराज के क्षेत्रों में अध्यापकों की कमी, स्कूलों में होने वाली अनियमितताएँ और स्कूली बच्चों के दायरे से बाहर हैं। इसके अलावा कुछ विशेष वर्गों की विशेष आवश्यकताएँ हैं। सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक कारणों से लड़कियों को पढ़ाई-लिखाई की बजाय घर-गृहस्थी के कामकाज में लगा दिया जाता है। कई बच्चों को कच्ची उम्र में ही अपनी रोजी-रोटी कमाने पर मजबूर होना पड़ता है। स्कूल की दूरी और भौगोलिक स्थिति की वजह से भी बच्चों को पढ़ाई-लिखाई के समान अवसर नहीं मिल पाते। दूर दराज के ग्रामीण, जनजातीय, रेगिस्तानी इलाकों के बच्चे भी स्कूल नहीं आ पाते। लड़कियों, विशेष रूप से ग्रामीण क्षेत्रों व कमजोर वर्गों में और बाल मजदूरों की प्राथमिक शिक्षा में भागीदारी सबसे अधिक चिन्ता का विषय है, प्राथमिक शिक्षा को सर्व-सुलभ बनाने में सबसे बड़ी बाधा इन्हीं को लेकर है। जो बच्चे प्राथमिक शिक्षा की सभी सीढ़ियाँ पार कर चुके होते हैं, वे भी पढ़ने-लिखने का निर्धारित स्तर प्राप्त नहीं कर पाते। अध्यापन का अनाकर्षक तरीका और भारी-भरकम पाठ्यक्रम को रटकर याद करने से बच्चों में वह अनिवार्य मौलिक क्षमता विकसित नहीं हो पाती जिससे वयस्क होने पर कौशल में सुधार हो सके।

3. **खाई कैसे पाटी जाए**–स्कूलों और उनके पाठ्यक्रम का जीवन के लिए उपयोगिता की दृष्टि से कोई महत्व न होने के कारण समाज प्राथमिक शिक्षा से दूर होता जा रहा है। वर्तमान शैक्षिक ढांचे और समाज की आवश्यकता तथा आकांक्षा के बीच के अन्तर ने प्राथमिक शिक्षा को बेअसर बना दिया है। जीवन स्तर को सुधारने और लोगों की आकांक्षाओं को पूरा करने में प्राथमिक शिक्षा की जो भूमिका होनी चाहिये, उसे निभाने में यह विफल रही है। प्राथमिक शिक्षा की नयी नीति में इस अन्तर को दूर करने पर विशेष बल दिया जाना चाहिये। इस समस्या का एक अन्य चिन्ताजनक पक्ष यह है कि 6 से 14 वर्ष की उम्र के बच्चे बहुत बड़ी संख्या में स्कूली शिक्षा से वंचित हैं। इनमें मजदूरी करने वाले बच्चे, घर-गृहस्थी के कामकाज या घरेलू व्यवसाय में मदद करने वाले बच्चे (विशेष रूप से लड़कियाँ) और ऐसे इलाकों के बच्चे शामिल हैं जो स्कूल की सुविधा के दायरे से बाहर हैं। इस समस्याग्रस्त वर्ग के लोगों की ओर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिये। यह बात सही है कि इनमें से सभी औपचारिक शिक्षा वाले स्कूलों में पढ़ने नहीं जा सकते, इसलिये उनके लिए वैकल्पिक व्यवस्था करना आवश्यक होगा। केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड ने 1974 में स्कूल जाने में असमर्थ बच्चों को अंशकालीन (पार्ट टाइम) शिक्षा के माध्यम से पढ़ना-लिखना सिखाने की आवश्यकता पर जोर दिया था। बोर्ड का कहना था कि सबको शिक्षा उपलब्ध कराने का लक्ष्य सिर्फ औपचारिक शिक्षा प्रणाली पर निर्भर रहकर पूरा नहीं किया जा सकता, क्योंकि यह प्रवेश का सिर्फ एक रास्ता है और इसका एक चरण दूसरे चरण से जुड़ा हुआ है। इसमें पढ़ाने वाले अध्यापक पूर्ण-कालिक

पेशेवर अध्यापक होते हैं। बोर्ड ने सिफारिश की थी वर्तमान प्रणाली में आमूल परिवर्तन किया जाये ताकि बच्चे किसी भी चरण में इसमें प्रवेश पा सकें। जो बच्चे किसी वजह से पूरे समय के लिए स्कूल जाने में असमर्थ हैं, उनके लिये अंशकालीन शिक्षा के लिए व्यापक कार्यक्रम चलाया जाना चाहिए। 'सबको प्राथमिक शिक्षा' के बारे में केन्द्र सरकार के शिक्षा मन्त्रालय ने 1978 में जो कार्यदल गठित किया था, उसने "या तो पूर्णकालिक शिक्षा, या फिर कोई शिक्षा नहीं" की नीति में बड़े परिवर्तन की सिफारिश की। कार्यदल ने जो नया आदर्श वाक्य सुझाया, उसके अनुसार 6 से 14 वर्ष तक की उम्र के हर बच्चे को जहाँ तक सम्भव हो पूर्णकालिक आधार पर और जरूरत पड़ने पर अंशकालीन आधार पर शिक्षा जारी रखनी चाहिए। लेकिन अंशकालीन शिक्षा प्रणाली में न्यूनतम जानकारी के स्तर-साक्षरता, गणितीय क्षमता तथा सामाजिक और नागरिक उत्तरदायित्वों के बारे में जागरूकता में कोई कमी नहीं आनी चाहिए। इस वैकल्पिक शिक्षा प्रणाली का पाठ्यक्रम ऐसा होना चाहिए जिसमें इसमें आगे पढ़ाई जारी रखने की सम्भावना बनी रहे। अनौपचारिक और अंशकालिक शिक्षा केन्द्रों के रूप में इन सिफारिशों को लागू किया गया। ये केन्द्र ऐसे स्थानों पर और ऐसे समय चलाए जायेंगे ताकि ये बच्चों की सुविधा और आवश्यकताओं की दृष्टि से उपयुक्त हों।

नोट

4. **नई पहल**–1986 की राष्ट्रीय शिक्षा नीति ने सबको प्राथमिक शिक्षा उपलब्ध कराने के लक्ष्य को "कम-से-कम समय में" पूरा करने की अनिवार्यता की ओर ध्यान आकृष्ट कराना था। इसमें सन् 1995 तक देश में 14 वर्ष तक की उम्र के सभी बच्चों को मुफ्त अनिवार्य शिक्षा उपलब्ध कराने का संकल्प लिया गया था। समानता को बढ़ावा देने के लिए 1986 की राष्ट्रीय शिक्षा नीति में सभी बच्चों को न सिर्फ शिक्षा के समान अवसर उपलब्ध कराने, बल्कि जीवन में सफलता के लिए भी बराबर मौका देने की आवश्यकता पर जोर दिया गया था। इसमें स्कूली शिक्षा अधूरी छोड़ देने वाले बच्चों, स्कूल की सुविधा से रहित स्थानों के बच्चों और पूरे समय पढ़ने के लिये स्कूल जाने में असमर्थ मजदूरी करने वाले बच्चों तथा लड़कियों के लिये जिलों में शिक्षा और प्रशिक्षण संस्थान खोलने का फैसला लिया गया और राज्यों की शैक्षिक अनुसन्धान तथा प्रशिक्षण परिषदों को और मजबूत बनाया गया। अब तक 307 जिला शिक्षा और प्रशिक्षण संस्थानों को मंजूरी दी जा चुकी है और राज्य शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषदों को मजबूत बनाने के कार्यक्रम को अंतिम रूप दिया जा रहा है।

   जिला और शिक्षा प्रशिक्षण संस्थानों की परिकल्पना जिला स्तर के संसाधन केन्द्रों के रूप में की गयी है। भवन, कर्मचारी और उपकरणों की दृष्टि से ये संस्थान पूरी तरह सुसज्जित होंगे। इन्हें औपचारिक शिक्षा देने वाले स्कूलों के अध्यापकों के सेवा-पूर्व और सेवाकालीन, दोनों तरह के प्रशिक्षण के साथ-साथ गैर-औपचारिक तथा प्रौढ़ शिक्षा प्रणाली के अनुदेशकों के प्रशिक्षण की पूरी जिम्मेदारी सौंपी गयी है। यही इन्हीं, इन संस्थानों में शैक्षिक टेक्नोलाजी, पाठ्यक्रम और अनुदेश सामग्री विकास तथा आयोजना और प्रबन्ध जैसी पूर्ण शाखाएँ होंगी। जिला शिक्षा और प्रशिक्षण संस्थान आवासीय संस्थाएँ हैं जिनका उद्देश्य आज की राष्ट्रीय प्राथमिकताओं के संदर्भ में अत्यन्त आवश्यक सांस्कृतिक विरासत और मूल्यों से सम्पन्न अध्यापक तैयार कर जिले का पूर्ण विकास करना है।

नोट

आठवीं योजना के ऊपर बताये गये तीनों प्रमुख कार्यक्रमों को जारी रखा जाएगा। आपरेशन ब्लैक बोर्ड अपने वर्तमान रूप में ही जारी रखा जाएगा लेकिन इसके तहत 3 कमरों और 3 अध्यापकों की व्यवस्था की जाएगी तथा उच्च प्राथमिक स्कूलों को भी इसके दायरे में लाया जायेगा। गैर-औपचारिक शिक्षा कार्यक्रम को भी और मजबूत बनाया जा रहा है और इसके अन्तर्गत प्रबन्ध व्यवस्था तथा तकनीकी संसाधनों की दृष्टि से सुधार किये जा रहे हैं। अधिक संख्या में जिला शिक्षा और प्रशिक्षण संस्थान स्थापित किये जायेंगे। इन्हें जल्द-से-जल्द चालू कर दिया जायेगा। इन सब से आठवीं योजना के लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिये महत्त्वपूर्ण संसाधन उपलब्ध हो जायेंगे। इसके आलावा सीखने के न्यूनतम स्तर और सूक्ष्म स्तर की आयोजना के बारे में केन्द्र द्वारा प्रायोजित अलग कार्यक्रम शुरू किये जाने की सम्भावना है।

5. **सूक्ष्म स्तरीय आयोजना–माइक्रो प्लानिंग यानी सूक्ष्म स्तरीय,** आयोजना का उद्देश्य परिवार और बच्चे को ध्यान में रखकर कार्यक्रम तैयार करना है, ताकि प्रत्येक बच्चा नियमित रूप से अपने लिये सुविधाजनक स्थान पर पाँच साल तक स्कूल या गैर-औपचारिक शिक्षा केन्द्र में शिक्षा प्राप्त करता रहे। इस तरह की सघन कार्यक्रम-नीति का आधार, (1) आम आदमी की भागीदारी वाली योजनाएँ बनाने सम्बन्धी वह धारणा है जिसमें समाज को अपनी आवश्यकताओं का पता लगाने की जिम्मेदारी खुद उठाने के लिए प्रेरित किया जाता है और कार्यक्रमों का सफल क्रियान्वयन सुनिश्चित करने के लिये निर्णायक भूमिका सौंपी जाती है। (2) इसका आधार प्रशासनिक कामकाज का विकेन्द्रीकरण करना भी है, ताकि स्थानीय शैक्षिक कर्मी अपने-अपने क्षेत्र के बारे में निर्णय कर सकें तथा भली प्रकार समूची प्रणाली समाज की मांग के अनुरूप कार्य कर सकें।

   सूक्ष्म स्तरीय आयोजना के लिए क्षेत्र विशेष की आवश्यकताओं के अनुसार योजनाएँ बनाना भी जरूरी है। इसमें क्षेत्र का अभिप्राय राजस्व गांव से है लेकिन व्यवहार में ब्लाक, तालुका या जिले को इकाई बनाकर योजना बनायी जाती है। इस क्षेत्र में सूक्ष्म स्तरीय आयोजना को जिन उपायों से कार्यरूप दिया जायेगा, वे हैं–(1) समाज की भागीदारी हासिल करना, (2) शैक्षिक प्रशासन का विकेन्द्रीकरण, (3) स्थानीय स्तर की प्रशासनिक और संसाधन सहायक प्रणाली मजबूत बनाकर उसे नयी दिशा प्रदान करना, (4) इलाके की शैक्षिक आवश्यकताओं का पता लगाना, (5) दाखिले के लायक सभी बच्चों को स्कूलों में भर्ती कराना और जो स्कूल जाने में असमर्थ हों उनके लिए गैर-औपचारिक शिक्षा के कार्यक्रमों अथवा अन्य नये सहायक उपायों के जरिये शिक्षा उपलब्ध कराना, (6) यह सुनिश्चित करना कि सभी बच्चे नियमित रूप से वास्तव में प्राथमिक शिक्षा प्राप्त करते रहें और (7) स्कूलों या गैर-औपचारिक शिक्षा केन्द्रों में सुधार के उपाय करना ताकि पढ़ाई-लिखाई की कारगर व्यवस्था हो सके।

   स्कूलों में शिक्षा ग्रहण करने की प्रक्रिया में सुधार की नीति के अन्तर्गत इस बार पर ध्यान दिया जाता है कि कक्षाओं में क्या हो रहा है। यह प्रयास किया जाता है कि गुणवत्ता और समानता जैसे गुण शिक्षा प्रणाली में मौजूद रहें। इस नीति का उद्देश्य प्राथमिक शिक्षा के सम्भावित शैक्षिक लक्ष्यों को तर्कसंगत, यथार्थ और व्यावहारिक स्तर पर निर्धारित करना है। नीति में ऐसे उपाय अपनाने की सिफारिश की गयी है। जिससे इस बात की पक्की व्यवस्था हो सके कि स्कूली शिक्षा उम्र पूरी करने वाले सभी बच्चों ने निर्धारित लक्ष्य

प्राप्त कर लिये हैं। ये लक्ष्य स्कूली शिक्षा और गैर-औपचारिक शिक्षा कार्यक्रम के तहत पढ़ाई-लिखाई के न्यूनतम स्तर को भी निर्धारित करते हैं।

नोट

स्कूलों में न्यूनतम शिक्षा लागू करने के लिए मुख्य कदम ये होंगे–(1) छात्रों के सीखने के वर्तमान-स्तर का निर्धारण; (2) किसी क्षेत्र के लिए न्यूनतम शिक्षा स्तर का निर्धारण और वह समय सीमा जिसमें इस लक्ष्य को प्राप्त करना है; (3) शिक्षण के तौर-तरीकों में बदलाव उसके स्थान पर योग्यता पर आधारित तौर-तरीकों का इस्तेमाल; (4) छात्रों द्वारा सीखी गयी बातों के मूल्यांकन के लिए व्यापक कार्यक्रम तथा पाठ्यपुस्तकों की समीक्षा और जरूरत पड़ने पर उनमें संशोधन; (5) न्यूनतम शिक्षा स्तर प्राप्त करने के लिए भौतिक सुविधाओं; शिक्षक प्रशिक्षण और मूल्याकंन आदि के जरिये संसाधन बढ़ाकर सीखने के स्तर में सुधार। प्रयास यह होना चाहिये कि बच्चों के पढ़ना-लिखना सीखने पर नजर रखी जाये और जहां कुछ कमी रह गयी हो, वहां संसाधन बढ़ाये जायें। जिन क्षेत्रों में इसकी जरूरत अधिक महसूस की जा रही हो, वहाँ भी विकास की गति बढ़ाई जानी चाहिये। इस तरह असमानताएँ दूर की जा सकेंगी, शिक्षा के स्तर में समानता लाई जा सकेगी, संसाधनों पर बेहतर नियन्त्रण के जरिये गुणवत्ता बढ़ाई जा सकेगी।

6. **भावी सम्भावनाएँ–आठवीं योजना** (1992-97) में प्राथमिक शिक्षा सम्बन्धी नीति में समन्वित नीति की बजाय क्षेत्र विशेष की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर उसके अनुसार नीति तैयार करने पर जोर दिया गया। इसके अन्तर्गत सबको प्राथमिक शिक्षा उपलब्ध कराने के लिए लोगों की आवश्यकताओं को भी ध्यान में रखा गया है।

   यह इस तथ्य का नतीजा है कि प्रत्येक राज्य/केन्द्र शासित प्रदेश में ऐसे जिले और क्षेत्र होते हैं जिनमें स्कूली बच्चों की संख्या, साक्षरता के स्तर, स्कूल जाने वाली लड़कियों की संख्या आदि की दृष्टि से व्यापक असमानताएँ रहती हैं। कई जगह तो सबको शिक्षा उपलब्ध कराने का लक्ष्य पूरा होने को है जबकि शैक्षिक दृष्टि से अग्रणी राज्यों में भी ऐसे जिले है। जो काफी पिछड़े हुए हैं। इस तरह की असमानता दूर करने के लिये राज्य स्तरीय आयोजना अनिवार्य रूप से कारगर सिद्ध नहीं होगी और इससे असमानताएँ कम नहीं की जा सकेंगी। जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, आवश्यकता इस बात की है कि योजनाएँ क्षेत्र विशेष और समुदाय विशेष की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर बनायी जाएँ। इसलिये भविष्य में सबको शिक्षा उपलब्ध कराने के कार्यक्रम में जिले और ब्लाक के स्तर पर योजनाएँ बनाने पर बल दिया जायेगा। इनमें क्षेत्र विशेष की आवश्यकताओं के अनुसार समय और उत्तरदायित्वों का निर्धारण किया जा सकता है। स्पष्ट है कि ये योजनायें बुनियादी नीति के तहत ही बनायी जायेंगी और इनके प्रभावी क्रियान्वयन में केन्द्र द्वारा प्रायोजित कार्यक्रमों तथा राज्य स्तर के प्रयासों के लिये उपलब्ध कराये जाने वाले संसाधनों को ध्यान में रखा जायेगा।

   इन परियोजनाओं का लक्ष्य शिक्षा सुविधाओं में वर्तमान असमानताओं को दूर करना और औपचारिक स्कूली शिक्षा से वंचित समुदाय के लिए वैकल्पिक नीतियां तैयार करना है। इनमें स्कूलों के शैक्षिक माहौल और उनके कामकाज में व्यापक सुधार तथा स्कूलों, गैर-औपचारिक शिक्षा केन्द्रों और स्वयंसेवी संस्थाओं के स्कूलों को चलाने में समाज की भागीदारी बढ़ाने के लिये ईमानदारी से प्रयास करने की भी व्यवस्था होगी।

उच्च साक्षरता वाले जिलों में सबको प्राथमिक शिक्षा उपलब्ध कराने के लक्ष्य में सफलता इस बात पर निर्भर करेगी कि शैक्षिक प्रबन्ध में कितना सुधार सम्भव हो पाता है और विभिन्न कार्य में कितना तालमेल बढ़ाया जा सकता है। इसी प्रकार कार्यक्रमों पर नजर रखने वाली प्रणाली में सुधार और विभिन्न कार्यक्रम लागू करने के कार्य की बेहतर निगरानी भी लक्ष्य की प्राप्ति में काफी सहायक होगी। न्यूनतम शैक्षिक ज्ञान के स्तर के कार्यक्रम को गम्भीरता से लागू किया जाना चाहिये। साक्षरता की नीची दर वाले जिलों में शैक्षिक सुविधाओं को सुलभ बनाने और अधिक-से-अधिक बच्चों को कार्यक्रमों में शामिल करने, विशेष रूप से ग्रामीण और जनजातीय लड़कियों को इसके दायरे में लाने पर जोर दिया जायेगा। ऐसे जिलों में सूक्ष्म स्तरीय आयोजना की नीति काफी सहायक हो सकती है।

अगर बहुत छोटे बच्चों की देखभाल और शिक्षा के कार्यक्रमों का विस्तार कर दिया जाये और प्राथमिक स्कूलों और अनौपचारिक शिक्षा केन्द्रों से उनका तालमेल बना दिया जाये तो शिक्षा की दृष्टि से पिछड़े वर्गों के बच्चों को प्राथमिक शिक्षा उपलब्ध कराने में आने वाली अड़चनों को काफी कम किया जा सकता है। प्राथमिक शिक्षा के प्रसार में इनका लाभ उठाया जाना चाहिये।

राष्ट्र के सामने एक बार फिर एक सुविचारित कार्य योजना है। इसे देश के ग्रामीण क्षेत्रों में और दूर-दराज के इलाकों में जनता के पूर्ण सहयोग से लागू करने के लिये स्थायी क्रियान्वयन नीति विकसित की जानी चाहिये। हमारी समूची व्यवस्था जनता की आवश्यकताओं के अनुरूप होनी चाहिये। साथ ही जनता को भी अपने बच्चों की शिक्षा के बारे में जागरूक होना चाहिये। सबको प्राथमिक शिक्षा उपलब्ध कराने के लक्ष्य को पूरा करने के लिए जो भी प्रयास किये जाये उनमें राष्ट्र और जनता की पूरी भागीदारी होनी चाहिये और इसमें उन्हें एक-दूसरे की मदद करनी चाहिये। इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए स्कूली शिक्षा की मौजूदा प्रणाली में दृष्टिकोण सम्बन्धी परिवर्तन लाना जरूरी होगा। प्राथमिक शिक्षा में गुणात्मक सुधार के लिये मूल्यपरक शिक्षा के साथ-साथ हमारे अध्यापकों में भी आमूल परिवर्तन आवश्यक होगा। इससे पाठ्यक्रम में भी वांछित परिवर्तन किये जा सकेंगे और स्कूल का माहौल बच्चों के लिये जीवन्त और आनन्ददायक अनुभव बन सकेगा।

2.18 दूरस्थ शिक्षा की अवधारणा, आवश्यकता और दूरस्थ शिक्षा का प्रारूप

दूरस्थ शिक्षा के अर्थ को स्पष्ट करने के लिये विभिन्न विद्वानों ने अपने विचार व्यक्त किये हैं, जो निम्न प्रकार हैं– **मूरे** (Moore) के शब्दों में, "दूरगामी शिक्षा वह शिक्षण विधियों का परिवार है जिसमें सीखने की कला के साथ शिक्षण कला को भी महत्व दिया जाता है। इसमें अध्यापक और विद्यार्थी के बीच विचारों का आदान-प्रदान पत्राचार, रेडियो, दूरसंचार और अन्य कई यन्त्रों के माध्यम से किया जाता है।"

पीटर्स (Peters) दूरगामी शिक्षा की परिभाषा देते हुए लिखते हैं कि, "दूरगामी शिक्षा एक ऐसी शिक्षण प्रणाली है जिसकी सहायता से ज्ञान, कौशल और व्यवहार में परिवर्तन लाने का प्रयास किया जाता है। इस शिक्षण प्रणाली में उच्चकोटि की शिक्षण सामग्री तकनीकी संचार साधनों द्वारा पहँचाई जाती है।"

नोट

डोहमन (Dohmen) के अनुसार, "दूरगामी शिक्षा, स्व:अध्ययन (Self-Study), की वह सुनियोजित शिक्षा प्रणाली है जिसमें विद्यार्थी को परामर्श, सीखने की सामग्री, निरीक्षण आदि का उत्तरदायित्व अध्यापकों के एक समूह पर होता है। इस उत्तरदायित्व को निभाने का प्रयास दूर संचार माध्यम की सहायता से किया जाता है।" इस परिभाषा में डोहमन ने दूरगामी शिक्षा के लिए अध्ययन और संचार माध्यम को महत्वपूर्ण माना है।

दूरगामी शिक्षा से मिलते-जुलते अन्य शब्द (Other Similar Terms of Distance Education) दूरगामी शिक्षा को विभिन्न नामों से पुकारा जाता है। उदाहरण के लिए, फ्रांस में इसे 'Enseignement', आस्ट्रेलिया में 'Off-Campus', जर्मनी में 'Frenstudium', न्यूजीलैण्ड में 'Extra Mural' आदि नामों से जाना जाता है। भारत में हम इसे External, Correspondence Education तथा Distance Education के विभिन्न नामों से पुकारते हैं।

कुछ शिक्षाशास्त्री यह कहते हैं कि External Education को हम दूरगामी शिक्षा (Distance Education) की संज्ञा नहीं दे सकते, क्योंकि External Education में विश्वविद्यालय विद्यार्थी की शिक्षा में किसी प्रकार की सहायता नहीं करता। विद्यार्थी स्वयं पढ़कर परीक्षा में बैठता है। 'पत्राचार शिक्षा' (Correspondence Education) का नाम बदलकर दूरगामी शिक्षा रख दिया है। इसलिए हम कह सकते हैं कि भारत में दोनों ही नाम पत्राचार शिक्षा (Correspondence Education) और दूरगामी शिक्षा (Distance Education) प्रचलित है।

सुदूर शिक्षा की आवश्यकता

सुदूर शिक्षा की आवश्यकता हमारे देश में निम्न प्रकार है–

1. **राष्ट्र की प्रगति**–देश की जनशक्ति को आधुनिकतम ज्ञान तथा कौशल के सम्पर्क में रखकर ही उसका सदुपयोग राष्ट्रहित में किया जा सकता है। आज जनसंख्या के बढ़ते दबाव के कारण सम्पूर्ण जनसंख्या को शिक्षित नहीं किया जा सकता, परन्तु सुदूर शिक्षा के द्वारा शेष व्यक्तियों को शिक्षा के अनौपचारिक माध्यमों से शिक्षित कर राष्ट्रीय प्रगति के लिये तैयार किया जा सकता है।
2. **ज्ञान को अद्यतन करना**–ज्ञान का विकास, विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी के कारण बहुत तेजी से हो रहा है। प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति ज्ञान के इस विकास की तुलना में अपने को अपूर्ण पाता है। अपने अपूर्णता को पूरा करने के लिये उसे सुदूर शिक्षा का सहारा लेना आवश्यक है। इसीलिये निजी अध्ययन व्यक्तिगत परीक्षार्थी तथा पत्राचार पाठ्यक्रम की प्रक्रिया आरम्भ हुई।
3. **लचीलापन**–सुदूर शिक्षा प्रणाली के माध्यम से, औपचारिक प्रणाली के विपरीत बहुत कम शर्तों का पालन करना पड़ता है। उच्चशिक्षा में क्वालीफाइड ज्ञान की सीमा को समाप्त कर दिया गया है अत: सुदूर शिक्षा के माध्यम से उच्च शिक्षा में प्रगति आने लगी है।
4. **पत्राचार पाठ्यक्रम में सुधार**–सुदूर शिक्षा के पत्राचार पाठ्यक्रम में सुधार किये गये हैं। ये इस प्रकार हैं–
   (i) पारम्परिक विषयों के अतिरिक्त अन्य उपयोगी विषयों में पाठ्यक्रम आरम्भ किए गये।
   (ii) छात्रों के दत्त कार्य (Assignments) दिये जाने लगे।
   (iii) छात्रों का दत्त कार्य का मूल्यांकन भी किया जाने लगा।

(iv) छात्र अपनी सुविध तथा आवश्यकता के अनुसार परीक्षा देने लगे तथा प्रमाण पत्र प्राप्त करने लगे।

5. **शैक्षिक अनुसन्धानों का उपयोग**–शिक्षा के क्षेत्र में अनेक अनुसंधान होते रहते हैं, उनका लाभ सुदूर शिक्षा को व्यवस्थित करने में किया जाने लगा।

नोट

इन अनुसंधानों का प्रभाव इस प्रकार हुआ–(1) विषयों की संरचना में सुधार किया गया। (2) शिक्षण के लिये अनेक माध्यमों का उपयोग किया जाने लगा। (3) सम्पर्क कार्यक्रमों का अनुप्रयोग।

सुदूर शिक्षा का उद्देश्य उच्च शिक्षा में प्रवेश के अन्तर को कम करना है। अधिकतम व्यक्ति संस्था के बाहर रहकर, अपने जीवन के काम-काज चलाते हुए उच्च शिक्षा प्राप्त कर सकें। इसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु राष्ट्रीय स्तर पर इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की स्थापना की गई। भारत में अनेक विश्वविद्यालय औपचारिक शिक्षा के साथ-साथ अनौपचारिक रूप से सुदूर शिक्षा के माध्यम से उच्च शिक्षा प्रदान कर रहे हैं।

सुदूर शिक्षा का लाभ किसे?

सुदूर शिक्षा, शिक्षा प्राप्त करने की एक प्रणाली है। इस प्रणाली के लाभ उठाने वाले व्यक्ति ये हैं–

(i) जिन्हें आर्थिक, सामाजिक या अन्य कारणों से औपचारिक शिक्षा को छोड़ना पड़ा।

(ii) जो दूरस्थ स्थानों पर रहते हैं और जहाँ औपचारिक शिक्षा की व्यवस्था नहीं है।

(iii) जो रुचि तथा स्फूर्ति के अभाव में औपचारिक प्रवाह से हट गये किन्तु बाद में उन्हें ज्ञानार्जन की प्रेरणा मिली है।

(iv) जो प्रवेश की सामर्थ्य तो रखते हैं परन्तु उन्हें औपचारिक, संस्थाओं में प्रवेश न मिला हो।

(v) जीवन-पर्यन्त शिक्षा की अवधारणा में विश्वास करने वाली व्यक्ति नये ज्ञान में कौशल विकसित करना चाहते हों।

(vi) जो सेवारत हैं।

सुदूर शिक्षा का महत्व

विश्व का कोई देश ऐसा नहीं है जहाँ सुदूर शिक्षा पर विचार-विमर्श व क्रियान्वयन न हो रहा हो। विश्व के सभी देशों में सुदूर शिक्षा द्वारा वहाँ की जनता को ज्ञान के सम्पर्क में रखा जा रहा है। परिणामत: पारम्परिक शिक्षा प्रणाली के स्थान पर सुदूर शिक्षा पर बल देने के कार्यक्रम को प्राथमिकता दी जा रही है।

यह सभी जानते हैं कि जनसंख्या की वृद्धि के साथ-साथ उच्च शिक्षा पर संस्थानिक दबाव बढ़ रहा है। इस बढ़ते दबाव को सुदूर शिक्षा के माध्यम से उच्च शिक्षा पर से हटाया जायेगा। पारम्परिक शिक्षा प्रणाली में सार्वजनिक व्यापीकरण के मार्ग में ये बाधायें हैं–

1. जीवन के यौवन काल में जबकि उसे अपनी शक्ति का उपयोग अपने तथा समाज के हित में करना चाहिये, शिक्षा प्राप्त करने में लगाना पड़ता है।
2. उच्च शिक्षा को पूरी अवधि तक चलाना पड़ता है।
3. शिक्षक की उपस्थिति अनिवार्य होती है।
4. शिक्षण का कार्य औपचारिक रूप से निश्चित स्थान पर किया जाता है।

नोट

भारत में बढ़ती जनसंख्या ने शिक्षा की आवश्यकता को बढ़ाया है। भारत में जनसंख्या का प्रसार अत्यधिक है। सभी को संस्थागत शिक्षा के अवसर न तो प्रदान किये जा सकते हैं और न ही सम्भव है। इस समस्या का समाधन करने के लिये शिक्षा को स्वयं पढ़ने वाले के द्वार पर ले जाना होगा। इस परिकल्पना को सत्य करने के लिये सुदूर शिक्षा की कल्पना, शिक्षा के सभी स्तरों पर की गई है।

सुदूर शिक्षा, अनौपचारिक शिक्षा प्रणाली का एक रूप है। विभिन्न उद्योग तथा व्यवसायों में लगे लोग अपने खाली समय में अपनी सुविध के अनुसार अपने ज्ञान, व्यवसाय तथा उद्योग के विकास के सम्पर्क में शिक्षा प्राप्त करते हैं। इस शिक्षा का विकास पत्राचार पाठ्यक्रम के माध्यम से हुआ। फिर अंशकालीन शिक्षण प्रणाली आरम्भ हुई। इन दोनों में मुद्रित सामग्री, शैक्षिक निर्देशों के माध्यम से दी गयी थी छात्र, निर्देशों के अनुसार कार्य करते थे और उनका मूल्यांकन किया जाता था। इस शिक्षा प्रणाली में शिक्षक तथा छात्रों का सम्बन्ध दूर का होता है। वे बहुत कम मिलते हैं अथवा कभी नहीं मिल पाते। केवल दूर संचार के माध्यम से उनमें सम्बन्ध होता है।

दूरस्थ शिक्षा प्रणाली

भारत में दूरगामी शिक्षा को दो प्रकार से प्रदान करने का प्रयास किया जा रहा है–

(A) पत्राचार (Correspondence Course) की सहायता से।

(B) खुले विश्वविद्यालय (Open Universities) की सहायता से।

(A) पत्राचार शिक्षा (Correspondence Course)–विभिन्न विश्वविद्यालयों में पत्राचार शिक्षा के अन्तर्गत विभिन्न पाठ्यक्रमों की शिक्षा प्रदान की जा रही है। केन्द्रीय सरकार तथा राज्य सरकारे अपने-अपने कार्यक्षेत्र में 'खुले विश्वविद्यालय' भी स्थापित किए हैं।

1961 में केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड (CABE) ने पत्राचार के माध्यम से शिक्षा प्रदान का निर्णय किया तथा विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग के अध्यक्ष डॉ. डी.एस. कोठारी अध्यक्षता में एक समिति गठित की जिसने पत्राचार के माध्यम से शिक्षा प्रदान करने का सुझाव दिया तत्कालीन केन्द्रीय शिक्षा मन्त्री डॉ. के.एल. श्रीमाली ने दूरगामी शिक्षा के कार्यक्रम का उद्घाटन का समय इसके निम्नलिखित उद्देश्य बताये हैं–

(1) भारत के निवास के लिए पत्राचार के माध्यम से उच्च स्तर पर अच्छी तथा कम खर्चीली शिक्षा व्यवस्था को आयोजित करना।

(2) सभी शिक्षित नागारिकों को उनके वर्तमान व्यवसाय में बिना किसी हस्तक्षेप के पत्राचार द्वारा शिक्षा की सुविधा प्रदान करना।

(3) उन सभी योग्य तथा इच्छुक विद्यार्थियों के लिये उच्च स्तर पर शिक्षा व्यवस्था को आयोजित करना जो निजी, आर्थिक अथवा अन्य किसी कारण से सामान्य महाविद्यालयों में प्रवेश नहीं ले सके।

विश्वविद्यालय आयोग ने भी पत्राचार-शिक्षा पर जोर दिया। उसके अनुसार पत्राचार शिक्षा निम्नलिखित प्रकार के विद्यार्थियों की आवश्यकता को पूरा करेगी–

(i) वे विद्यार्थी जिन्हें घरेलू हालात अथवा ऐसे ही किसी अन्य कारण से औपचारिक शिक्षा बीच में ही छोड़ देना पड़ा।

नोट

(ii) वह विद्यार्थी जो देश के दूर स्थानों पर रहते हैं तथा जहाँ शिक्षा सुविधायें उपलब्ध नहीं हैं

(iii) वे विद्यार्थी जिन्हें किसी कारणवश महाविद्यालय या विश्वविद्यालय में प्रवेश नहीं मिल सका यद्यपि उनमें उच्च शिक्षा प्राप्त करने की क्षमता है।

(iv) वे विद्यार्थी जिन्हें अपने यौवन काल में शिक्षा में रुचि नहीं थी परन्तु अब उनमें रुचि उत्पन्न हो गई है।

(v) कार्यरत व्यक्ति।

(vi) वे विद्यार्थी जो शिक्षा को जीवन-पर्यन्त चलने वाली प्रक्रिया मानते हैं और अपने पहले सीखे गए विषयों के अतिरिक्त किसी अन्य विषय में शिक्षा प्राप्त करने के इच्छुक हैं।

शिक्षा आयोग के सुझाव के फलस्वरूप अनेक विश्वविद्यालयों में पत्राचार शिक्षा (Correspondence Education) के विभाग स्थापित किए गए तथा सभी प्रकार की स्नातक एवं स्नातकोत्तर डिग्रियाँ प्राप्त करने के लिए शिक्षा की व्यवस्था की गईं। अब बहुत से विश्वविद्यालय B. A., B. Sc., B. Com., L. L. B., M. A., M. Com., M. Sc., M. Ed., इत्यादि पत्राचार शिक्षा द्वारा करने में सुविधायें प्रदान करते हैं।

(B) खुला विश्वविद्यालय (Open University)–दूसरे प्रकार की दूरगामी शिक्षा, (Distance Education) की संख्यायें बहुत कम तथा नयी हैं। इन्हें खुले विश्वविद्यालय (Open University) के नाम से पुकारा जाता है। विश्व के बहुत से देशों ने दूरगामी शिक्षा को सुदृढ़ करने के लिए तथा शिक्षा में हुए नये परिवर्तनों की जानकारी देने हेतु "खुले विश्वविद्यालय" स्थापित किए हैं। विश्व में इनकी संख्या 30 या इससे अधिक है। यह विश्वविद्यालय अधिकतर इंग्लैण्ड, पश्चिमी जर्मनी, स्पेन, चीन, थाईलैण्ड, श्रीलंका, कनाडा और जापान में हैं। भारत में भी 4 खुले विश्वविद्यालय हैं, जिनमें तीन राज्य स्तर पर हैं और एक राष्ट्रीय स्तर पर है। सर्वप्रथम 1982 ई. में आन्ध्र प्रदेश में खुला विश्वविद्यालय स्थापित किया गया। 1985 ई. में संसद ने इन्दिरा गाँधी खुला विश्वविद्यालय स्थापित करने का निर्णय लिया।

यह विश्वविद्यालय जुलाई सन् 1986 से विधिवत कार्य करने लगा। 19 नवम्बर 1985 को भारत के प्रधनमन्त्री ने दिल्ली में मेहरौली के पास इन विश्वविद्यालय का विधिवत उद्घाटन कर दिया और इसका नाम 'इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय खुला विश्वविद्यालय रखा गया।

उच्च शिक्षा को सार्वजनिक बनाने की दिशा में मुक्त विश्वविद्यालय अभिनव प्रयोग के रूप में भारत में आरम्भ किये जा रहे हैं। 1858 से लेकर 1985 तक उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिये व्यक्ति को औपचारिक शैक्षिक प्रवाह से होकर गुजरना पड़ता था। किसी कारणवश यदि कोई उस प्रवाह से हट जाता था तो उसे उच्च शिक्षा के पुनः प्रवाह में आने के लिये अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। उच्च शिक्षा को सार्वजनिक बनाने की दिशा में पहला कदम था–पत्राचार पाठ्यक्रम।

उच्च शिक्षा के प्रति बढ़ती लालसा को देखते हुए इंग्लैंड में प्रचलित मुक्त विश्वविद्यालय के आधार पर देश में वैसा ही मुक्त विश्वविद्यालय खोलने की आवश्यकता अनुभव की गई।

मुक्त विश्वविद्यालय, विश्व की उच्च शिक्षा की परम्परा में नवीनतम प्रयोग है। इस प्रणाली में व्यक्ति अपने को विकसित ज्ञान के संदर्भ के अद्यतन (up to date) रखना चाहता है। यह प्रणाली सार्वजनिक विश्वविद्यालय प्रणाली कहलाती है। मुक्त विश्वविद्यालय की विशेषतायें इस प्रकार हैं–(i) किसी डिग्री या डिप्लोमा की आवश्यकता नहीं होती, (ii) आयु की कोई सीमा नहीं होती, (iii) किसी

भी क्षेत्र का व्यक्ति इस विश्वविद्यालय में प्रवेश ले सकता है, (iv) इसमें समय का बन्धन नहीं होता, (v) एवं इसका कोई परिसर नहीं होता।

ध्यान रखने की बात यह है कि परम्परागत विश्वविद्यालयों की भाँति इसमें पाठ्यक्रम, पढ़ाई तथा परीक्षा तीनों होते हैं।

नोट

मुक्त विश्वविद्यालयों का विकास

उच्च शिक्षा पर बढ़ते दबाव को देखते हुए 1979 में ब्रिटेन में पहले मुक्त विश्वविद्यालय की स्थापना हुई। आरम्भ में इसमें पंजीकृत छात्रों की संख्या 25000 थी। 1985 तक इसमें एक लाख व्यक्ति पंजीकृत हो चुके थे। यह विश्वविद्यालय 300 केन्द्र के द्वारा, रेडियों, टी. वी. तथा संचार के अन्य उपकरणों का उपयोग शिक्षा के लिये करता है। आजकल चीन, जापान, थाइलैंड, कोरिया, स्पेन, नीदरलैंड, पाकिस्तान तथा श्रीलंका में मुक्त विश्वविद्यालय कार्यरत हैं।

भारत में 1990 से मुक्त विश्वविद्यालय की स्थापना के प्रयास किये जा रहे हैं। 1982 में आंध्र में अन्नामलाई विश्वविद्यालय पहला मुक्त विश्वविद्यालय खोला गया है। इसमें बी.ए., बी.एस.सी, बी.कॉम., स्नातकोत्तर विषयों में डिग्री व व्यावसायिक शिक्षा के पाठ्यक्रम चलाये जाते हैं।

मुक्त विश्वविद्यालय : एक उपलब्धि

होमबर्ग के अनुसार–"वास्तविक अध्ययन मूलत: एक व्यक्तिगत कार्य-कलाप है और यह कार्यकलाप, अन्दरूनी प्रक्रिया के माध्यम से किया जा सकता हैं।" इस कथन के अनुसार पहले इन मुक्त विश्वविद्यालयों को वायु (air) विश्वविद्यालय का नाम दिया गया।

भारत में पहला मुक्त विश्वविद्यालय एस. डी. टी. विश्वविद्यालय मुम्बई था, जिसका स्वरूप परिवर्तित किया गया।

इसमें महिलाओं के लिये सुदूर शिक्षा के माध्यम से अनेक उपयोगी पाठ्यक्रम चलाये जाते हैं।

मुक्त विश्वविद्यालय एक सफल प्रयोग के रूप में लोकप्रियता प्राप्त कर रहे हैं। इनकी उपलब्धि इस प्रकार है–

1. उच्च शिक्षा को सार्वजनीक बनाने की दिशा में यह एक सफल प्रयोग है।
2. इसमें प्रवेश के लिये औपचारिक शिक्षा तथा किसी प्रमाण-पत्र की आवश्यकता नहीं है।
3. प्रत्येक व्यक्ति को उच्च शिक्षा प्राप्त करने के अवसर प्राप्त होते हैं।
4. इस पद्धति के द्वारा अपनी प्रगति तथा जीवन शैली का चुनाव करने के अवसर प्राप्त होते हैं।

होमबर्ग के शब्दों में–"यह पद्धति शिक्षार्थी के दृष्टिकोण को प्रभावित करती है। यह उन्हे समालोचनात्मक पाठक बनाकर उनकी भ्रान्तियों का निराकरण करती है। सहयोग की भावना का विकास होता है, उत्तम व्यवहार व अनुशासन का विकास करके बेरोजगारी की गुत्थियों को सुलझाती है। शर्त यह है कि यह व्यावहारिक जीवन से जुड़े व्यवसाय के कार्यानुभव से सम्बन्धित हो।"

डॉक्टर रामशकल पाण्डेय के अनुसार–"वस्तुत: इन्दिरा गाँधी मुक्त विश्वविद्यालय के कार्य और पत्राचार शिक्षण कार्यक्रम में बहुत समानता है। सभी कार्यक्रम दूर शिक्षा के सिद्धान्त पर आधरित हैं। परम्परागत विश्वविद्यालयों मे सर्वप्रथम पत्राचार पाठ्यक्रम प्रारम्भ किये गये जिनमें मुद्रित सामग्री द्वारा दूरस्थ छात्रों के लिये शिक्षा का प्रबन्ध किया जाता था। पत्राचार शिक्षा, घर पर अध्ययन, स्वतन्त्र अध्ययन, प्राइवेट अध्ययन, मुक्त अध्ययन, दूर शिक्षा जैसी नामावली एक ही प्रकार के विचारों को

नोट

मूर्त रूप देने के बहुआयामी प्रयास हैं। जिन छात्रों को आर्थिक तथा अन्य परिस्थितियों के कारण अपनी औपचारिक शिक्षा बन्द कर देनी पड़ती है या भौगोलिक दृष्टि से जो सुदूर स्थानों पर हैं या जिन छात्रों को रुचिहीनता के कारण पहली शिक्षा बन्द कर देनी पड़ी और बाद में उनकी रुचि जागृत हुई अथवा जिन्हें उच्च शिक्षा संस्थाओं में प्रवेश नहीं मिला अथवा जो छात्र किसी सामुदायिक संस्था में स्वेच्छया पढ़ना नहीं चाहते हैं अथवा जो छात्र बाद में किसी अन्य विषय में अपना ज्ञान और कौशल बढ़ाना चाहते हैं अथवा जो सेवारत हैं और पढ़ने के इच्छुक हैं–इन सभी के लिये यह मुक्त विश्वविद्यालय वरदान सिद्ध होंगे।"

सुदूर शिक्षा प्रणाली की विशेषतायें

सुदूर शिक्षा ने अनौपचारिक रूप से सार्थक शिक्षा की अवधारणा को सशक्त बनाया है, जीवनपयोगी शिक्षा तथा कौशल के विकास से जीवन के रहन-सहन को सुधारने तथा विकसित करने में सार्थक शिक्षा के महत्त्व को बढ़ाया है। यही कारण है कि सार्थक शिक्षा तथा सुदूर शिक्षा, चोली-दामन के रूप में उभरे हैं। सुदूर शिक्षा की विशेषतायें इस प्रकार हैं–

1. **शिक्षक-छात्र विभेद**–सुदूर शिक्षा में प्राय: सभी सामग्री पूर्व संचित होती हैं। इस सामग्री में सम्पूर्ण निर्देश होते हैं। इन निर्देशों के अनुसार छात्र अपनी तैयारी करता है। यों औपचारिक शिक्षा की गुरु शिष्य के आमने-सामने होने वाली अवधारणा इसमें नहीं होती है।
2. **कार्यक्रम विभेद**–सुदूर शिक्षा में शिक्षण अधिगम की सामग्री की संरचना तथा तैयारी इस ढंग से करनी पड़ती है जिससे औपचारिक शिक्षा की कार्य प्रणाली तथा कार्यक्रम का भेद स्पष्ट हो जाये। निजी अध्ययन स्वयं अपने को सिखाओं आदि कार्यक्रम इस विभेद के उदाहरण हैं।
3. **शैक्षिक प्रौद्योगिकी**–प्रौद्योगिकी के विकसित उपकरणों का उपयोग शिक्षा के क्षेत्र में किया जाने लगा है। मुद्रित सामग्री, दृश्य-श्रव्य साधन, दूरदर्शन, आकाशवाणी, कम्प्यूटर आदि शिक्षक, पाठ्यक्रम तथा छात्र को जोड़ते हैं।
4. **दोतरफी संवाद व्यवस्था**–सुदूर शिक्षा में शिक्षक तथा छात्रों का सम्बन्ध आमने-सामने का नहीं होता। इससे अधूरापन अनुभव होता है। अत: सम्पर्क से दोतरफी संवाद व्यवस्था की गई है।
5. **व्यक्तिगत अध्ययन**–सुदूर शिक्षा में सामूहिक शिक्षा का अवसर कम तथा व्यक्तिगत अध्ययन के अवसर अधिक होते हैं। सम्पर्क सुत्र में सामूहिकता का विकास होने की सम्भावनायें बढ़ जाती हैं।
6. **औद्योगीकृत विशेषता**–सुदूर शिक्षा में औद्योगीकरण का प्रभाव स्पष्ट लक्षित है। इससे व्यक्ति या छात्र की रुचि वैयक्तिक विकास में होती है। इसीलिये निजी अध्ययन में छात्र रुचि लेता है।

2.19 सारांश

दूरगामी शिक्षा को विभिन्न नामों से पुकारा जाता है। उदाहरण के लिए, फ्रांस में इसे 'Enseignement', आस्ट्रेलिया में 'Off-Campus', जर्मनी में 'Frenstudium', न्यूजीलैण्ड में 'Extra Mural' आदि नामों से जाना जाता है। भारत में हम इसे External, Correspondence Education तथा Distance

Education के विभिन्न नामों से पुकारते हैं। विश्व का कोई देश ऐसा नहीं है जहाँ सुदूर शिक्षा पर विचार-विमर्श क्रियान्वयन न हो रहा हो। विश्व के सभी देशों में सुदूर शिक्षा द्वारा वहाँ की जनता को ज्ञान के सम्पर्क में रखा जा रहा है। परिणामत: पारम्परिक शिक्षा प्रणाली के स्थान पर सुदूर शिक्षा पर बल देने के कार्यक्रम को प्राथमिकता दी जा रही है।

नोट

सुदूर शिक्षा, अनौपचारिक शिक्षा प्रणाली का एक रूप है। विभिन्न उद्योग तथा व्यवसायों में लगे लोग अपने खाली समय में अपनी सुविध के अनुसार अपने ज्ञान, व्यवसाय तथा उद्योग के विकास के सम्पर्क में शिक्षा प्राप्त करते हैं। इस शिक्षा का विकास पत्राचार पाठ्यक्रम के माध्यम से हुआ। फिर अंशकालीन शिक्षण प्रणाली आरम्भ हुई। शिक्षा आयोग के सुझाव के फलस्वरूप अनेक विश्वविद्यालयों में पत्राचार शिक्षा (Correspondence Education) के विभाग स्थापित किए गए तथा सभी प्रकार की स्नातक एवं स्नातकोत्तर डिग्रियाँ प्राप्त करने के लिए शिक्षा की व्यवस्था की गई। अब बहुत से विश्वविद्यालय B. A., B. Sc., B. Com., L. L. B., M. A., M. Com., M. Sc., M. Ed., इत्यादि पत्राचार शिक्षा द्वारा करने में सुविधायें प्रदान करते हैं।

दूसरे प्रकार की दूरगामी शिक्षा, (Distance Education) की संख्यायें बहुत कम तथा नयी हैं। इन्हें खुले विश्वविद्यालय (Open University) के नाम से पुकारा जाता है। विश्व के बहुत से देशों ने दूरगामी शिक्षा को सुदृढ़ करने के लिए तथा शिक्षा में हुए नये परिवर्तनों की जानकारी देने हेतु "खुले विश्वविद्यालय" स्थापित किए हैं। विश्व में इनकी संख्या 30 या इससे अधिक है। यह विश्वविद्यालय अधिकतर इंग्लैण्ड, पश्चिमी जर्मनी, स्पेन, चीन, थाईलैण्ड, श्रीलंका, कनाडा और जापान में हैं। भारत में भी 4 खुले विश्वविद्यालय हैं, जिनमें तीन राज्य स्तर पर हैं और एक राष्ट्रीय स्तर पर है। सर्वप्रथम 1982 में आन्ध्र प्रदेश में खुला विश्वविद्यालय स्थापित किया गया। 1985 में संसद ने इन्दिरा गाँधी खुला विश्वविद्यालय स्थापित करने का निर्णय लिया।

उच्च शिक्षा पर बढ़ते दबाव को देखते हुए 1979 में ब्रिटेन में पहले मुक्त विश्वविद्यालय की स्थापना हुई। आरम्भ में इसमें पंजीकृत छात्रों की संख्या 25000 थी। 1985 तक इसमें एक लाख व्यक्ति पंजीकृत हो चुके थे। यह विश्वविद्यालय 300 केन्द्र के द्वारा, रेडियों, टी. वी. तथा संचार के अन्य उपकरणों का उपयोग शिक्षा के लिये करता है। आजकल चीन, जापान, थाइलैंड, कोरिया, स्पेन, नीदरलैंड, पाकिस्तान तथा श्रीलंका में मुक्त विश्वविद्यालय कार्यरत हैं।

यह निर्विवाद सत्य है कि व्यक्ति का समाज के बिना कोई अपना स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। रॉस ने यहां पर स्पष्ट किया कि- समाज से अलग वैयक्तिकता का कोई मूल्य नहीं रह जाता है और व्यक्तित्व का कोई मूल्य नहीं रह जाता है। वास्तव में समाज और व्यक्ति अपने-अपने अस्तित्व के लिये परस्पर निर्भर है, और शिक्षा इसमें मुख्य भूमिका निभाने वाली प्रक्रिया है समाज अपने अस्तित्व को बचाने और विकास करने के लिये शिक्षा को आधार बनाता है। ओटवे ने इस तथ्य को स्पष्ट करते हुये लिखा - किसी भी समाज में दी जाने वाली शिक्षा समय-समय पर उसी प्रकार बदलती है जिस प्रकार समाज बदलता है। स्पेन्सर ने शिक्षा और समाज के सम्बंध को स्पष्ट करते हुये लिखा कि- प्राचीन कालीन शिक्षा प्रणाली अपनी समकालीन सामाजिक पद्धतियों के अनुरूप थी और उसी प्रकार हमारी शिक्षा की आधुनिक प्रणालियां हमारी अधिक, धार्मिक और राजनैतिक संस्थाओं के अनुरूप है।

शैक्षिक मापन एवं मूल्यांकन शिक्षण प्रक्रिया का अभिन्न अंग है जिससे छात्रों की प्रगति की जानकारी के साथ-साथ शिक्षण प्रक्रिया की उपयुक्तता का निर्धारण किया जाता है। पृष्ठपोषण द्वारा शिक्षण प्रक्रिया के विभिन्न अंगों की गुणवत्ता मे निरन्तर सुधार को प्रोत्साहन भी मिलता है। मापन

नोट

हेतु अवलोकन, स्व-आख्या, परीक्षण, समाजमिति तथा प्रक्षेपी तकनीकियों का प्रयोग किया जाता है जिससे यथार्थ वस्तुस्थिति का पता चल सके। मूल्यांकन हेतु वार्षिक, सेमेस्टर आन्तरिक, वाह्य, स्केलिंग, ग्रेडिंग तथा ऑन लाइन परीक्षा का प्रयोग किया जाता है। मूल्यांकन कार्यक्रम शिक्षण प्रक्रिया के अंग के रूप में विद्यालयी गतिविधियों की गुणवत्ता में निरन्तर पृष्ठपोषण प्रदान करने का कार्य करता रहता है।

शिक्षा के निजीकरण का मूल भारत के संविधान की कुछ धाराओं में विरोधभास के साथ निहित है। शिक्षा के संवैधानिक प्रावधानों पर विचार करना आवश्यक है।

इस कार्य के लिये प्रादेशिक असंतुलन को दूर करना, शुल्कयुक्ति का आनुपातिक आधार तय करना, सामाजिक न्याय की प्रतिष्ठा करना आवश्यक है। तकनीकी तथा व्यावसायिक शिक्षाओं का उपयुक्त विभाजन होना चाहिए। यथा–कृषि, उद्योग, व्यापार, शिल्प, अनुरुचिकीय प्रशिक्षण आदि। शिक्षा का निजीकरण तथा शिक्षा का व्यवसायीकरण दो अलग-अलग धारणायें हैं। शिक्षा के व्यवसायीकरण से अभिप्राय व्यवसाय तथा रोजगार के अधिकतम अवसर प्रदान करने के लिए विभिन्न व्यवसायों तथा उद्योगों से संबंधित पाठ्यक्रमों में छात्रों का प्रवेश देना है। इससे छात्र, शास्त्रीय, पाठ्यक्रमों के बजाय उन पाठ्यक्रमों में प्रवेश लेते हैं जो उन्हें आजीविका के अवसर देते हैं। बढ़ती जनसंख्या ने नौकरियों के अवसर बहुत कम कर दिये हैं। इसलिये बढ़ती बेकारी को रोकने के लिए स्व-रोजगार के अवसरों में वृद्धि करना आवश्यक हो गया है। निजीकरण की धारणा के पीछे जो भावना है, वह है–कुछ सम्पन्न तथा मुनाफाखोर व्यक्तियों का शिक्षा के क्षेत्र में धनोपार्जन करना।

सार्वभौमीकरण का अर्थ है, "किसी विशेष संस्कृति के सभी नागरिकों की संबद्ध अनुक्रियायें (Conditioned responses) जो विचार, स्वभाव तथा जीवन शैली को निबद्ध करती है।" इस दृष्टि से किसी भी राष्ट्र की प्रगति उसके शिक्षित नागरिकों पर निर्भर करती है। 1947 में भारत में 15% साक्षरता थी जिस देश में 85% निरक्षर हों, उसे प्रगति के पथ पर ले जाने के लिए शिक्षा ही सशक्त माध्यम थी, इसीलिए संविधान में 6-11 आयु वर्ग के सभी बालक-बालिकाओं की सार्वभौम रूप से नि:शुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था की गई, सार्वभौम शिक्षा का लक्ष्य 1960 ई. तक प्राप्त हो जाना चाहिये था किन्तु साधनों के अभाव, जनसंख्या वृद्धि, पिछड़े वर्गों, अनुसूचित जाति, जनजाति, पिछड़े, तथा राजनीतिक दांवपेंचों ने अभी तक इस लक्ष्य को प्राप्त नहीं होने दिया। विकासशील तथा अविकसित देशों के सामने संसाधनों की कमी, जनसंख्या वृद्धि एवं जनसंख्या की अधिकता तथा अधिकांश देशों की दीर्घकालीन औपनिवेशिकता के परिणामस्वरूप सभी के लिये शिक्षा उपलब्ध कराना अत्यन्त कठिन कार्य रहा है।

2.20 अभ्यास-प्रश्न

1. व्यक्ति समाज और शिक्षा के आपसी सम्बंधों पर प्रकाश डालिये।
2. शिक्षा का समाज पर और समाज का शिक्षा पर प्रभावों की विवेचना कीजिये।
3. निजीकरण से क्या अभिप्राय है? वर्णन कीजिए।
4. निजीकरण को विकसित करने वाले संवैधानिक प्रावधानों का विवेचन कीजिए।
5. निजीकरण शिक्षा के लिए अभिशाप अथवा वरदान! विश्लेषण कीजिए।
6. शिक्षा के वैश्वीकरण से आप क्या समझते हैं? इसकी अवधारणात्मक प्रवृत्तियों की व्याख्या कीजिए।

7. भारतीय संदर्भ में "सभी के लिए शिक्षा" की अवधारणा को समझाइये।
8. दूरस्थ शिक्षा की अवधारणा और आवश्यकताओं का विवेचन कीजिए।
9. दूरस्थ शिक्षा प्रणाली के महत्व एवं उसकी विशेषताओं का वर्णन कीजिए
10. मुक्त विश्वविद्यालय अथवा खुले विश्वविद्यालय से आप क्या समझते हैं? संक्षिप्त वर्णन कीजिए।
11. मुक्त विश्वविद्यालय क्या है?
12. मापन तथा मूल्यांकन के उद्देश्य स्पष्ट कीजिए।
13. मापन की विभिन्न तकनीकियों के उपयोग तथा सीमाएं स्पष्ट कीजिए।
14. परीक्षण, अवलोकन से किस प्रकार भिन्न हैं।
15. प्रक्षेपी तकनीकि से क्या समझते हैं? इसका उपयोग स्पष्ट कीजिए।
16. सेमेस्टर प्रणाली से क्या समझते हैं? यह वार्षिक प्रणाली से कैसे भिन्न है?
17. सपुस्तकीय परीक्षा प्रणाली की विशेषताएं तथा सीमाएं स्पष्ट कीजिए।
18. अंकों की स्केलिंग क्यों आवश्यक है? इसके लाभ स्पष्ट कीजिए।
19. अंकों के स्थान पर ग्रेड को क्यों प्राथमिकता देनी चाहिए? ग्रेडिंग की सीमाएं स्पष्ट कीजिए।
20. एक अच्छे मूल्यांकन कार्यक्रम की विशेषताएं बताइये।

नोट

2.21 संदर्भ पुस्तकें

- अध्यापक शिक्षा–एन.आर. सक्सेना, बी.के. मिश्रा, आर.के. मोहन्ती; विनय रखेजा पब्लिशर्स, राज प्रिन्टर्स (यू.पी.)।
- पर्यावरण अध्ययन–डॉ. बृजविलास पाण्डेय; प्रकाशन केन्द्र लखनऊ।
- भारत में शिक्षा का विकास–प्रो. सुरेश भटनागर, डॉ. संजय कुमार; विनय रखेजा पब्लिशर्स, (यू.पी.)।
- शैक्षिक तकनीकी के मूल तत्व एवं प्रबंधन–डॉ. एस.के. मंगल, श्रीमती शुभ्रा मंगल; इण्टरनेशनल पब्लिशिंग हाउस (यू.पी.)।

नोट

अध्याय-3

महिला सशक्तिकरण

(Structure)

3.1 उद्देश्य
3.2 प्रस्तावना
3.3 स्त्रियों की स्थिति
3.4 स्त्रियों की स्थिति में परिवर्तन
3.5 महिला संगठनों का उदय
3.6 स्वातंत्रयोत्तर काल में स्त्रियाँ
3.7 स्त्रियाँ और रोजगार
3.8 स्त्रियों के अधिकार
3.9 अधिकार चेतना
3.10 लिंग समानता का आशय
3.11 स्त्री-शिक्षा के उद्देश्य
3.12 ब्रिटिश युग में स्त्री शिक्षा का विकास
3.13 स्वतंत्रता के पश्चात् स्त्री शिक्षा
3.14 स्त्री शिक्षा का प्रशासन और नियंत्रण
3.15 स्त्री-शिक्षा का पाठ्यक्रम
3.16 अभिभावक साक्षरता और शिक्षा
3.17 भारत में अभिभावक शिक्षा अभियान
3.18 अभिभावक-अध्यापक साझेदेदारी की प्रमुख विशेषताएँ
3.19 अभिभावक-अध्यापक साझेदारी के लिए कार्य क्षेत्र
3.20 अन्य चुनौतियां
3.21 सारांश
3.22 अभ्यास-प्रश्न
3.23 संदर्भ पुस्तकें

3.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- स्त्रियों की स्थिति, स्थिति में परिवर्तन तथा महिला संगठनों का उदय किस प्रकार हुआ समझने में;

- स्वातंत्रयोत्तर काल में स्त्रियों की स्थिति को जानने में;
- स्त्रियों के अधिकार तथा अधिकार चेतना की व्याख्या करने में;
- लिंग समानता का आशय जानने हेतु;
- ब्रिटिश युग में स्त्री शिक्षा का विकास जानने हेतु;
- स्वतंत्रता के पश्चात् स्त्री शिक्षा का अध्ययन करने हेतु;
- स्त्री शिक्षा का प्रशासन और नियंत्रण जानने हेतु;
- बच्चों के शिक्षण हेतु अभिभावकों की साक्षरता का महत्व समझ सकेंगे;
- भारत में अभिभावक शिक्षा के प्रयासों का वर्णन कर सकेंगे;
- अभिभावक-अध्यापक साझेदारी की विशेषताओं को समझा सकेंगे;
- अपने बच्चों की शिक्षा में माता-पिता का सहयोग लेने के लिए कार्यक्रम बनाने में;
- विद्यालय के प्रशासकों तथा शिक्षकों को सक्षम कर सकेंगे;
- विद्यालय के शिक्षकों को इस बात के लिए जागरूक कर सकेंगे कि वे अभिभावक-अध्यापक साझेदारी को प्रभावी बनाने के लिए क्या कार्यक्रम चलाएं;
- स्थानीय आवश्यकता और स्थितियों के मद्देनजर कार्यक्रमों को लागू करने की खातिर अभिभावक-अध्यापक संघ संगठित कर सकेंगे।

नोट

3.2 प्रस्तावना

वर्षों से कुछ समाजशास्त्री एवं गैर-समाजशास्त्री हमारे समाज में स्त्रियों की समस्याओं के मूल्यांकन एवं उनकी परिस्थिति में आ रहे परिवर्तनों के अध्ययन में प्रयत्नशील रहे हैं। कुछ लेखकों ने जब स्त्रियों के उत्तराधिकार, सार्वजनिक कायों में उनकी भागीदारी एवं विवाह में उनके कानूनी अधिकारों के संदर्भ में लिखा है, कुछ अन्य (लेखकों) ने पुरुषों द्वारा उनके साथ भेदभावपूर्ण व्यवस्था तथा विद्यमान रीति-रिवाजों के संदर्भ में विवेचन किए हैं। वैधानिक दृष्टि से स्त्रियों की स्थिति को ऊंचा उठाने के लिए चाहे कितने भी कदम उठाए गए हों, व्यावहारिक दृष्टि से उनके साथ भेदभावपूर्ण रवैया, तथा उनका तिरस्कार, अपमान व प्रताड़ना अभी भी जारी है। अब भी उनका मत जानने के लिए गंभीरता नहीं दर्शाई जाती, उन्हें पुरुषों के समान नहीं समझा जाता, तथा उनको उचित सम्मान नहीं दिया जाता। ऐसे उदाहरण हैं जहाँ कनिष्ठ पदाधिकारी स्त्रियाँ वरिष्ठ पुरुष पदाधिकारियों द्वारा परेशान की जाती हैं तथा वरिष्ठ अफसरों द्वारा कनिष्ठ कामकाजी महिला लिपिकों, टाइपिस्टों आदि के साथ दुर्व्यवहार किया जाता है। ऐसे प्रकरण भी सामान्य रूप से मिलते हैं जिनमें पुरुष अपने अधीन कार्यरत महिलाओं के साथ टेलीफोन एक्सचेन्जों में, सचिवालयों में, समाचार पत्र कार्यालयों में, पंचतारा होटलों में, दूरदर्शन केन्द्रों में, विश्वविद्यालयों तथा विद्यालयों में, तकनीकी संस्थानों आदि में संसूचक प्रस्ताव (suggestive overtunes) रखतें हैं व कामुक रूप से हैरान करते हैं।

स्त्री पुरुषों के सम्बन्धों में, सबल व्यक्तित्व वाला व्यक्ति ही प्रभावशाली स्थिति प्राप्त करता है। सामान्य रूप से, पुरुष स्त्री पर आधारिक आज्ञा देने का अधिकार समझता है, यद्यपि कुछ मामलों में स्त्री भी पुरुष के ऊपर नियंत्रण रखने की स्थिति में रहती है। भारतीय संस्कृति में प्रारम्भ से ही समूह के रूप में स्त्रियों पर पुरुषों ने प्रभुत्व जमाया है और समाज व परिवार में उनकी स्थिति निम्न रखी है। 1930 और 1940 के दशकों में सामाजिक राजनैतिक नेताओं की समानता के लिए प्रतिबद्धता ने

नोट

भारतीय महिलाओं के उदार समतावादी मूल्यों के लिए किय जा रहे आन्दोलन को प्रभावित किया। स्त्रियों की दशा में इस परिवर्तन के अध्ययन के लिए हम प्राचीन काल से ही प्रारम्भ करेंगे।

''महिला सशक्तिकरण के आंदोलन ने भारत में लिंगीय समानता की माँग को मुखर कर दिया है। जिसकी पूर्ति करना अब अपरिहार्य हो गया है।'' भारतीय स्त्री ने विविध क्षेत्रों में मार्गदर्शन और नेतृत्व किया है। लक्ष्मीबाई (झाँसी की रानी), सरोजिनी नायडू, ऐनी बेसेंट, कमला नेहरू, कस्तूरबा गाँधी, इंदिरा गाँधी जैसी विदुषी महिलाओं ने युद्ध-कौशल, सामाजिक सुधार, राजनैतिक सुधार और आर्थिक नियोजन में भारी योग दिया है।

अभिभावक, परिवार प्रणाली के महत्वपूर्ण घटक हैं। वे अपने बच्चों के वयस्क होने तक उनकी देखरेख की महत्वपूर्ण जिम्मेदारी निभाते हैं। परिवार बच्चे को सामाजिक बनाने की प्रक्रिया बड़े हद तक पूरी करता है और उसके मानसिक विकास को भी प्रभावित करता है। बच्चे की देखभाल दुनिया भर में की जाती है। इस नजरिये का समर्थन विभिन्न मानवशास्त्रीय अध्ययनों और शोधों में भी किया गया है। परिवार के सदस्यों के लिंग के आधार पर उनकी भूमिका निर्धारित करने का काम परिवार करता है। वह उनके आपसी व्यवहार, अन्तरसंबंध, समुचित सामाजिक रवैये आदि को भी स्थापित करता है। परिवार संदर्भ का एक ऐसा आधारभूत ढांचा तैयार करता है, जिसकी मदद से बच्चा बड़े समाज को देखता-समझता है।

इस बारे में अनेक शोध किए गए हैं जो दर्शाते हैं कि अभिभावकों की भागीदारी और विद्यार्थी की सफलता के बीच सकारात्मक संबंध है। अपने बच्चों की शिक्षा में अभिभावकों या परिवार की हिस्सेदारी किसी भी अन्य सुधार कार्यक्रम की अपेक्षा कहीं ज्यादा असरदार होती है। शिक्षकों को अभिभावक-अध्यापक साझेदारी का महत्व समझते हुए अभिभावकों को उनके बच्चों की शिक्षा में भागीदार बनाना चाहिए। शिक्षक के तौर पर आपको यह जानना चाहिए कि अभिभावकों का सहयोग आप कैसे प्राप्त कर सकते हैं। इस बारे में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर हुए शोधों, सिद्धान्तों तथा अनुभवों के आधार पर कुछ मानक बनाए गए हैं। पिछली इकाई में आपने पढ़ा था कि भारत में सर्वशिक्षा अभियान जैसे सरकारी कार्यक्रमों के तहत विद्यालय के प्रबंधन के लिए ग्राम शिक्षा समिति तथा अभिभावक-अध्यापक संघ जैसे ढांचों को लगाया गया। गांव के सभी वर्गों के प्रतिनिध्यिों को साथ लेकर ये संस्थाएं प्राथमिक विद्यालयों के कामकाज और उनकी सुविधाओं की देखरेख करती हैं। इस तरह वे विभिन्न वर्गों से आने वाले सामाजिक या शारीरिक तौर पर वंचित बच्चों की शिक्षा संबंधी जरूरतों को लेकर जागरूकता पैदा करने के काम में स्थानीय समुदाय की भागीदारी सुनिश्चत कर पाती हैं। ऐसे बच्चों के माता-पिता अपने बच्चों की पढ़ाई में दिलचस्पी लेने के लिए प्रेरित होते हैं और विद्यालय की शैक्षणिक प्रक्रिया में सांस्कृतिक तथा पारंपरिक तौर पर अपना योगदान दे पाते हैं।

इस इकाई में हम अपने बच्चों की पढ़ाई में माता-पिता के योगदान की आवश्कता और उसके महत्व पर प्रकाश डालेंगे। इसमें अभिभावक-अध्यापक संबंधों के उन पहलुओं पर भी चर्चा की जाएगी, जो अभिभावक और विद्यालय के बीच की साझेदारी को प्रभावी बनाते हैं।

3.3 स्त्रियों की स्थिति

प्राचीन भाारत में स्त्रियों की स्थिति से संबंधित दो विचार सम्प्रदाय मिलते हैं। एक सम्प्रदाया का कहना है कि स्त्रियाँ ''पुरुषों के बराबर'' थीं, जबकि दूसरे सम्प्रदाय की मान्यता है कि स्त्रियों का न केवल अपमान ही होता था, बल्कि उनके प्रति घृणा भी की जाती थी। दोनों की सम्प्रदायों ने

नोट

अपने दृष्टिकोण की पुष्टि में धार्मिक साहित्य से उदाहरण दिए हैं। आपस्तम्ब ने निर्दिष्ट किया था। ''जब स्त्री रास्ते में जा रही हो तो सभी उसे रास्ता दें''। हम जिनका सम्मान करते हैं उनके साथ यही व्यवहार करते हैं, अत: यह दर्शाता है कि स्त्रियों को उच्च स्थान प्राप्त था। मनु ने कहा था, ''जहाँ स्त्रियों की दुर्दशा होती है वहाँ सम्पूर्ण परिवार विनाश को प्राप्त होता है, किन्तु जहाँ वे सुखी हैं वहाँ परिवार सदैव समृद्धि को प्राप्त करता है।'' याज्ञवल्क ने भी कहा है: ''स्त्रियाँ पृथ्वी पर समस्त दैवीय गुणों का प्रतीक है सोम ने अपनी समस्त पवित्रता उन्हें प्रदान की है। गान्धर्व ने मृदु वाणी, तथा अग्नि ने उन्हें अत्यन्त आकर्षक बनाने के लिए अपनी समस्त चमक उन पर न्योछावर कर दी है।'' स्त्रियों के विषय में इतने ऊँचे आदर्श रामायण एवं महाभारत में भी स्थान-स्थान पर दोहराए गए हैं। महाभारत काल में स्त्रियाँ न केवल गृहस्थ जीवन का केन्द्र थी बल्कि समस्त सामाजिक संगठन की आधार-बिन्दु थीं। ऐसी आशा की जाती थी कि पुरुष अपनी पत्नी की इच्छा के आगे नत होगा तथा उसकी सेवा व पूजा करेगा।

यह चित्र का एक पक्ष है। इसका दूसरा पक्ष भी है। स्त्रियों को कमजोर मन वाली मानकर उन्हें विश्वास के योग्य नहीं समझा जाता था। उन्हें पुरुषों की शारीरिक इच्छाओं की पूर्ति का साधन मात्र समझा जाता था तथा उनके लिए सन्तान प्राप्ति का साधन भी। महाभारत में एक स्थल पर कहा गया है, ''स्त्रियों से अधिक पाप की अन्य कोई वस्तु नहीं हैं ''स्त्री सभी बुराइयों की जड़ है।'' कोई भी अन्य जीवधारी इतना पापी नहीं होता जितनी स्त्री। स्त्री प्रज्ज्वलित ज्वाला है। वह माया रचित एक भ्रम है, वह उस्तरे की तेज धार है, वह अग्नि है''। रामायण में कहा गया है कि, ''स्त्रियों के मुख पुरुषों की भाँति हैं, उनके शब्द मधु की बून्दों की भाँति हैं, किन्तु उनके मन तेज उस्तरे की भाँति हैं उनके मन की थाह किसी को नहीं हो सकती है।'' जिस प्रकार मनु स्त्रियों को आधिपत्य की वस्तु मानना चाहते थे तथा जिस प्रकार युधिष्ठिर द्वारा द्यूत क्रीड़ा में द्रौपदी को दाँव पर लगाया गया था, उससे तो यही सिद्ध होता है कि सभ्यता के प्रारम्भिक युगों में स्त्रियों को गुलाम तथा मूल्यवान प्रतिभूति (chattel) ही माना जाता था।

उपरोक्त सन्दर्भित उदाहरणों को समाज में स्त्रियों की सही स्थिति बताने के लिए विश्वसनीय आधार नहीं माना जा सकता। विभिन्न कथन पृथक सन्दर्भो में दिए गये थे। यदि भीष्म ने कहा था, ''पति को चाहिए कि वह पत्नी को सम्पत्ति के रूप में समझे'', यदि भगवान राम ने कहा था ''मैं अपना समस्त राज्य उत्तराधिकार, यहाँ तक कि अपनी पत्नी और सभी मूल्यों को भरत को स्वेच्छा से प्रदान कर सकता हू'', तो यह सब केवल प्रसंग वश ही कहा गया था। स्त्रियों की वास्तविक स्थिति का मूल्यांकन उनके आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक एवं धार्मिक अधिकारों के प्रकाश में विश्लेषण द्वारा किया जा सकता है।''

वैदिक और उत्तर-वैदिक काल में स्त्रियाँ

वैदिक एवं उत्तर-वैदिक काल में स्त्रियों की स्थिति का निर्धारण इस तथ्य से किया जा सकता है कि उनको कितनी स्वतंत्रता प्राप्त थी तथा उन पर किस सीमा तक प्रतिबन्ध लगे हुए थे। वैदिक तथा रामायण-महाभारत (महाकाव्य) काल में स्त्रियाँ कभी भी पर्दा नहीं करती थीं। उन्हें अपने जीवन साथी के वरण में स्वतंत्रता प्राप्त थी। वे शिक्षा प्राप्त कर सकती थीं। विधवाओं को पुनर्विवाह की अनुमति थी, यद्यपि विवाह-विच्छेद की अनुमति उन्हें प्राप्त नहीं थी। पुरुषों को भी यह अनुमति प्राप्त नहीं थी। घर में उन्हें पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त थी और उन्हें अर्द्धंगिनी माना जाता था।

''गृहस्थ जीवन में स्त्रियाँ सर्वोपरि होती थीं। इस प्रकार सामाजिक क्षेत्र में स्त्रियों की स्थिति

नोट

पूर्णरूपेण असहायों की स्थिति नहीं थी, बल्कि उनकी स्थिति एक ऐसे व्यक्ति की तरह थी जो न्याय एवं औचित्य से प्रेरित थी। आर्थिक क्षेत्र में भी स्त्रियों को पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त थी। वे न कहीं नौकरी करती थीं और न धन अर्जन क्योंकि उनके लिए यह आवश्यक नहीं था। घर उत्पादन का केन्द्र था; वस्त्र बनाने का काम घर पर ही होता था। स्त्रियाँ कृषि कार्यो में भी अपने पति की सहायता करती थीं। कुछ स्त्रियाँ अध्यापन कार्य में भी व्यस्त होती थीं।

सम्पत्ति के उत्तराधिकार के विषय में स्त्रियों को कोई अधिकार प्राप्त नहीं थे। यद्यपि पुत्री के रूप में स्त्रियों का अपने पिता की सम्पत्ति में कोई भाग नहीं होता था, फिर भी प्रत्येक अविवाहित पुत्री को अपने भाइयों को मिलने वाले पितृ धन का एक चौथाई भाग प्राप्त करने का अधिकार था। मृत्यु के पश्चात् माँ की सम्पत्ति पुत्रों और अविवाहित पुत्रियों में समान रूप से बांटी जाती थी। विवाहित पुत्रियों को केवल सम्मान स्वरूप थोड़ा ही भाग मिलता था। स्त्रीधन की उत्तराधिकारी केवल अविवाहित पुत्रियाँ होती थीं। पत्नी के रूप में स्त्री का अपने पति की सम्पत्ति में कोई प्रत्यक्ष भाग नहीं होता था। परन्तु परित्यक्ता को अपने पति के धन का एक तिहाई भाग प्राप्त करने का अधिकार था। यदि पत्नी गरीब होती थी तो पति उसके भरण पोषण के लिए गुजारा भत्ता देने के लिए बाध्य था। किन्तु यदि सम्पत्ति का बंटवारा पति के जीवन काल में ही हो गया होता तो पत्नी को पुत्रों के बराबर का भाग मिलता था। विधवा स्त्री को संयमी व वैरागी जीवन व्यतीत करना पड़ता था। अत: उसे अपने पति को सम्पत्ति से कोई भाग देय नहीं होता था। विधवा माँ के रूप में उसे कुछ अधिकार थे। इससे यह स्पष्ट होता है कि यद्यपि स्त्रियों के साथ सम्पत्ति में अधिकार के विषय में पक्षपात पूर्ण व्यवहार किया जाता था, फिर भी पत्नी और पुत्री के रूप में उन्हें कुछ संरक्षण प्राप्त था।

स्त्रियों की राजनैतिक स्थिति देश में राजनैतिक दशा एवं विद्यमान राजनैतिक प्रणाली पर निर्भर करती है। प्राचीन भारत में राजनैतिक प्रणाली राजतंत्र पर आधारित थी। इसलिए विधान सभा, राजनैतिक दल, कूटनीतिक सम्बन्ध, तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन आदि नहीं थे। ऐसी परिस्थितियों में स्त्रियों को मताधिकार या चुनाव लड़ने की स्वतन्त्रता का प्रश्न ही नहीं उठता था। स्त्रियों को सभाओं में प्रवेश की अनुमति नहीं थी क्योंकि इन स्थानों का प्रयोग राजनैतिक विचार-विमर्श के अलावा जुआ तथा मद्यपान आदि के लिए भी किया जाता था। कुछ उदाहरण ऐसे अवश्य हैं जबकि स्त्रियाँ अपने पति के साथ युद्ध स्थल में जाती थीं, जैसे रामायण में कैकयी का युद्ध में जाना। मेगस्थनीज ने चन्द्रगुप्त मौर्य के महल में सशस्त्र महिला अंगरक्षकों का संदर्भ दिया है कौटिल्य ने भी 'अर्थशास्त्र' में सशस्त्र महिला अंग रक्षकों की बात कही है जो तीर कमान से सुसज्जित सैनिकों के रूप में होती थीं। अत: जब पुरुषों को ही राजनैतिक अधिकार प्राप्त नहीं थे तब स्त्रियों की अपनी अलग से राजनैतिक परिस्थिति कैसे हो सकती थी।

धार्मिक क्षेत्र में पत्नी समस्त अधिकारों का उपभोग करती थी तथा नियमित रूप से अपने पति के साथ समस्त धार्मिक कृत्यों व संस्कारों में भाग लेती थी। वास्तव में, धार्मिक कृत्य तब तक अपूर्ण माना जाता था जब तक पत्नी उसमें भाग नहीं लेती थी। स्त्रियाँ धार्मिक वार्तालापों में सक्रिय रूप से भाग लेती थीं। वैज्ञानिक धार्मिक सिद्धान्तों एवं रीतियों के संहिताकरण करने हेतु जनक जैसे राजाओं द्वारा आयोजित विश्व की अनोखी धर्मी एवं सम्प्रदायों के सम्मेलनों में गार्गी, ब्राह्मवादिनी, वाचाक्नबी जैसी विदूषी महिलाओं का भाग लेना एवं पुरुषों के साथ शास्त्रार्थ करना इस सत्य का द्योतक है कि प्राचीन भारत में स्त्रियों का धार्मिक क्षेत्र में उच्च स्थान था। जैमिनी की 'पूर्व मीमांसा'

नोट

में, जिसकी टीका सबर स्वामी ने लिखी, वर्णित है कि उच्चतम धार्मिक संस्कारों में स्त्री पुरुष की भागीदारी बराबर की होती थी। हेमाद्रि ने शिक्षित अविवाहित कन्याओं (कुमारी) को 'विदूषी' कहा है और बताया कि ऐसी कन्याओं का विवाह बराबर के शिक्षित वर, जिसे 'मनीषी' कहते थे, से ही किया जाना चाहिए। इस प्रकार निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि वैदिक भारत में स्त्रियों की स्थिति निम्न नहीं थी। सामाजिक और धार्मिक क्षेत्रों में उन्हें अत्यधिक अधिकार प्राप्त थे लेकिन आर्थिक एवं राजनैतिक क्षेत्रों में उनके अधिकार सीमित थे।। उन्हें पुरुषों के अधीन नहीं माना जाता था बल्कि पुरुषों के समान समझा जाता था।

पौराणिक काल में स्त्रियाँ

पौराणिक काल में स्त्रियों की स्थिति में कमी आयी। (हिन्दु समाज में धार्मिक ग्रन्थों का ऐतिहासिक क्रम इस प्रकार से है: वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, गृह-सूत्र, धर्मशास्त्र, स्मृतियाँ, रामायण व महाभारत और पुराण)। सामाजिक क्षेत्र में, पूर्व यौन परिपक्व (pre-puberty) विवाह का प्रचलन प्रारम्भ हुआ, विधवा विवाह का निषेध होने लगा, पति को स्त्री के लिए भगवान का स्तर दिया जाने लगा, स्त्रियों के लिए शिक्षा का पूर्ण निषेध प्रारम्भ हुआ, सती प्रथा प्रचलन में आई, पर्दा प्रथा प्रारम्भ हुई, तथा बहुपत्नी प्रथा व्यवहार में स्वीकार की जाने लगी। ''एक पत्नी और गुलाम सम्पत्ति के अधिकारी नहीं होते, मान्यता के आधार पर स्त्री को उसके पति की सम्पत्ति में भाग से वंचित कर दिया गया। धार्मिक क्षेत्र में स्त्री को बलिदान भेंट करने से, प्रार्थना से, हट योग से तथा तीर्थ यात्रा करने से भी वंचित कर दिया गया।''

प्रभाती मुखर्जी ने पौराणिक काल में स्त्रियों की निम्न स्थिति के कारणों को बताते हुए अल्टेकर (1938), विन्टरनिज (1920), मित्तर और चौधरी (1956) को उद्धृत किया है। ये कारण हैं: सम्पूर्ण समाज पर ब्राह्मणों द्वारा थोपे गए संयमों के कारण, जाति प्रथा द्वारा लगाए प्रतिबन्धों के कारण संयुक्त परिवार के कारण, स्त्रियों के लिए शिक्षा की कम सुविधाओं के कारण, आर्य परिवार में गैर-आर्य पत्नी का प्रवेश, तथा विदेशी आक्रमणों के कारण।

बौद्ध काल में स्त्रियाँ

बौद्ध धर्म का उदय हिन्दूवाद पर प्रतिक्रिया के फलस्वरूप हुआ। ब्राह्मण तथा पुराणों के काल में स्त्रियों पर अनेक अन्यायपूर्ण एवं अनुचित सामाजिक निषेध थोप दिए गए, जैसे पूर्व यौन परिपक्वता विवाह, शिक्षा के अधिकार से वंचित करना, जीवन साथी चुनने का अधिकार न देना धार्मिक विचार विमर्श में भाग लेने की अनुमति न होना, आदि। बौद्ध काल में स्त्रियों की स्थिति में कुछ सुधार हुआ। धार्मिक क्षेत्र में स्त्रियों को स्पष्ट रूप से उत्कृष्ट स्थान प्राप्त हुआ। उनका अपना संघ बना जिसे भिक्षुणी संघ कहा गया। इस संघ के भी वही नियम निर्देश थे जो 'भिक्षुओं' के थे। संघ ने स्त्रियों को सांस्कृतिक कार्यक्रमों, समाज सेवा तथा सार्वजनिक जीवन में अनेक स्थलों पर भाग लेने के अवसर प्रदान किए। सामाजिक क्षेत्र में उन्हें सम्मानित स्थान प्राप्त हुआ, यद्यपि उनकी आर्थिक व राजनैतिक स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ।

मध्य काल में स्त्रियाँ

भारत पर मुसलमानों का प्रथम आक्रमण आठवीं शताब्दी में हुआ, जिस काल में शंकराचार्य जीवित थे। शंकराचार्य के नेतृत्व में हिन्दू समाज बढ़ते हुए बौद्ध धर्म का सामना करने की विधियाँ खोजने

में व्यस्त था। शंकराचार्य ने बौद्ध धर्म के बढ़ते प्रभाव को कम करने के उद्देश्य से वेदों की उत्कृष्टता (supremacy) पर पुनः बल दिया और वेदों में स्त्रियों को समानता का अधिकार प्राप्त था। ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य तक जब ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना हुई, अथवा लगभग 700 वर्षों तक, सामाजिक संस्थाओं का विखण्ड, परम्परागत राजनैतिक संरचना में उथल-पुथल, बड़ी संख्या में लोगों का प्रवासन, तथा देश में आर्थिक मन्दी, आदि ने देश में सामाजिक जीवन में, विशेष रूप से महिलाओं के पतन में, योगदान दिया। पर्दा प्रथा इस सीमा तक बढ़ गई कि स्त्रियों के लिए कठोर एकान्त तक नियम ही बन गया। शिक्षण की सुविधा पूर्णरूपेण समाप्त हो गई। तथापि, पंद्रहवीं शताब्दी में स्थिति में कुछ परिवर्तन आया। इसी अवधि में रामानुजाचार्य ने प्रथम भक्ति आन्दोलन का आयोजन किया जिसने भारत की स्त्रियों के धार्मिक व सामाजिक जीवन में नवीन प्रवृत्तियों का सूत्रपात किया। चैतन्य, नानक, मीरा, कबीर, रामदास, तुलसी व तुकाराम जैसे सन्तों ने स्त्रियों के लिए धार्मिक पूजा/अर्चना का सबल पक्ष प्रस्तुत किया। यद्यपि उनकी (भक्तों को) स्त्रियों के प्रति धारणा उनके समय के प्रचलित दृष्टिकोण से मुक्त नहीं थी, फिर भी इस आन्दोलन ने स्त्रियों की धार्मिक स्वतंत्रता का मार्ग प्रशस्त कर दिया। पर्दा प्रथा समाप्त कर दी गई, कथा व भजन कीर्तन में जाने से स्त्रियाँ घरेलू काम काज से कापफी मुक्त हो गयीं। भक्ति आन्दोलन में गृहस्थाश्रम पर बल दिया गया, परन्तु सन्तों को अपनी पत्नी की इच्छा के बिना सन्यास लेने की अनुमति प्रदान नहीं की गई। इसमें स्त्रियों के महत्वपूर्ण अधिकार निहित थे। इस आन्दोलन के दूसरे प्रभाव भी हुए। मनु के समय से ही स्त्रियों को शिक्षा से रोक दिया गया था। सन्तों ने स्त्रियों को धार्मिक पुस्तकों के अध्ययन व स्वयं को शिक्षित बनाने के लिए प्रेरित किया। इस प्रकार भक्ति आन्दोलन ने स्त्रियों में नये प्राणों का संचार किया। किन्तु इस आन्दोलन ने आर्थिक संरचना में कोई परिवर्तन नहीं किया। अतः स्त्रियों की निम्न स्थिति बनी रही। बाद में ब्रिटिश शासन के प्रभाव के कारण उनकी स्थिति में सुधार हुआ।

3.4 स्त्रियों की स्थिति में परिवर्तन

अठारहवीं, उन्नसवीं व मध्य बीसवीं शताब्दी तक अंग्रेज भारत के शासक बने रहे। ब्रिटिश शासन की अवधि में हमारे समाज की सामाजिक व आर्थिक संरचनाओं में अनेक परिवर्तन किए गए। यद्यपि ब्रिटिश शासन के 200 वर्षों की अवधि में स्त्रियों के जीवन में अदृश्य सुधार तो हुआ, फिर भी शिक्षा, रोजगार, सामाजिक अधिकारों, आदि को लेकर स्त्री पुरुषों के बीच असमानताओं में कमी आयी। यहाँ हम परिवर्तन के उन पहलुओं की व्याख्या करेंगे जिन्होंने महिलाओं की स्थिति को प्रभावित किया। छः महत्त्वपूर्ण पक्ष जिन्होंने महिलाओं की स्थिति में परिवर्तन को प्रभावित किया, इस प्रकार हैं: (i) औद्योगीकरण (ii) शिक्षा का विस्तार (iii) जाति प्रथा का कमजोर होना (iv) कुछ प्रबुद्ध नेताओं द्वारा चलाए गए सामाजिक आन्दोलन (v) स्त्रियों के संगठनों का विकास और (vi) सामाजिक विधानों का परित किया जाना।

ब्रिटिश काल के आर्थिक परिवर्तन बड़े निर्णायक थे। मशीनी उद्योगों के विकास और हस्तशिल्प का विनाश दोनों ने ही स्त्री व पुरुषों की आजीविका पर गंभीरतम आघात् किया। अंग्रेजों द्वारा विकसित की गई आर्थिक संरचना देश-भक्ति या जन हित के लिए नहीं की गई थी। मूलतः शासक वर्ग के हितों की रक्षा के लिए ही देश के संसाधनों का दोहन किया गया था। किन्तु औद्योगीकरण ने अनेक परिवर्तनों के लिए मार्ग खोला, जैसे लोगों की गतिशीलता, संचार एवं आवागमन के साध

नों का विकास, जजमानी प्रथा कमजोर होना, रोजगार के नये अवसरों की उपलब्धता, आदि। इन सब से नये मूल्यों एवं नये व्यवहार के तरीकों का उदय हुआ।

शिक्षा का विस्तार

नोट

स्त्रियों को शिक्षा दिये जाने का विचार ब्रिटिश शासन काल में उदय हुआ। इससे पूर्व यह एक सार्वभौमिक मान्यता थी कि स्त्रियों को शिक्षा की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि उन्हें आजीविका का अर्जन नहीं करना है। भक्ति आन्दोलन के बाद ईसाई मिशनरियों ने स्त्रियों की शिक्षा में रुचि लेना प्रारम्भ किया। 1824 में सबसे पहली बार लड़कियों का स्कूल बम्बई में प्रारम्भ हुआ। लार्ड डलहौजी ने भी घोषणा की कि परिवार के बच्चों को शिक्षा देने की अपेक्षा अन्य कोई भी परिवर्तन भारत के लोगों के जीवन के लिए लाभकारी एवं महत्त्वपूर्ण सिद्ध नहीं हो सकता। 1875 तक कलकत्ता, मद्रास व बम्बई विश्वविद्यालयों ने लड़कियों को प्रवेश की अनुमति प्रदान नहीं की थी। केवल 1882 के बाद ही लड़कियों का उच्च शिक्षा प्राप्त करने की अनुमति प्रदान की गई। तब से स्त्रियों की शिक्षा के क्षेत्र में निरन्तर प्रगति होती रही है। भारत में स्त्रियों की साक्षरता प्रतिशत में वृद्धि इस प्रकार रहीं है। 1901 में 0.6% से 1931 में 2.93%, 1941 में 7.30%, 1961 में 12.95%, 1971 में 18.69%] 1981 में 24.88% और 1991 में 39.42% (Handbook of Social Welfare Statistics, Ministry of Social Welfare, Government of India, 1981, 1985; and Census of India, 1991) ग्रामीण क्षेत्रों में शिक्षित महिलाओं की सं,या शहरी महिलाओं की तुलना में बहुत कम है। 1981 में ग्रामीण क्षेत्रों में 17.99% शिक्षित महिलाओं की तुलना में शहरी क्षेत्रों में यह संख्या 47.65% थी। 1979-80 में प्राइमरी स्तर पर (पहली से पांचवी कक्षा) पढ़ने वाले 789 लाख छात्रों में से 38.95% लड़कियाँ, थीं मिडिल स्तर के (छठीं से आठवीं कक्षा) 187 लाख छात्रों में से 32.90% लड़कियाँ थी; हाईस्कूल (नवीं और दसवीं कक्षा) में पढ़ने वाले 751 लाख छात्रों में 29.24% लड़कियाँ थीं तथा कक्षा 11 व 12 में अध्यनरत छात्रों की 110 लाख संख्या में से 32.25% लड़कियाँ थी। यह दर्शाता है कि स्कूल स्तर पर अध्यनरत छात्रों और छात्राओं का अनुपात 3:1 है। उच्च शिक्षा एवं व्यावसायिक शिक्षा (डॉक्टर, इंजीनियर, वकील, अध्यापिका) प्राप्त करने वाली लड़कियों का प्रतिशत अपेक्षाकृत कम है।

स्कूल में अध्यनरत प्रत्येक 100 लड़कियों में से 62 प्राइमरी स्तर पर, 26 मिडिल स्तर पर, तथा 12 हाईस्कूल स्तर पर अध्यनरत हैं, अत: यह कहा जा सकता है कि यद्यपि इन विविधा स्तरों पर अध्यनरत लड़कियों की संख्या कम है, फिर भी यह स्पष्ट है कि 1941 के बाद से लड़कियों की संख्या में प्रत्येक स्तर पर ही उल्लेखनीय वृद्धि हुई है।

कुछ प्रबुद्ध नेताओं द्वारा चलाए गए सामाजिक आन्दोलन

उन्नसवीं शताब्दी के अन्त में भारत में स्त्रियों को अनेक निर्योग्यताओं को भोगना पड़ा, जैसे बाल-विवाह, बहु पत्नी विवाह, विवाह के उद्देश्य से लड़कियों की बिक्री, विधवाओं पर कठोर प्रतिबन्ध, शिक्षा प्राप्त करने पर प्रतिबन्ध तथा गृहस्थ कार्यो तथा बच्चों के लालन-पालन तक ही अपने को सीमित रखना आदि। न्यायमूर्ति रानाडे द्वारा आयोजित भारतीय राष्ट्रीय सभा, 1885 ने उपरोक्त निर्योग्यताओं की निन्दा की। राजा राम मोहन राय ने, जिन्होंने सती प्रथा उन्मूलन के लिए महत्वपूर्ण कार्य किया, बाल विवाह तथा पर्दा प्रथा के विरुद्ध भी आवाज उठाई और स्त्रियों के उत्तराधिकार के लिए भी संघर्ष किया। ईश्वर चन्द्र विद्यासागर ने विधवाओं के पुनर्विवाह के लिए आन्दोलन चलाया और स्त्रियों

नोट

की शिक्षा के लिए भी वकालत की। महर्षि कर्वे ने भी विधवा-विवाह और स्त्रियों की शिक्षा की समस्या को उठाया। उन्होंने 1916 में एस.एन.डी.टी. विश्वविद्यालय, महाराष्ट्र में स्थापित किया। बड़ौदा राज्य के शासक, महाराजा सायाजी राव गायकवाड़ ने भी बाल विवाह व बहु पत्नी विवाह रोकने, स्त्रियों को शिक्षा का अधिकार दिलाने, तथा विधवाओं को पुनर्विवाह का अधिकार दिलाने के लिए अथक प्रयत्न किया। स्वामी दयानन्द सरस्वती, स्वामी विवेकानन्द और महात्मा गाँधी ने भी स्त्रियों के राजनैतिक व सामाजिक अधिकारों के प्रति रूचि दिखाई। गांधी जी का मत था कि स्त्रियों को कार्य करने में वे कष्ट नहीं भोगने चाहिए जो पुरुष न भोग सकते हों। वे पुत्र और पुत्रियों को एक समान मानने के पक्षधर थे। विविधा नेताओं के सामाजिक आन्दोलनों के चलाने का एक लाभ यह हुआ कि स्त्रियों के समान अधिकारों व मुक्ति के लिए सामाजिक चेतना जागृत करने में सफलता प्राप्त हुई।

3.5 महिला संगठनों का उदय

महिलाओं के एक संगठन, जैसे, बंग महिला समाज व महिला थियोसोफिकल सोसायटी, स्त्रियों के लिए आधुनिक आदर्शो के लिए स्थानीय स्तर पर कार्य कर रहे थे। किन्तु अग्रणी कार्य उन संगठनें द्वारा किया गया जो राष्ट्रीय स्तर पर कार्य कर रहे थे। इनमें से पांच प्रमुख संगठन थे: भारत महिला परिषद् (जो 1904 में स्त्रियों की मुक्ति के संघर्ष हेतु प्रारम्भ हुआ), भारत स्त्री महामण्डल (1910 में स्थापित), महिला भारतीय संघ (Women's Indian Association) (1917 में ऐनी बेसेन्ट द्वारा संचालित), भारतीय महिला राष्ट्रीय परिषद् (National Council of Women in India) (1925 में लेडी एबरडन तथा लेडी टाटा द्वारा प्रारम्भ किया गया), तथा आल इण्डिया वूमेन्स कान्फरेन्स (मार्गरेट कसिन्स तथा अन्य द्वारा 1927 में स्थापित)। कस्तूरबा गांधी की मृत्यु के उपरान्त कस्तूरबा गांधी राष्ट्रीय स्मारक ट्रस्ट प्रारम्भ किया गया। इन सब संगठनों ने स्त्रियों की शिक्षा, पर्दा व बाल विवाह जैसी बुराइयों का उन्मूलन, हिन्दू अधिनियमों में सुधार, स्त्रियों की नैतिक व भौतिक प्रगति, अधिकारों व अवसरों की समानता और स्त्रियों के मताधिकार जैसे मामलों को उठाया। कहा जा सकता है कि भारतीय स्त्रियों के आन्दोलनों ने दो लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए कार्य किया: (i) स्त्रियों के उत्थान के लिए, अर्थात् सामाजिक रीतियों में सुधार कर स्त्रियों को समाज में रचनात्मक भूमिका के लिए योग्य बनाना, (ii) महिलाओं को पुरुषों के बराबर व समान अधिकार दिलाना अर्थात् पुरुषों को मिले हुए राजनैतिक, आर्थिक व नागरिक अधिकारों को स्त्रियों को भी उपलब्ध कराना। पहले लक्ष्य को 'सामूहिक नारीवादी लक्ष्य' तथा दूसरे को ''उदार नारीवादी लक्ष्य'' कहा जा सकता है। इन महिला संगठनों ने जिन रणनीतियों को अपनाया वे हैं: जन सभाओं में माँगें रखकर सरकारी अधिकारियों के समक्ष विचार रखकर, समस्याओं के आंकलन के लिए समितियाँ बनाकर तथा स्त्रियों को आन्दोलित करने के लिए सभाओं का आयोजन करके।

भारतीय महिला आन्दोलनों को प्रेरित करने वाले कारक हैं: स्त्रियों की सहायक भूमिका की विचारधारा पर पश्चिमी शिक्षा का प्रभाव, शिक्षित व कुलीन स्त्रियों द्वारा कुशल नेतृत्व प्रदान किया जाना, धर्म द्वारा मान्यता प्राप्त सामाजिक प्रथाओं में परिवर्तन के लिए पुरुष समाज सुधारकों द्वारा रुचि लेना, सामाजिक, धार्मिक एवं दार्शनिक दृष्टिकोणों में परिवर्तन, स्वयंसेवी संगठनों का पुरुषों द्वारा विरोध न करना, तथा राष्ट्रीय राजनैतिक नेताओं का इन आन्दोलनों का समर्थन करना आदि। 1953 में भारत सरकार द्वारा स्थापित केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड भी स्त्रियों के कल्याण के लिए ऐच्छिक प्रयत्नों को बल प्रदान करता है तथा प्रोत्साहन देता है। भारत सरकार का कल्याण मंत्रालय भी नगरों में कामकाजी महिलाओं के आवास गृह निर्माण व विस्तार हेतु स्वैच्छिक संगठनों को अनुदान

देता है। राज्य सरकारें भी अपनी योजनाओं के माध्यम से धन प्रदान करती हैं ताकि जन सहयोग से महिला मण्डल, गृह कल्याण केन्द्र, साक्षरता केन्द्र, ग्रामीण महिलाओं के लिए ट्रेनिंग कैम्पों का आयोजन तथा केवल महिला सदस्यों के सहयोग से सहकारी समितियों का संचालन किया जा सके।

नोट

सामाजिक विधानों का पारित किया जाना

स्त्रियों से संबंधित कुछ विधानों का परित किया जाना तीन तत्त्वों से संबंधित है: (i) विवाह (ii) सम्पत्ति (iii) रोजगार। विवाह संबंधी विधान विशेष रूप से विवाह की आयु, पुनर्विवाह, विवाह विच्छेद, विवाह का स्वरूप तथा जीवन साथी के चुनाव की स्वतंत्रता से सम्बद्ध है। पारित किए गए प्रमुख विधान इस प्रकार हैं: 1929 का बाल विवाह प्रतिबन्ध अधिनियम, 1955 का हिन्दू विवाह अधिनियम तथा 1954 का विशेष विवाह अधिनियम। सम्पत्ति विषयक विधान हैं: 1929 का हिन्दू उत्तराधिकार विधान, 1939 का हिन्दू स्त्रियों का सम्पत्ति अधिकार अधिनियम, तथा 1956 का हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम। रोजगार विषयक विधान हैं: 1948 का फैक्ट्री अधिनियम, 1948 का कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम तथा प्रसूति लाभा अधिनियम। 1948 का फैक्ट्री अधिनियम कार्य अवधि (घन्टे), समान वेतन, ले जाने वाले बोझ की सीमा, सफाई सुविधाएं, शिशु तथा अन्य बातों को नियमित करता है। कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम पांच लाभ देता है: बीमारी, प्रसूति, अयोग्यता, आश्रित तथा चिकित्सा लाभ।

यद्यपि इन विधानों ने स्त्रियों की दशा में बड़ी सीमा तक सुधार किया है किन्तु (i) विधान अपर्याप्त हैं और समस्या को बाहरी सीमा तक ही स्पर्श करते हैं (ii) वे विधान असन्तुलित हैं, अर्थात् कुछ नियम अन्य नियमों से कम या अधिक सूक्ष्म व निश्चित हैं (iii) कुछ विधानों की बनावट इतनी ढीली है कि उन्हें ठीक से लागू नहीं किया जा सकता, और (iv) विधानों को लागू करने वाले साधन महंगे, अकुशल व जटिल हैं। यह कहा जा सकता है कि वैधानिक उपाय स्त्रियों की समस्याओं को दूर करने में अधिक प्रभावी सिद्ध नहीं हुए हैं। सैद्धांतिक रूप से स्त्रियों को अधिक स्वतंत्रता दी जा सकती थी, लेकिन व्यावहारिक सत्य यह है कि वे अभी अमानती तथा अनुचित व्यवहार भोग नहीं हैं जो उन्हें अपमान व शर्म के अलावा कुछ भी नहीं दे रहा है।

उपरोक्त विश्लेषण से यह संकेत मिलता है कि स्त्रियों को निरन्तर निकृष्ट, आश्रित तथा शोषण के चंगुल से बचाने के प्रयत्नों में परिवर्तन आ रहा है, तथापि यह परिवर्तन मन्द तथा योजनाबद्ध नहीं हुआ है।

3.6 स्वातंत्रयोत्तर काल में स्त्रियाँ

भारत में 1940 तक स्त्रियों की निम्न दशा के प्रमुख कारण अशिक्षा, आर्थिक निर्भरता, धार्मिक निषेध, जाति बन्धन, स्त्री नेतृत्व का अभाव, तथा पुरुषों का उनके प्रति अनुचित दृष्टिकोण आदि थे। मेटसन ने हमारी संस्कृति में स्त्रियों की एकान्तता तथा उनके निम्न स्तर के लिए पाँच कारकों को उत्तरदायी ठहराया है। यह हैं: हिन्दू धर्म, जाति व्यवस्था, संयुक्त परिवार, इस्लामी शासन तथा ब्रिटिश उपनिवेशवाद। हिन्दूवाद के आदर्शो के अनुसार पुरुष स्त्रियों से श्रेष्ठ होते हैं और स्त्रियों व पुरुषों को भिन्न-भिन्न भूमिकाएं निभानी चाहिए। स्त्रियों से माता व गृहणी की भूमिकाओं की और पृरुषों से राजनीतिक व आर्थिक भूमिकाओं की आशा की जाती थी। हिन्दू धर्म ग्रन्थों में स्त्रियों के लिए समाज जीवन पर्यन्त आश्रित के रूप में माना गया है। जाति व्यवस्था ने भी जन कार्यो व सार्वजनिक मामलों में स्त्रियों की भागीदारी पर प्रतिबन्ध लगाए। लड़कियों के लिए जल्दी विवाह का

नोट

प्रावधान किया गया; दूसरी ओर विधवा विवाह का निषेध तथा सती प्रथा चलाई गई। पितृ वंशीय संयुक्त परिवार ने स्त्रियों की स्वतंत्रता कम कर दी और आयु, लिंग व नातेदारी के आधार पर परिवार में उनकी स्थिति निम्न होती गई। मुस्लिम युग में स्त्रियों की दशा में और भी पतन हुआ। इस्लामिक शासन में सामाजिक-राजनैतिक प्रभाव में हिन्दुओं ने स्त्रियों की एकांतता व पर्दे की प्रथा को मुसलमानों की तरह अपना लिया जिसके कारण लिंग के आधार पर श्रम का भी एक पूरक विभाजन हो गया। मुस्लिम नवाबों तथा जागीरदारों की कुदृष्टि से बचाने के उद्देश्य से बाल-विवाह सामन्य रूप से होने लगे। यद्यपि ब्रिटिश शासकों ने हिन्दओं के सामाजिक विधानों में बाध पैदा करने का प्रयत्न नहीं किया लेकिन उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दशकों तथा बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक पच्चीस वर्षों में जब कुछ पुरुष समाज सुधारकों ने स्त्रियों की दशा सुधारने की बात की तथा उनके प्रयत्नों से महिला आन्दोलनों को बल मिला, तब ब्रिटिश सरकार कुछ वैधानिक कदम उठाने तथा कुछ सामाजिक प्रथाओं को समाप्त करने या उनमें परिवर्तन करने के लिए सहमत हो गई।

आज भारत में स्त्रियों की क्या स्थिति है? उनकी स्थिति में परिवर्तन का विश्लेषण कैसे करते हैं? स्त्रियों के मूल्यांकन में निम्न पाँच विधियों का प्रमुख रूप से प्रयोग किया गया है:

1. **ऐतिहासिक विधि** (Historical Method)-यह विधि प्राचीन समाज में तथा उसके मध्यकाल व वर्तमान काल में चिरस्थायित्व पर केन्द्रित करती है। समाज वैज्ञानिक महिलाओं की स्थिति के बारे में मुख्य निष्कर्ष प्रमुख इतिहासकारों और दार्शनिकों, जैसे, अल्टेकर, इन्द्रा, दास और कर्वे आदि के लेखों से निकालते हैं। कुछ विद्वानों का विश्वास है कि ध र्मग्रन्थों तथा अतीत के उपलब्ध अभिलेखों से केवल उदाहरण प्रस्तुत करना ही ऐतिहासिक विश्लेषण नहीं है। अत: इससे मिथ्या निष्कर्ष या फिर अतिश्योक्तियाँ निकल सकते हैं। वे समाजशास्त्री जिन्हें परिकल्पना-निगमन विधि (Hypothetico-deductive method) द्वारा अवव्याख्यावादी विधियों (Reductionist procedures) में दक्षता प्राप्त हैं, वे भी ऐतिहासिक सामग्री के आधार पर स्त्रियों की स्थिति का अध्ययन करना यदि असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य मानते हैं।
2. **आनुभविक वैयक्तिक अध्यन विधि** (Non-Empirical Case Study Method)-इस विधि में स्त्रियों की स्थिति का विश्लेषण पितृसत्तात्मक (patriarchy) सामाजिक व्यवस्था के संदर्भ में किया जाता है, या फिर यौन असमानता और स्त्रियों की स्थिति के बीच सम्बन्ध के आधार पर। स्त्रियों के निम्न स्तर की व्याख्या का आधार पुरुषों का स्त्रियों के ऊपर प्रभुत्व रहा है जो इतिहास सिद्ध भी है तथा सांस्कृतिक दृष्टि से भी मान्य है।
3. **अन्त: व्यक्तिगत शक्ति के मूल्यांकन की आनुभविक विधि** (Empirical Method of Assessing Inter-personal Power)-यह विधि स्त्रियों पर पुरुषों के प्रभुत्व का अध्ययन करती है, किन्तु उस पितृ सत्तात्मक व्यवस्था से पृथक जिसका कि यह एक भाग है। इस विधि की मान्यता है कि समस्या (निम्न स्थिति की/ शोषण की/ अधिकारों के वंचना की) स्त्रियों पर प्रभुत्व की है और इसका समाधान इसके विरुद्ध संघर्ष में निहित हैं। इस अनुसंधान ने सामाजिकी स्तर पर संरचनात्मक असमानता पर ध्यान केन्द्रित नहीं किया है, बल्कि परिवार के भीतर ही असमानता एवं शक्ति संतुलन पर किया है। इस विधि में स्त्रियों की उच्च स्थिति का सम्बन्ध समतावादी निर्णय करने से है तथा निम्न स्थिति का संबंध गैर समतावादी निर्णय से। आनुभाविक अध्ययन से विविधा समुदायों, वर्गो एवं श्रेणियों की उन स्त्रियों के साथ गहन साक्षात्कार सम्मिलित हैं, जिन (स्त्रियों) को अपने पतियों तथा

नोट

ससुराल वालों के विविधा व्यवहारों का अनुभव हो। यद्यपि यह आनुभाविक अनुसन्धान विधि स्त्रियों की स्थिति तथा पतियों के प्रभुत्व के बीच के सम्बन्धों पर मूल्यवान साक्ष्य प्रस्तुत करती है, परन्तु इसका केन्द्र-बिन्दु बहुत सीमित है तथा यह समाज में स्त्रियों की सामान्य स्थिति का वास्तविक चित्र प्रस्तुत नहीं करती। वह पितृ सत्तात्मक, सामाजिक व सांस्कृतिक संदर्भ जिनमें परिवार फंसा रहता है तथा जिनमें वैवाहिक सम्बन्धों की भूमिका चलती रहती है, की अनदेखी की गई है।

4. **नारीवादी मात्रामूलक अनुसन्धान विधि** (Feminist iQuantitative Research Method)-इस आनुभविक विधि में स्त्रियों की तुलना पुरुष की स्थिति से महत्त्वपूर्ण आयामों में की गई है। **केर्स्टी इलो** (Kersti Yllo, 1980) के अनुसार, इस प्रकार के आयाम आर्थिक, शैक्षिक, राजनैतिक तथा वैधानिक भी हो सकते हैं। अलग-अलग मद (Item) सूची (Index) में प्रत्येक चारों आयामों के लिए तथा सम्पूर्ण सूची के लिए मिश्रित कर दिए जाते हैं। ये सूचियाँ 'सर्वाधिक' (most) से 'न्यूनतम' (least) समानता के लिए पद क्रम प्रदान करती हैं।

5. **आनुभविक मात्रामूलक और गुणात्मक प्रश्नावली विधि** (Empirical iQuantitative and iQualitative iQuestionaire Method)-इस विधि में परिवार से बाहर तथा भीतर अन्तर्व्यक्तिगत सम्बन्धों भीतर अन्तर्व्यक्तिगत सम्बन्धों तथा उत्तरदाता से व्यवहार तथा विशेषाधिकार विषयक चुने हुए मदों पर प्रश्न पूछे जाते हैं। गुणात्मक विश्लेषण के लिए मात्रामूलक आंकड़ों का प्रयोग किया जाता है। यह उपागम अवधारणाओं (बवदबमचजे)ए परिकल्पनाओं, तथा सिद्धान्तों की खोज में प्रतिबन्ध नहीं लगाता।

उपर्युक्त विधियों के अतिरिक्त स्त्रियों की वर्तमान स्थिति के मूल्यांकन के तीन सैद्धान्तिक प्रस्तावों का प्रयोग भी (स्त्रियों के अधिकारों) पर किया जाता है। यह हैं: उदारवादी नारीवाद (Liberal feminism), मार्क्सवादी नारीवाद (Marxist feminism) तथा आमूल परिवर्तनवादी नारीवाद (Radical feminism)। उदारवादी नारीवाद लिंग समानता (gender equality) अर्थात् स्त्री पुरुषों के समान अधिकार में विश्वास रखता है। यह एक लिंग का दूसरे के अधीन मानने की धारणा को अस्वीकार करता है अथवा स्त्रियों को मानव (human-beings) मानने के स्थान पर यौन वस्तु नहीं मानता। फिर भी यह विचार लिंग के आधार पर श्रम-विभाजन को चुनौती नहीं देता। इस विचार के अनुसार, स्त्री घरेलू काम-काज तथा पुरुष बाहरी काम काज के लिए ही सर्वथा उपर्युक्त है।

मार्क्सवादी नारीवाद उस पूर्व विचारधारा से प्रस्थान को संकेत करता है जो नारीवाद को बुर्जुआ मानने से इंकार कर देता है। सर्वहारा वर्ग की मार्क्स की परिभाषा में निश्चित रूप से स्त्रियों में रुचि सीमांतरीय है। एंजिल द्वारा स्त्रियों के दमन को सम्पत्ति का विश्व ऐतिहासिक प्रभाव मानकर व्याख्या को परिष्कृत कर लिया गया है।

एंजिल की मान्यता थी की स्त्री पराधीनता निजी सम्पत्ति के उदय तथा उत्पादन के साधनों के स्वामित्व का प्रतिफल है। पुरुष के असमान स्त्री का कार्य 'उपयोग' (use) मूल्य तो रखता है, लेकिन उसका 'आदान-प्रदान' (exchange) मूल्य नहीं होता। इसलिए पुरुष स्त्री की अपेक्षा अधिक शक्ति का स्वामी होता है या फिर इस प्रकार कहा जा सकता है कि स्त्री का दमन उसके मुफ्त में किए गए गृहकार्य के कारण किया जाता है। आमूल परिवर्तनवादी नारीवाद (radical feminism) यद्यपि यौन समानता में विश्वास रखता है तथापि यह श्रम के परम्परागत विभाजन को अस्वीकार करता है। इसकी मान्यता है कि लिंग भूमिका न केवल जैविक कारकों का फल है, बल्कि यहद संस्कृति का भी फल है। यह विचारधारा मुक्त यौन एवं माता-पिता द्वारा बच्चों की संयुक्त देखभाल में विश्वास

रखती है। इस प्रकार उन्नसवीं शताब्दी में जब मार्क्सवादियों ने स्त्रियों के प्रश्न पर वाद-विवाद को निश्चित मोड़ प्रदान किया (कि स्त्रियों का दमन उत्पादन के पूँजीवादी तरीके की विशेषता है), अब वे अधिक मानवतावादी दृष्टिकोण से व्याख्या प्रस्तुत कर रहे हैं।

नोट

उपर्युक्त विचारधाराओं की पृष्ठभूमि में यह कहा जा सकता है कि भारत में स्त्रियों की स्थिति में 1950 के बाद से पर्याप्त सुधार हुआ है। संरचनात्मक तथा सांस्कृतिक दोनों ही प्रकार के परिवर्तनों ने स्त्रियों को न केवल शिक्षा, रोजगार तथा राजनैतिक भागीदारी में समान अवसर प्रदान किए हैं बल्कि स्त्रियों के शोषण को भी कम किया है तथा उन्हें अपने संगठन बनाने के अवसर प्रदान किए हैं, जिनसे वे अपनी समस्याओं में अधिक रुचि ले सकें। इसके अतिरिक्त इस बात को भी अधिक अनुभव किया जा रहा है कि अनुसंधान, राष्ट्रीय नीति, एवं स्त्रीपरक कार्यक्रमों के बीच एक सामंजस्य होना चाहिए। स्त्रियों के निम्न स्तर के कारणों के अध्ययन एवं प्रत्येक क्षेत्र में उनके अधि कारों की रक्षा करने के उद्देश्य से केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों ने विविधा कमीशनों की नियुक्ति की है। केन्द्रीय सरकार ने दो ऐसे महत्वपूर्ण कमीशन 1971 व 1992 में नियुक्त किए थे। 31 जनवरी, 1992 को महिलाओं के लिए राष्ट्रीय कमीशन का गठन किया गया जिसका उद्देश्य था, महिलाओं से संबंधित मामलों को देखना, स्त्रियों के स्तर की जाँच करना, विविधा विधानों का अध्ययन करना तथा उनमें कमजोर बिन्दुओं व खामियों की ओर संकेत करना, महिलाओं के प्रति किए गए भेदभाव व हिंसा के कारणों का पता लगाना तथा संभावित उपायों का विश्लेषण करना।

इस लेखक की धारण है कि भारतीय महिला आज भी आर्थिक रूप से पुरुष के प्रभुत्व से मुक्त नहीं है। सामाजिक, नैतिक व मनोवैज्ञानिक आयामों में भी उसकी स्थिति पुरुष के समरूप नहीं है। जिस प्रकार वह नौकरी करती है, घर का काम करती है, इन सब के प्रति उसकी निष्ठा उसके जीवन के स्वरूप के संदर्भ पर निर्भर करती है। जब वह अपना प्रौढ़ जीवन प्रारम्भ करती है, तब उसका अतीत वैसा नहीं होता जैसा पुरुष का होता है। समाज के द्वारा उसका मूल्यांकन बिल्कुल भिन्न परिपेक्ष्य में होता है। एक बड़ी संख्या में महिलाएं मुक्ति प्राप्त करने में असफल रहती हैं क्योंकि वे परम्परागत नारी जगत के घेरे से बाहर नहीं निकल पातीं। उन्हें न तो समाज से ही और न अपने पति से ही पुरुषों के समान होने के लिए आवश्यक सहायता मिलती है। निस्संदेह आज भी वे पुरुषों के अत्याचारों का शिकार हैं।

स्त्रियों को अधिकारों से वंचित रखने के लिए वैयक्तिक, आर्थिक व जनसंख्या संबंधी कारक हो सकते हैं। वैयक्तिक कारकों का संबंध उन पुरुषों के व्यक्तित्व की विशेषताओं से है जो निम्न बौद्धिक योग्यता (I.O.) रखते हैं, जो अपरिपक्वता, कुण्ठा, तथा नैराश्य से पीड़ित होते हैं और जो स्त्रियों से अयथार्थवादी उच्च आशाएँ रखते हैं तथा आशा करते हैं कि वे निष्क्रिय एवं दब्बू बनीं रहें। जहाँ तक आर्थिक कारकों का संबंध है, न कमाने वाली महिलाओं को कमाने वाली महिलाओं की अपेक्षा अधिकारों से अधिक वंचित रखा जाता है निम्न व मध्यम आय वर्गीय महिलाओं को उच्च आय वर्गीय महिलाओं की अपेक्षा अधिकारों से अधिक वंचित रखा जाता है और नौकरियों में निम्न स्तर की नौकरियों में लगी महिलाओं को उच्च पद वाली नौकरियों में लगी महिलाओं की अपेक्षा कम अधिकार होते हैं। अन्त में, जहाँ तक जनसंख्यक कारकों का संबंध है, उच्च जातियों की महिलाओं को निम्न एवं मध्यम जाति की महिलाओं की अपेक्षा अधिकारों से कम वंचित किया जाता है, बड़ी आयु के पुरुष स्त्रियों को अधिकारों में कम आयु के पुरुषों की अपेक्षा अधिक वंचित करते हैं, तथा महिलाओं द्वारा महिलाओं को अधिकारों से अधिक वंचित किया जाता है, अपेक्षाकृत

पुरुषों द्वारा महिलाओं को। यह हमें उन पुरुषों को पहचानने में सहायता करता है जो स्त्रियों को अधिकार देने से इन्कार करते हैं। यह वे पुरुष होते हैं जो हीन भावना के शिकार होते हैं नैराश्य से भरे होते हैं बुद्धि व योग्यता कम रखते हैं या फिर समाज विकृति और मनोविकृति से पीड़ित होते हैं, अर्थात् उनका व्यक्तित्व अव्यवस्थित होता है, स्वभाव से सन्देह करने वाले होते हैं, अपने बचपन में हिंसा के शिकार हुए होते हैं, और परिवार में तनावपूर्ण स्थितियों का सामना करते रहते हैं। उन स्त्रियों को भी अलग से पहचाना जा सकता है जिन्हें अधिकारों से वंचित रखा जाता है वे स्त्रियाँ स्वयं को असहाय अनुभव करती हैं, हीन भावना से ग्रसित होतीं हैं, स्वयं के विषय में हीन धारणाएं रखतीं हैं, सामाजिक परिपक्वता में कमी अनुभव करती हैं तथा आर्थिक रूप से आश्रित होती हैं।

हम छः प्रकार के अधिकारों से वंचनाओं (deprivations) को भी अलग से पहचान सकते हैं: धन के परक (money oriented), आनन्द परक (pleasure oriented), शक्ति परक (power oriented), पीड़ित स्त्री परक (victim precipitated), इंकार करने वाले की विकृति के फलस्वरूप (deniar's pathology resulted), तथा परिवार की तनावपूर्ण स्थितियों के फलस्वरूप (Stressful family situation resulted)।

3.7 स्त्रियाँ और रोजगार

श्रम के बाजार में स्त्रियों को हानि ही उठानी पड़ती है। यह हानि उनकी अशिक्षा, दक्षता की कमी, समाज व्यवस्था में हीन स्थिति तथा निर्णय करने तथा शक्ति की संरचना से उन्हें बाहर रखने जैसे स्थितियों का ही प्रतिफल है।

1. **कामकाजी महिलाएं** (The Working Women)-1991 की जनगणना कमिश्नर की रिपोर्ट के अनुसार शहरों व गाँवों में ही घर की चार दीवारी से बाहर आकर काम करने वाली महिलाओं की संख्या में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। 1971 की जनगणना के आंकड़ों के अनुसार देश की कुल कार्य शक्ति (workforce) में 13ण्0: महिला श्रमिक थीं। यह प्रतिशत 1981 में 25.89 और 1991 में 28.57 हो गया (The Hindustan Times, April 6, 1993)। लगभग 80% महिलाएं कृषि कार्यो में लगी हैं। केवल 12.0% स्त्रियाँ ही केन्द्रीय व राज्य प्रशासनिक सेवाओं में और सार्वजनिक प्रतिष्ठानों में लगी हैं। सारणी 1 और 2 कुलमहिला जनसंख्या तथा अवैतनिक (unpaid) श्रमिकों को दर्शातें हैं, जो कि 1981 में 20.76 मिलियन से बढ़कर 1991 में 28.27 मिलियन हो गई।

तालिका 3.1. भारत में स्त्री जनसंख्या एवं महिला कामगर

श्रेणी	स्त्री जनसंख्या (मिलियन में)			स्त्री कामगर (मुख्य व सीमान्त), (मिलियन में)			स्त्री कामगरों की कार्य भागीदारी की दर			
	1961	1971	1981	1991	1971	1981	1961	1971	1981	
कुल	206.2	255.0	318.2	406.5	57.5	36.2	66.3	5.75	3.62	6.63
ग्रामीण	170.6	205.6	245.1	304.0	53.6	32.7	58.5	5.36	3.27	5.85
शहरी	35.6	49.4	73.1	102.5	3.9	3.5	7.8	0.39	0.35	0.78

नोट

1979 में फैक्ट्रियों में रोजगार प्राप्त स्त्रियों की संख्या 5.14 लाख थी, खानों में 0.8 लाख, तथा बागानों में 4.18 लाख थी।

भारत में कुल कामकाजी महिलाओं में से प्रत्येक 100 सेवायुक्त (employed) महिलाओं में से 52.59 अशिक्षित हैं 28.56 प्राइमरी तथा मिडिल स्तर तक शिक्षित, 13.78 सेकेण्डरी स्तर तक शिक्षित और 5. 07 स्नातक और इससे ऊपर शिक्षित हैं। (वहीं: 124) शहरी क्षेत्रों में प्रत्येक 100 सेवा युक्त महिलाओं में से 25.83 अशिक्षित, 35.49 प्राइमरी और मिडिल तक, 25.71 सेकेण्डरी तक और 12.97 स्नातक और अधिक तक शिक्षित हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में प्रत्येक 100 सेवायुक्त महिलाओं में से 88.11 अशिक्षित, 10.68 प्राइमरी व मिडिल तक तथा 1.21 मिडिल से ऊपर शिक्षित हैं।

तालिका 3.2. महिला कामगारों की प्रतिशत में विषमता

श्रेणी	1961	1971	1981
कृषक	15.45	3.61	4.77
कृषि श्रमिक	6.87	6.18	6.58
अन्य श्रमिक	5.61	2.34	3.09
कुल महिला कामगार	27.93	12.13	14.44

2. **कार्य प्रेरणाएं** (Work Motivation)-महिलाएं रोजगार क्यों ढूंढ़ती हैं? स्त्रियों में रोजगार के लिए प्रेरणा पुरुषों से भिन्न होती है। स्पष्ट कारण तो है धन की आवश्यकता, लेकिन यह कहना गलत हो कि सभी महिलाएं धन के कारण ही नौकरी करती हैं। एक अध्ययन में 728 कामकाजी महिलाओं के अध्ययन में नौकरी करने के प्रमुख कारण इस प्रकार पाये गये: पति द्वारा परित्याग तथा घर से बाहर काम करने को वरीयता देने के कारण। मोटे तौर पर कहा जाये तो, 89.0% महिलाएं आर्थिक आवश्यकताओं के कारण ही नौकरी करती हैं।

   दीपा माथुर (1992% 23) के जयपुर (राजस्थान) में 225 कामकाजी महिलाओं के अध्ययन से महिलाओं के सेवायुक्त होने के छ: कारक पता चलते हैं: आर्थिक आवश्यकता या परिवार की आय में सहयोग (22-7%), भावी कुसमय से सुरक्षा (20%), रहन सहन के स्तर को ऊंचा उठाने के लिए (20.4%), मन बहलाव व सामाजिक सम्पर्को के कार (17.3%) व्यक्तिगत सम्मान और आकांक्षाओं के कारण (12.4%), स्वाभिमान की पूर्ति (7.2%)। इस प्रकार 63.0% स्त्रियाँ आर्थिक आवश्यकताओं के कारण कार्य करती थी और 37.0% अनार्थिक कारणों से। जब उन स्त्रियों से पूछा गया कि यदि उन्हें स्वेच्छा प्रदान की जाये कि वे पूर्ण कालिक सेवायुक्त बनना पसन्द करेंगी या पूर्ण कालिक गृहिणी, तो 52.0% ने केवल गृह कार्य पसन्द किया और 48.0% ने गृहकार्य तथा नौकरी का समन्वय (वही: 24)। इस प्रकार, आधी से कुछ कम महिलाओं ने काम करने की उत्सुकता दर्शायी और आधे से कुछ अधिक ने काम के लिए अनिच्छा दर्शायी। प्रेरक स्तर (motivational level) के मापन से पता चला कि 47.5% महिलाओं का प्रेरक स्तर बहुत ऊंचा था, 35.1% का मध्यम (moderate) था, और 17.3% का निम्न था। उच्च प्रेरणा स्तर का संबंध उच्च शिक्षा स्तर से, नौकरी के उच्च संतोष से, और कम आयु से था। 29.0% मामलों में प्रेरणा का श्रोत था जनक परिवार (माता-पिता, भाई-बहिन), 23.0% मामलों

में श्रोत था जनन परिवार, 9.0: मामलों में मित्र व अध्यापक थे, और 39% मामलों में श्रोत स्व-प्रेरणा थी।

कार्य की प्रेरणा की प्रवृत्ति में वृद्धि करने वाले कारको की तरह ही कुछ ऐसे कारक भी हैं जो इस प्रवृत्ति को कम करते हैं। दीपा माथुर के अध्ययन (वही: 36) में प्रेरणा कम करने वाले कारक थे: उपयुक्त नौकरियों का उपलब्ध न होना (49%), दक्षता में कमी (20%) काम करने की इच्छा में कमी (18%) पति से प्रोत्साहन न मिलना (8%) और पति की नौकरी की आवश्यकताओं के साथ असंगता (incompatibility) (5%)।

नोट

3. **दोहरी भूमिका का संतोष** (Dual Role Satisfaction)-कितनी स्त्रियाँ अपनी दोहरी भूमिका से संतुष्ट रहती हैं? यदि धन अर्जन करने वाली महिला माँ और पत्नी की भूमिका में विलीन करने के प्रयत्न में सफल होती हैं तो वह महिला अपनी दोहरी भूमिका से संतुष्ट मानी जायेगी। 'उच्च' संतोष काम करने और घर बनाने वाली भूमिका प्रसन्नता पूर्वक निभाने में निहित हैं 'मध्यम' संतोष का अर्थ है दोनों भूमिकाओं में सीमान्त असंतुलन (marginal imbalance), तथा 'निम्न' संतोष एक या दोनों भूमिकाओं में असंतोष में निहित है। दीपा माथुर के अध्ययन में 53% महिलाएं अपनी दोहरी भूमिकाओं से उच्च संतुष्ट, 18% मध्ययम संतुष्ट व 29% असंतुष्ट पायी गयीं।

   दोहरी भूमिकाओं के साथ संतोष/असंतोष कामकाजी महिलाओं के आत्म-प्रतिबिम्ब (self-image) अथवा स्वयं के विषय में की गई कल्पनाओं को प्रभावित करता है। स्वयं के विषय में ऊँचे प्रतिबिम्ब बनाने का अर्थ है कि महिला यह अनुभव करती है कि काम करने के कारण उसके व्यक्तित्व में सुधार हुआ है, जबकि निम्न प्रतिबिम्ब का अर्थ है कि महिला यह अनुभव करे कि काम/नौकरी ने उसके व्यक्तित्व पर अच्छा प्रभाव नहीं डाला है।

   मिन्म स्व-प्रतिबिम्ब और दोहरी भूमिकाएं, कामकाजी महिलाओं के लिए भूमिका संघर्ष जैसी समाजशास्त्रीय समस्या पैदा कर देती है। जिसका प्रभाव, पारिवारिक संबंधों, बच्चों की देखभाल तथा सक्रिय व निष्क्रिय रूप से भूमिकाओं के निर्वाह करने पर पड़ता है। लज्जाशील व नम्र स्वभाव की स्त्रियों को प्रभावशाली व्यक्तित्व वाली स्त्रियों की अपेक्षा दोहरी भूमिका निर्वाह में अधिक समस्याओं को सामना करना पड़ता है। दीपा माथुर (वही, 87-88) ने अपने अध्ययन में देखा कि 21.8% स्त्रियाँ उच्च कोटि के भूमिका संघर्ष की स्थिति में थीं, 44.4% निम्न कोटि के, तथा 33.8% किसी भी प्रकार के भूमिका संघर्ष की स्थिति में नहीं थीं। काम करने के प्रेरणात्मक स्तर, पत्नी के रोजगार के प्रति पति का दृष्टिकोण, कार्य के स्थान पर अन्तर्व्यक्तिगत संबंध और महिलाओं के व्यक्तित्व के प्रकार आदि विविधताओं तथा भूमिका संघर्ष के बीच महत्वपूर्ण, मध्यम तथा कमजोर संबंध पाये गए।

   भूमिका संघर्ष और प्रेरणा तथा पति के दृष्टिकोण के बीच संबंध 'महत्वपूर्ण' हैं, काम करने के स्थान पर अन्तर्व्यक्तिगत संबंध के साथ संबंध कमजोर हैं, तथा बच्चों की उपस्थिति की दशा के साथ संबंध 'मध्यम' हैं।

   रामू (1989) का मत है कि नवीन आर्थिक व घरेलू भूमिकाओं के बीच के संघर्ष का फल महिलाओं के कार्यकलापों के विभागीकरण के रूप में होता है। यद्यपि यह अस्थाई

नोट

ही होता है क्योंकि व्यवसाय व गृहस्थ जीवन के बीच स्पर्द्धा की मांग होती है कि वे इसके साथ समन्वय करें, किन्तु अनेक महिलाओं के लिए यह असम्भव सा ही प्रतीत होता है। कुछ समय के बाद वे अनुभव करती हैं कि या तो वे अपनी व्यावसायिक आकांक्षाओं को नीचे लाएं या फिर अपने गृहस्थ दायित्वों में कुछ कटौती करें।

4. **भूमिका समायोजन** (Role Adjustment)-कामकाजी महिलाओं को अपने परिवार तथा कार्य के स्थान के बीच अपने को समायोजित करन पड़ता है। समायोजन का अर्थ है एक परिस्थिति से दूसरी परिस्थिति पर चले जाना, भूमिकाओं का दूसरों के परिपेक्ष्य से अवलोकन तथा विविधा भूमिकाओं को कुशलता तथा संतोषप्रद ढंग से निर्वाह करना होता है। सरल शब्दों में 'भूमिका समायोजन' भूमिका की मांग (roel demands) तथा व्यक्ति की भूमिका को करने (role performance) पर निर्भर करता है।

   एक कामकाजी महिला को असंख्य समस्याओं का सामना करना पड़ता है। घर के जीवन का समायोजन दफ्तर की दिनचर्या से करना होता है। घर के कामकाज को परम्परागत चर्या से भिन्न बिन्दुओं पर व्यवस्थित करना होता है। **लार्जान्स** (Lazarns, 1961) के अनुसार समायोजन दर्शाने वाले चार प्रमुख सूचक (indicators) हैं: भूमिकाओं का कूशल व बुद्धिमतापूर्ण निर्वाह, मनोवैज्ञानिक सुख की सीमा, तनाव लक्षणों का अभाव तथा व्यवहार की समाजिक स्वीकृति।

   समायोजन का एक आयामी नैरन्तर्य (unidimensional continuum) पर माप किया जाता है। नैरन्तर्य में व्यक्ति की स्थिति उच्चतम बिन्दु से निम्नतम बिन्दु तक स्थित की जाती है। निम्न समायोजन को कुसमायोजन (maladjustment) से पृथक कर लिया जाता है क्योंकि दोनों ही गुणों के आधार पर एक दूसरे से भिन्न होते है। कुसमायोजन में व्याधिकीय अनुक्रिया (pathological responses) निहित है, जबकि निम्न समायोजन परिस्थिति में पूर्ण रूप से विलीन होने की स्थिति दर्शाता है।

3.8 स्त्रियों के अधिकार

ऐसे समाज में जहाँ कुल जनसंख्या की आधी तथा तीन-पंचमांश भाग अशिक्षित महिलाएं हैं (1991 जनगणना), ऐसे रुढ़िवादी परम्पराओं एवं विश्वासों तथा प्रथाओं में जकड़े हुए समाज को रातों रात नहीं बदला जा सकता। नही इनके विरुद्ध प्रबल जनमत तैयार करना सरल है। विधानों का कुछ प्रभाव होता है लेकिन इनको बड़ी सावधानी से चरणों में लागू करना होता है। विधान की पुस्तकों में महिलाओं से संबंधित कितने विधान है? हिन्दू समाज को इन विधानों ने किस सीमा तक आन्दोलित किया है? किस सीमा तक उन विधानों से सामाजिक परिवर्तन आया है? इन विधानों के माध्यम से प्राप्त महिला अधिकारों का विवेचन हम यहाँ संक्षेप में करेंगे। पुरुषों के समान स्त्रियों को भी भारतीय संविधान द्वारा प्रमुख अधिकार इस प्रकार हैं:

1. समानता का अधिकार, अर्थात् अवसरों की समानता, कानून के समक्ष समानता, कानूनों को समान संरक्षण तथा नौकरियों आदि में लिंग के आधार पर भेद भाव न समझा जाना।
2. स्वतंत्रता का अधिकार, अर्थात् भाषण की स्वतंत्रता, निवास की स्वतंत्रता एवं व्यवसाय व गतिशीलता की स्वतंत्रता।
3. शोषण के विरुद्ध स्वतंत्रता, अर्थात् 'बेगार' के विरुद्ध।

4. धर्म की स्वतंत्रता का अधिकार, अर्थात् उपदेश तथा धर्म का स्वतंत्रतापूर्वक अनुपालन।
5. सम्पत्ति का अधिकार, अर्थात् सम्पत्ति प्राप्त करने, रखने तथा बेचने का अधिकार।
6. सांस्कृतिक एवं शैक्षिक अधिकार, अर्थात् संस्कृति का संरक्षण तथा शैक्षिक संस्थाओं में प्रवेश प्राप्त करने का अधिकार।
7. संवैधानिक उपचार (remedy) का अधिकार, अर्थात् मौलिक अधिकारों को लागू करने के लिए न्यायालय की शरण में जाने का अधिकार।

नोट

इन मूल अधिकारों के आश्वासन के अतिरिक्त राज्य सरकारों को भी यह अधिकार दिए गए हैं कि समय-समय पर ऐसे विधान लागू करें जो स्त्रियों के हितों की रक्षा करते हों तथा स्त्रियों के साथ व्यवहार में उन्हें वरीयता दी जाए। इस आधार पर सरकार समय-समय पर ऐसे वैधानिक उपाय करती रही है जिनसे सामाजिक व्यवस्था एवं न्याय बना रहे।

गत तीन या चार दशकों में कापफी संख्या में विधान लागू किए गए हैं एवं कुछ में सुधार किए गए हैं जिनसे महिलाओं के समान स्तर एवं अवसरों को सुनिश्चित किया गया है। इन विधानों का मूल्यांकन तीन स्तरों पर किया जा सकता है: सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक।

सामाजिक विधान

महिलाओं से संबंधित तथा सामाजिक कानूनों से संबंधित चार प्रमुख मामले हैं: विवाह, गोद लेना (adoption), संरक्षकता (guardianship) एवं गर्भपात (abortion)। विवाह से संबंधित प्रमुख समस्याएं हैं: (1) जीवन साथी का चुनाव, (2) विवाह की आयु, (3) बहु पत्नी विवाह, (4) निर्योग्य (invalid) विवाह, (5) निष्प्रभावी (void) विवाह, (6) विवाह विच्छेद, (7) दाम्पत्य अधिकारों का प्रत्यास्थापन (restitution of conjugal rihgts), (8) गुजारा भत्ता, (9) बच्चे का संरक्षण (custody of child), (10) दहेज, (11) पुनर्विवाह। पूर्व उल्लिखित कुछ लागू हो चूके विधान इस प्रकार हैं: 1955 का हिन्दू विवाह अधिनियम, 1954 का विशेष विवाह अधिनियम तथा 1856 का पुनर्विवाह अधिनियम।

बच्चों को गोद लेने से संबंधित नियम 1956 में पारित किया गया जिसे हिन्दू दत्तक ग्रहण एवं भरण पोषण अधि नियम नाम दिया गया। न केवल विवाहित स्त्रियों को बल्कि अविवाहित स्त्री, विधवा स्त्री तथा तलाकशुदा स्त्री को भी बच्चों को दत्तक अधिग्रहण का अधिकार दिया गया है। केवल अविवाहित तथा पन्द्रह वर्ष से कम आयु के बच्चों का ही दत्तक ग्रहण किया जा सकता है।

1970 तक गर्भपात से वैधानिक दृष्टि से अपराध माना जाता था। 1971 में चिकित्सा गर्भ समापन अधिनियम (Medical Termination of Pregnancy Act) पारित किया गया जिसके माध्यम से गर्भवती महिला व गर्भपात शल्यक (abortionist) दोनो को ही गर्भपात की अनुमति प्रदान कर दी गई। यह अधिनियम अप्रेल, 1972 से लागू किया गया तथा यह केवल बारह सप्ताह तक के गर्भ के गर्भपात की अनुमति केवल रजिस्टर्ड डॉक्टर को देता है। गर्भ के केवल इन परिस्थितियों में ही समाप्त करने की अनुमति दी गई है: यदि गर्भवती महिला के जीवन को जोखिम हो, उसके शारीरिक व मानसिक स्वास्थ्य को गंभीर हानि की आशंका हो या फिर इस बात का भय हो कि जन्म लेने वाला बच्चा अपंग या शारीरिक व मानसिक असमानताओं (abnormalities) के साथ जन्म लेगा। गर्भपात ऐसे मामलों में भी स्वीकृत होता है जहाँ गर्भ का कारण बलात्कार या गर्भ निरोधक विधियों की असफलता रहा हो।

नोट

आर्थिक विधान

आर्थिक विधानों से संबंधित विषय हैं: सम्पत्ति का अधिकार, समान पारिश्रमिक, कार्य करने की दशाएं, प्रसूति लाभ, तथा कार्य सुरक्षा (job security)। एक महिला के सम्पत्ति अधिकार का अर्थ है उसका पत्नी, पुत्री, विधवा तथा माँ के रूप में सम्पत्ति का अधिकार। हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 के अनुसार न केवल पुत्री को ही उसके भाई के बराबर का भाग पिता की सम्पत्ति में मिलता हैं, बल्कि एक विधवा को भी अपने मृत पति की सम्पत्ति में से उसे पुत्रों और पुत्रियों के बराबर का भाग मिलता है। इस विधान ने 'स्त्रीधन' एवे 'गैर स्त्रीधन' के बीच का भेद भी समाप्त कर दिया है।

जहाँ तक समान पारिश्रमिक का संबंध है, समान पारिश्रमिक अधिनियम, 1976 (Equal Remuneration Act, 1976) महिला तथा पुरुष कर्मियों के पारिश्रमिक में भेद करने की अनुमति नहीं देता । जो मालिक इन विधानों का पालन नहीं करते उन के लिए दण्ड का प्रावधान है।

कार्य अवधि में कार्य दशाओं का नियंत्रण फैक्ट्री अधिनियम, 1948 से होता है। फिर, कार्य घण्टे, साप्ताहिक विश्राम, सफाई के स्तर, प्रकाश व्यवस्था, तापमान, मशीनों की सीमा बन्दी, प्राथमिक उपचार की सुविधा, विश्राम गृह, आदि प्रावधानों के अतिरिक्त इस विधान में बच्चों के शिशु गृह (creches) स्थापित करने की तथा महिलाओं के लिए पृथक से प्रसाधन (toilets) स्थापित करने का प्रावधान है। महिलाओं के लिए एक दिन में अधिकतम नौ घण्टे तथा रात्रि 10 बजे से प्रातः 5 बजे के बीच कोई भी कार्य न करने देने का प्रावधान भी इस कानून में है।

राजनैतिक अधिकार

भारतीय संविधान द्वारा प्रदत्त महिलाओं को दो प्रमुख अधिकार है: महिलाओं को मताधिकार और विधान मण्डल के लिए योग्यता। महिला मताधिकार की माँग सर्वप्रथम 1917 में की गई थी, किन्तु साउथ बरो फ्रेन्चाईज कमेटी ने 1918 में इस मांग को अस्वीकार कर दिया। 1919 में सरकार ने राज्य सरकारों को अधिकार दे दिया कि वे स्त्री मताधिकार के संबंध में अपने अलग विधान लागू करें। इस प्रकार के विधान राजकोट में 1923 में, ट्रावन्कोर कोचीन में 1924 में, मद्रास व उत्तर प्रदेश में 1925 में, पंजाब व असाम में 1926 में, तथा बिहार और उड़ीसा में 1929 में पारित किए गए। (Jane Matson, 1971: 108.110)। 1935 के भारत सरकार अधिनियम में शैक्षिक योग्यता के आधार पर स्त्री मताधिकार प्रदान किया गया। फलस्वरूप, 1937 में 56 महिलाओं ने चुनाव के माध्यम से विधान मण्डलों में प्रवेश किया। स्वतंत्रता के बाद स्त्री मतदाताओं की संख्या तथा राज्य विधान मण्डलों तथा लोक सभा में महिला प्रतिनिध्यिों की संख्या में पर्याप्त वृद्धि हुई है।

3.9 अधिकार चेतना

यद्यपि भारत में महिलाओं को अन्य देशों की महिलाओं की अपेक्षा अधिक अधिकार प्राप्त हैं, किन्तु क्या हमारे देश की महिलाओं में अपने अधिकारों के प्रति चेतना है? इस लेखक ने कुछ वर्ष पूर्व राजस्थान के एक जिले के एक गांव की 18 से 50 बर्ष की आयु की 753 स्त्रियों का एक अध्ययन किया था। अध्ययन का मुख्य उद्देश्य स्त्रियों में अधिकारों के लिए चेतना का मूल्यांकन तथा संविधान तथा विविधा विधानों द्वारा प्रदत्त अधिकारों के प्रति संतुष्टि के स्तर को नापना था।

इस अनुसंधान का सैद्धान्तिक मॉडल (Conceptual Model) यह था कि किसी विशेष क्षेत्र में, (जैसे, सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक व धार्मिक) महिलाओं की अधिकार चेतना का स्तर चार

बातों पर निर्भर करना है: स्त्री की व्यक्तिगत पृष्ठभूमि (शैक्षिक स्तर, आकांक्षाओं का स्तर और व्यक्तिगत आवश्यकता), उसकी सामाजिक परिस्थितियाँ (रिश्तेदारों की अपेक्षाएं, पति के आदर्श, तथा परिवार के सदस्यों के दृष्टिकोण), उसका अपना दृष्टिकोण (अपने स्तरतथा भूमिका के प्रति) तथा उसका आर्थिक आधार (वर्ग-सदस्यता का स्तर)। हमारे विश्लेषण में विभिन्न प्रकार के अधिकारों के प्रति चेतना तथा अधिकारों के उपभोग के संतुष्टि स्तर से संबंधित निम्नलिखित तथ्य सामने आए:

नोट

सामाजिक अधिकारों की चेतना

1. महिलाओं को विवाह संबंधी कानूनों की जानकारी बहुत कम है। हमारे सर्वेक्षण में केवल दस में से एक महिला को ही अपने जीवन साथी के चुनाव के अधिकार की जानकारी थी, लगभग 50 में से एक को विवाह की सही आयु की जानकारी थी, पांच में से एक से भी कम को तलाक के अधिकार का ज्ञान था, दस में से एक से भी कम का तलाक के बाद गुजरे भत्ते के अधिकार का ज्ञान था, पांच में से एक से कम को विधव, पुनर्विवाह अधिकार का और पांच में से एक से भी कम को दहेज कानून का ज्ञान था। इन सभी पक्षों को एक रखने पर हम कह सकते हैं कि दस में से एक महिला को ही विवाह कानूनों की कुछ जानकारी थी।
2. परिवार में निर्णय लेने के विषय मे महिलाओं की भूमिका किनारे की होती है। पत्नि के साथ पति महत्वहीन विषयों में ही सलाह करते हैं।
3. पति पत्नी के बीच दाम्पत्य संबंधों का कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं हो सका है।
4. महिलाओं की परिवार में स्थिति कुण्ठाग्रस्त न होकर जीवन अनुभवों के बीच संतोष की होती है।
5. लगभग दो तिहाई महिलाएं अपने वैवाहिक तथा पारिवारिक जीवन से संतुष्ट होती हैं।
6. घर के काम से संतुष्टि का स्तर आयु, शिक्षा तथा आय के साथ-साथ बदलता रहता है।

आर्थिक अधिकारों की चेतना

1. यद्यपि बहुत कम महिलाओं को अपने पिता की सम्पत्ति में से भाग लेने का अधिकार का ज्ञान है, किन्तु अपने पति की सम्पत्ति में से अपने भाग के अधिकार का ज्ञान अधिक संख्या में 80% स्त्रियों को है।
2. थोड़ी संख्या में (एक तिहाई) महिलाओं को अपने पति की सम्पत्ति मे उत्तराधिकार प्राप्त होता है किन्तु पिता की सम्पत्ति से भाग प्राप्त करने वाली महिलाओं की संख्या नगण्य (0.5%) है।
3. गाँवों में दस में से केवल एक महिला ही कामकाजी है तथा आर्थिक दृष्टि से स्वतंत्र है।
4. कामकाजी महिलाएं भी गृह कार्य तथा गृहस्थी निर्माता के रूप में अपनी भूमिका का मूल्यांकन उतनी ही सापेक्षता से करती है जितनी कि घरेलू महिलाएं।
5. कामकाजी महिलाओं में दस मे से नौ अपनी आमदनी से असंतुष्ट होती है। यह असंतोष कार्य के विचार से उतना नहीं होता जितना कि कार्य दशाओं या पारिश्रमिक से।
6. जो महिलाएं अपने परिवार की अर्थव्यवस्था में योगदान करती हैं वे अपनी आया को अपनी इच्छा से व्यय करने के लिए स्वतंत्र नहीं होतीं।

नोट

राजनैतिक अधिकारों की चेतना

1. बहुत कम संख्या (लगभग 20%) में महिलाओं को अपने राजनैतिक अधिकारों का ज्ञान है।
2. मताधिकार प्राप्त महिलाओं में से लगभग तीन चौथाई ही उसका प्रयोग करती हैं। रोचक बात यह है कि महिलाएं राजनीति से प्रेरित होकर वोट देने नहीं जातीं, बल्कि घूमने के उद्देश्य से जाती हैं।
3. महिलाओं का मत देने का व्यवहार न तो राजनैतिक गतिशीलता से और न ही राजनैतिक समाजीकरण से जुड़ा होता है, बल्कि अपने पति के राजनैतिक विश्वास और अभिरुचि से जुड़ा होता है।
4. चुनाव का उदार सिद्धान्त जो मतदाता के वोट को उसके तर्कयुक्त पसन्द या उम्मीदवार या पार्टी के लिए अभिरुचि से जोड़ता है, वह महिलाओं के मत डालने के व्यवहार के लिए तर्कसिद्ध (valid) नहीं है।
5. आमतौर पर महिलाएं किसी भी राजनैतिक दल की सक्रीय सदस्य नहीं होती हैं कुछ महिलाएं किसी राजनैतिक दल की समर्थक अवश्य होती हैं।

उपरोक्त तथ्यों के आधार पर निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता हैं कि अधिकार चेतना अपने आप स्त्रियों के स्तर को ऊंचा नहीं उठाती और न ही चेतना हीनता या अज्ञानता उनकी संतोष (परिस्थिति से) की भावना कम करती है। अधिकार चेतना में प्रमुख बाधाएं इस प्रकार हैं:: अशिक्षा, गृह कार्य में अधिक व्यस्तता, घरेलू बन्धन तथा पुरुषों पर आर्थिक निर्भरता।

कार्य योजना

यदि परिवार में पुरुष महिलाओं के उनके देय अधिकार प्रदान न करें तो पुरुषों के महिलाओं के प्रति अन्याय के इस दुष्चक्र को कैसे समाप्त किया जाये, भले ही वे यह मानते हैं कि यह सांस्कृतिक मान्यता प्राप्त (culturally approved) है, या फिर क्योंकि उन्हें दण्ड नहीं मिलता या क्योंकि महिलाएं इस प्रकार के अन्याय को चुपचाप सहन करती हैं और इसके विरुद्ध आवाज नहीं उठातीं या क्योंकि अधिकारों की वंचना से जो लाभ पुरुष को मिलते हैं उनका मूल्य कहीं अधिक होता हैं, आदि? महिलाओं के हितों की रक्षा किस प्रकार की जाये? कौन सी नीतियाँ तथा कार्यक्रम पुरुष को न्यायी व उदार बना सकते हैं? उपचार सामाजिक, वैधानिक व आर्थिक हो सकते हैं।

वैधानिक उपचार

महिलाओं के प्रति न्याय के लिए जन समर्थन चाहिए ताकि मानव सेवा में लगे व्यावसायिक जन उचित कार्यवाही कर सकें। स्वतंत्रता के बाद के प्रथम दशक में लिंग समानता को एक महत्वपूर्ण समस्या माना गया और इस ओर किए गए प्रयत्नों का अधिकतर भाग यह विश्वास दिलाने में लगाया गया कि महिलाओं के शोषण के मामलों को पहचाना जायेगा और उचित कार्यवाही की जायेगी। 1952 तथा 1962 के बीच अनेक कानून स्त्रियों के लिए समानता लाने के लिए बन गए। इन कानूनों के लागू करने से पहले व्यावसायिक तथा राजनैतिज्ञों में इस प्रकार की समस्याओं का पता लगाने तथा उनको पहिचानने में कोई रुचि नहीं थी। लेकिन भारत के गणतंत्र हो जाने के पश्चात् हमारे नये शक्तिशाली नेताओं को विश्वास होने लगा कि स्त्रियों की समानता का प्रश्न पारिवारिक न होकर सामाजिक है। अत: स्त्रियों को पुरुषों के समान व्यवहार देने से संबंध में कई राज्यों में

नोट

विधान लागू किए गए। लेकिन जैसी कि अपेक्षा थी, सामाजिक कानूनों को ठीक से लागू नहीं किया गया। न्यायालय सामाजिक विधानों का अभी भी परम्परागत अर्थ ही प्रयोग करते हैं। अपराधिक न्याय व्यवस्था को स्त्रियों के शोषण को समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में देखना पड़ेगा। कुछ विधानों को सुधारना होगा ताकि पुलिस को महिलाओं के विरुद्ध अपराध करने वालों को पकड़ने में अनावश्यक प्रक्रिया की प्रतीक्षा न करनी पड़े। कई पुलिस अधिकारी अनेक उदाहरण देते हैं जिनमें मुकदमें की अवधि में स्त्रियाँ आरोपों को बीच में समाप्त करना अच्छा समझती हैं या वे आरोंपों को सिद्ध करने में असफल रहती हैं। फलतः कानूनविद्, वकील तथा पुलिस पीड़ित स्त्रियों को अपने भाइयों के विरुद्ध कानूनी कार्यवाही करने की सलाह नहीं देते जो उन्हें पैतृक सम्पत्ति में से उनका भाग देने में इन्कार कर देते हैं या उन पिताओं के विरुद्ध जो उनकी इच्छा के विरुद्ध उनका विवाह कर देते हैं या उन पतियों के विरुद्ध जो उन्हें गर्भपात के लिए बाध्य करते हैं। महिलाओं का सहयोग अत्यन्त आवश्यक है। महिलाओं के संगठित समूह आगे आकर सहायता कर सकते हैं।

सामाजिक उपचार

सामाजिक उपचारों में महिला कल्याण सेवाएं, ऐच्छिक संगठनों की स्थापना को प्रोत्साहन तथा जन संचार माध्यमों द्वारा महिलाओं का कानूनी प्रशिक्षण आदि सम्मिलित है। ऐच्छिक संगठनों को ऐसी महिलाओं का पता लगाने का कार्य करना है जिन्हें इस प्रकार की सेवाओं की आवश्यकता है। पड़ोसियों को चाहिए कि वे महिलाओं पर अत्याचार के मामलों को ऐच्छिक संगठनों तथा सेवा संस्थाओं को सूचना देकर सहयोग करें। जन शिक्षा एवं जागृति कार्यक्रम स्त्रियों की सहायता अन्याय के विरुद्ध खड़े होने के उद्देश्य से कर सकते हैं तथा सेवा संस्थाओं का सहयोग उनके अधिकारों के दिलाने के लिए लिया जा सकता है।

महिला कल्याण संस्थाओं के लिए अनुकूलतम स्थिति यह है कि महिलाओं के प्रति किए गए अन्यायों की समस्याओं को शीघ्र प्रभावी ढ़ंग से निवारण करने का प्रयत्न प्रारम्भ कर दें और समस्याओं के कारणों को लक्षण मान न समझें। पुरुषों को भी यह अनुभव कराना है कि बदलते परिवेश में उनकी भूमिका क्या है तथा परिवार के जीवन तथा घर के काम मे उनके योगदान की आवश्यकता है।

आर्थिक उपचार

शिक्षा तथा व्यावसायिक प्रशिक्षण महिलाओं को कार्य ढूंढ़ने के योग्य बनाएंगे जिससे वे आर्थिक रूप से स्वतंत्र बन सकेंगी। आर्थिक स्वतंत्रता से उनका तनाव कम होगा, उनके आदर्शो में मूल रूप से परिवर्तन आएगा और वे अपने अधिकारों तथा माँगों के प्रति अधिक साहसपूर्वक खड़ी हो सकेंगी।

महिलाओं को अपने और अपने परिवार की जीवन दशाओं को अच्छा बनाने के लिए सहायता तथा संसाधनों की आवश्यकता है। बूलडिंग (Elise Boulding, 1977: 132) के अनुसार महिलाओं के लिए दस संसाधनों का सुझाव दिया जा सकता है: तकनीकी सहायता जो श्रम बचाने वाले साधन प्रदान करें, जो महिलाओं के रोजाना के भारी कार्यो को हल्का करें प्राथमिक सामुदायिक सुविधाएं, लड़कियों को स्कूल जाने तथा शिक्षा एवं प्रशिक्षण प्राप्त करने के लिए प्रोत्साहित करना, परा-व्यवसायिक प्रशिक्षण के लिए अवसर प्रदान करना, ह्रण की सुविधाएं, अधिकारों की वैधानिक सुरक्षा, स्वैच्छिक संस्थाएं तथा महिलाओं को विविधा स्तरों पर स्थापित करने के कार्यक्रम। अतः निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि ग्रामीण क्षेत्रों में महिलाओं को अपने अधिकारों के प्रति

नोट

जागृत करने के लिए एक भिन्न प्रकार की योजना एवं विधि की आवश्यकता है अपेक्षकृत शहरी महिलाओं के। साथ ही हमें सहमत होना पड़ेगा कि वैधानिक उपायों से उनकी स्थिति व उनकी दशा को ऊंचा नहीं किया जा सकता। केवल संयुक्त (Conjunctive) पद्धति से ही हमारे समाज में महिलाओं को न्याय मिल सकता है।

3.10 लिंग समानता का आशय

शैक्षिक अवसरों की समानता में लिंग की समानता भी आवश्यक है। पुरुषों के समान स्त्रियों की शिक्षा भी आवश्यक है, किंतु अनेक देशों में लिंग (Gender) के आधार पर असमानता पाई जाती है। बालिका को हम समाज में वह दर्जा नहीं दे पाते, जो बालक को देते हैं। प्रत्येक दम्पति की लालसा पुत्र प्राप्त करने की होती है। भ्रूण परीक्षण द्वारा कुछ लोग पहले ही आश्वस्त हो जाते हैं। कुछ लोग जन्म के बाद बालक-बालिका में भेद करते हैं। ये उनके लालन-पालन में भेद रखते हैं। उनकी शिक्षा में भी विषमता दृष्टिगोचर होती है, समाज का एक वर्ग बालिका को पढ़ाना ही नहीं चाहता। अगर पढ़ने भेज देता है तो बीच में ही पढ़ाई रोक देता है।

3.11 स्त्री-शिक्षा के उद्देश्य

1. **स्त्रीयोजित एवं सर्वांगीण व्यक्तित्व का विकास**–स्वतंत्र भारत में स्त्री जाति का अबला से सबला बनाने के लिए उनके शारीरिक बौद्धिक, मानसिक, आध्यात्मिक, सामाजिक विकास करने के लिए उपयोगी शिक्षा की व्यवस्था की गई। स्त्रियोजित खेल-कूद, व्यायाम, आसनों की व्यवस्था विविध बौद्धिक और मानसिक शक्तियों का विकास करने के विषयों का शिक्षण दिया जाता है। चूँकि उपर्युक्त शिक्षा का प्रबंध एकमात्र महिला विद्यालयों में ही संभव है, इसलिए इनका विकास और प्रसार किया जा रहा है।
2. **स्त्रीत्व को बनाए रखने की दीक्षा, शिक्षा और वातावरण की व्यवस्था**–स्त्री का स्त्रीत्व उसकी लज्जाशीलता, कौमार्य और विनम्रता परंतु निर्भीकता में सन्निहित होता है। यह सब तभी संभव है, जब उन्हें स्त्रियोजित कर्तव्यों से परिचित कराया जाए। भारतीय संस्कृति में स्त्रियों की स्थिति महत्त्वपूर्ण है। वह माता (जननी) है, पत्नी है, बहिन है, पुत्री है। उनके अपने-अपने स्थान पर क्या कर्तव्य हैं, क्या अधिकार हैं, उन्हें समाज में कैसे व्यवहार करना चाहिए। उन्हें इन बातों का ज्ञान कराना आवश्यक है।
3. **योग्य मातृ, गृहिणी, पत्नी और कार्यकर्ता बनाना**–भारतीय संस्कृति में माता बालक की सबसे पहली आचार्य (गुरु) होती है। वह बालक के संस्कारों को निर्धारित करती है और समुचित वातावरण, सीख, लालन-पालन और स्नेह देकर उसका सामाजिक तथा मानवीय विकास करती है। गृहस्थ जीवन में स्त्री माता, गृहिणी तथा पत्नी-तीनों के रूप में कर्तव्य पालन करती है। उनकी शिक्षा व्यवस्था ऐसी ही हो कि स्त्रियाँ कुशल माता, गृहिणी, पत्नी और सहयोगी बन सकें।
4. **धार्मिकता, नैतिकता, चरित्र-निर्माण और शांति-स्थापना का स्त्रोत बनाना**–धार्मिक भावनाओं का प्रसार करके स्त्री बालकों का नैतिक आचरण सुधारती है। वह दया की देवी है, क्षमा-शीलता उसका धर्म है वह सहिष्णु, उदार और सहकारी है। स्त्री बालकों में योग्य नागरिक के इन गुणों की स्थापना करती है। शिक्षा द्वारा स्त्री का धार्मिक नैतिक और चारित्रिक मार्ग-दर्शन करना आवश्यक है।

नोट

5. **संस्कृति प्रसार का स्त्रोत बनाना**–समाज में विविध सांस्कृतिक परंपराएँ, स्त्रियों द्वारा ही संस्थापित होती हैं। ये उनकी रक्षक, पोषक और प्रसारक हैं। वे परिवार से लेकर समाज के क्षेत्र में अपने व्यवहारों द्वारा संस्कृति का विकास करने में योग देती हैं। वस्त्र-विन्यास, रहन-सहन, धार्मिक प्रथाएँ, रीति-रिवाज, सामाजिक मान्यताएँ, मातृभाषा-विकास पारिवारिक शिक्षा द्वारा समाजीकरण के आदर्श प्रस्तुत करके वे ही पुरुष वर्ग का मार्गदर्शन करती हैं। इसलिए स्त्री-शिक्षा में भारतीय संस्कृति का समन्वय करना चाहिए, जिससे वह उस संस्कृति का प्रसार करने का उत्तरदायित्व निर्वाह कर सके।
6. **व्यावसायिक, जीविकोपार्जन एवं कला में दक्षता**–यदि किसी परिवार के कर्तव्यों के निर्वाह की पूर्ति करने के उपरांत स्त्री के पास अवकाश का समय बचता है तो वह उसका सदुपयोग व्यावसायिक एवं जीविकोपार्जन के कार्यों द्वारा कर सकती है। इस प्रकार स्त्री परिवार की आर्थिक स्थिति में भारी योगदान दे सकती है। जब किसी परिवार का मुखिया नहीं रहता तो परिवार के लालन-पालन का भार स्त्री पर ही आ जाता है। अस्तु, स्त्री जाति को सशक्त बनाना चाहिए और शिक्षा-क्रम में उपयोगी पाठ्यक्रम सँजोना चाहिए।
7. **प्रजातंत्र की सुरक्षा और गणतंत्र में विश्वास रखने की भावना का प्रसार**–बालक के प्रशिक्षण एवं शिक्षण की सबसे पहली सीढ़ी परिवार है। माता-पिता और परिवार के लोग बालक को नागरिकता की शिक्षा देते हैं। यदि स्त्री प्रजातंत्र की प्रणालियों से परिचित है तो वह अपने घर का वातावरण भी प्रजातंत्रतात्मक बना सकती है। ऐसे वातावरण में पलने वाले बालक प्रजातंत्र में आस्था रखने वाले और उसमें योग देने वाले बन सकेंगे। इसलिए स्त्री-शिक्षा-पाठ्यक्रम में नागरिकता की शिक्षा और प्रजातंत्र के सिद्धांतों की जानकारी का समावेश करना चाहिए।
8. **नेतृत्व और उत्तरदायित्व की क्षमता का विकास**–भारतीय स्त्री ने विविध क्षेत्रों में मार्गदर्शन और नेतृत्व किया है। लक्ष्मीबाई (झाँसी की रानी), सरोजिनी नायडू, ऐनी बेसेंट, कमला नेहरू, कस्तूरबा गाँधी, इंदिरा गाँधी जैसी विदुषी महिलाओं ने युद्ध-कौशल, सामाजिक सुधार, राजनैतिक सुधार और आर्थिक नियोजन में भारी योग दिया है। आज भी भारत को ऐसी नेताओं की आवश्यकता है। इसलिए आधुनिक से छात्राओं को पुरुषों के समान विकास की सुविधाएँ और अवसर देकर प्रत्येक क्षेत्र में नेतृत्व का शिक्षण देना चाहिए, जिससे वे योग्य चिकित्सक, योग्य अभियंता, योग्य अध्यापक और समाज सुधारक बनकर राष्ट्र की सेवा कर सके।

3.12 ब्रिटिश युग में स्त्री शिक्षा का विकास

1. स्वतंत्रता पूर्व में सर्वप्रथम ''बुड के घोषणा पत्र'' में यह संस्तुति की गयी थी कि स्त्री शिक्षा के लिए, उदारतापूर्वक सहायता अनुदान देकर प्रोत्साहित किया जाए। आदेश पत्र में उन व्यक्तियों की सराहना की गई, जिन्होंने स्त्री शिक्षा की प्रोत्साहित करने के लिए धन दिया था। भारत में स्त्री-शिक्षा के लिए सरकार से पूर्ण सहायता प्राप्त होनी चाहिए। फलस्वरूप, नवनिर्मित शिक्षा विभागों ने अनेक स्थानों पर बालिकाओं के लिए प्राथमिक शिक्षा की ओर समुचित प्रशिक्षण की व्यवस्था की सिफारिश की। इस प्रकार कंपनी द्वारा अपेक्षित स्त्री-शिक्षा में प्रगति आरंभ हुई।

नोट

2. 1882 में स्त्रियों के लिए सभी प्रकार के विद्यालयों की संख्या 2,697 थी, जिनमें 1,27,666 छात्राएँ शिक्षा प्राप्त कर रही थीं। जहाँ तक बालिकाओं की प्राथमिक शिक्षा का प्रश्न है 1882 में 1,27,666 शिक्षा प्राप्त करने वाली कुल बालिकाओं में से 1,24,491 बालिकाएँ प्राथमिक पाठशालाओं में पढ़ रही थीं। इस समय तक भारतीय स्त्रियों के लिए प्राथमिक शिक्षा की आवश्यकता का अनुभव कर चुके थे, परंतु वे माध्यमिक एवं उच्च शिक्षा के पक्ष में नहीं थे।

3. इस काल की एक विशेषता यह थी कि स्त्रियाँ प्राथमिक विद्यालयों में अध्यापिकाओं का कार्य करने के लिए शिक्षा ले रही थीं। 1882 में छात्राध्यापिकाओं की संख्या 515 थीं। प्रशिक्षण विद्यालयों की स्थापना की ओर सर्वप्रथम मिशनरियों ने ध्यान दिया। इनका निर्माण करने में मिशनरियों के दो उद्देश्य थे–

   (i) मिशन बालिका विद्यालयों के लिए अध्यापिकाओं को शिक्षित करना।

   (ii) धर्म परिवर्तित ईसाई स्त्रियों को अध्यापिकाएँ बनाकर उनके जीविकोपार्जन की समस्या को हल करना।

   मिशन प्रशिक्षण विद्यालय लोकप्रिय न बन सके। संभ्रात व्यक्ति अपनी लड़कियों को वहाँ नहीं भेजना चाहते थे, क्योंकि वहाँ बाइबिल पढ़ना अनिवार्य था। मिशन प्रशिक्षण विद्यालयों के अतिरिक्त देश में भारतीयों या सरकार द्वारा संचालित एक भी विद्यालय नहीं था। भारतीयों के द्वारा इस दिशा में कार्य न किए जाने का कारण यह था कि भारतीय समाज में ऐसी सुशिक्षित महिलाओं का अभाव था, जो प्रधान अध्यापिकाओं के रूप में कार्य कर सकें। 1854 में घोषणा-पत्र में अध्यापिकाओं की दीक्षा के लिए आदेश दिए जाने पर भी सरकार ने इस ओर कोई कदम नहीं उठाया था।

4. हंटर शिक्षा आयोग (1882) ने नारी शिक्षा को अधिक प्रगतिशील बनाने के लिए आवश्यक सुविधाएँ जुटाने की बात कही। लड़कियों के लिए कन्या नार्मल स्कूल खोलने, उनकी संख्या बढ़ाने को, पाठ्यक्रम को सरल और उपयोगी बनाने पर बल देकर आयोग ने स्त्री-शिक्षा के लिए निरीक्षिकाओं की नियुक्तियाँ करने का सुझाव दिया। इस आयोग की संस्तुति के आधार पर सरकार ने स्त्री शिक्षालयों को अनुदान देना प्रारंभ किया। सन् 1892 तक 5628 प्राथमिक विद्यालय हो गए, जिनमें 4,47,470 छात्राओं के लिए शिक्षा व्यवस्था हो चुकी थी।

5. सन् 1901 में मिशनरियों के बढ़ते हुए प्रभाव को देखकर आर्य समाज ने शिक्षा के विकास की दृष्टि से बालिका शिक्षा के लिए शिक्षालयों की स्थापना आवश्यक समझी। प्रमुख केंद्रों एवं नगरों में अनेक कन्या पाठशालाएँ स्थापित की गयीं। राष्ट्रीय आंदोलन से प्रभावित होकर आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के तत्वावधान में हरिद्वार और वृंदावन में लड़कों के गुरुकुलों के साथ-साथ कन्या गुरुकुल भी खोले गए। इसी समय 1901 में रवीन्द्रनाथ टैगोर ने शांति निकेतन में स्त्री-शिक्षा विभाग की स्थापना की थी। सन् 1904 में श्रीमती ऐनी बेसेंट ने बनारस में सेंट्रल हिंदू बालिका विद्यालय की स्थापना की। सन् 1882 से 1902 तक बालिका शिक्षा की प्रगति निरंतर होती रही। इस अवधि में प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में सबसे अधिक उन्नति हुई। 1882 में अध्ययन करने वाली बालिकाओं की संख्या 1,24,491 थी। 1902 में यह 3,48,410 हो गयी। प्राथमिक विद्यालयों में बालकों और बालिकाओं के पाठ्यक्रम में अंतर कर दिया गया। छात्राओं को गणित, भूगोल और इतिहास के स्थान

नोट

पर संगीत, चित्रकला और सिलाई, कढ़ाई की शिक्षा दी जाने लगी। विशेष रूप से हिंदू इसकी उपयोगिता समझने लगे। पंडित ईश्वर चंद्र विद्यासागर और आगरकर जैसे उत्साही समाज सुधारकों ने कन्या विद्यालयों के निर्माण के लिए जनता से धन एकत्र करने में अथक प्रयास किए और देश के विभिन्न भागों में बालिका विद्यालयों की स्थापना करके शिक्षा प्रसार में सराहनीय योगदान दिया।

6. गोपाल कृष्ण गोखले पहले नेता थे, जिन्होंने ब्रिटिश संसद में भारतीय नागरिकों के लिए अनिवार्य शिक्षा की माँग की। उनकी दूरदर्शिता के कारण गोखले विधेयक (1911) प्रस्तावित हुआ। सामाजिक कुरीतियों, प्रथाओं एवं पर्दा प्रथा के कारण अनिवार्य शिक्षा को अपनाना, कठिन था, फिर भी उन्होंने सरकार का सुझाया कि वह 6 से लेकर 10 वर्ष तक (चार वर्ष) के लिए प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य कर दे। पहले बालकों के लिए और बाद में बालिकाओं के लिए अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था की जाये। यह विधेयक पास नहीं हो सका और शिक्षा अनिवार्यता ग्रहण न कर सकी। सन् 1914 में प्रथम विश्वयुद्ध छिड़ने के कारण शिक्षा की प्रगति अवरुद्ध हो गयी। गोखले विधेयक की मुख्य बातें निम्नलिखित थीं–

   (i) अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के अधिनियम को उन स्थानीय बोर्डों के क्षेत्रों में लागू किया जाये, जहाँ के बच्चों का एक निश्चित प्रतिशत प्रारंभिक विद्यालयों में शिक्षा प्राप्त कर रहा हो।

   (ii) स्थानीय बोर्ड सरकार की पूर्व स्वीकृति प्राप्त करके इस अधिनियम को लागू कर सकते हैं।

   (iii) प्राथमिक शिक्षा के व्यय के लिए स्थानीय बोर्ड शिक्षा कर लगा सकते हैं।

   (iv) अभिभावकों के लिए 6 से 10 वर्ष तक की आयु के बालकों को प्राथमिक विद्यालयों में भेजना अनिवार्य हो। यदि वे इस नियम का उल्लंघन करें तो उन्हें दंड दिया जाये।

   (v) कालांतर में बालिकाओं के लिए भी प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य कर दी जाये।

   (vi) जिस अभिभावक की आय 10 रुपये मासिक से कम हो, उससे शिक्षा शुल्क न लिया जाये।

   (vii) अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा का व्यय भार स्थानीय बोर्डों और सरकार द्वारा वहन किया जाये, सरकार संपूर्ण व्यय का 2/3 भाग दें।

   इसको प्रस्तुत करते हुए गोखले ने अति विनम्र भाव से गवर्नर जनरल को संबोधित करते हुए कहा–श्रीमान जी, सारांश में विधेयक यह है, ''अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा का श्रीगणेश करने का यह लघु एवं तुच्छ प्रयास है।'' विधेयक को जनमत संग्रह के लिए स्थानीय सरकारों, विश्वविद्यालयों एवं कुछ व्यक्तिगत संस्थाओं के पास भेज गया। 17 मार्च, 1912 को सभा में विधेयक पर वाद-विवाद प्रारंभ हुआ, दो दिन के भीषण संघर्ष के पश्चात् 19 मार्च, 1912 को इसे 13 वोटों के विरुद्ध 38 वोटों से गिरा दिया गया।

7. लार्ड कर्जन के समय में संपूर्ण भारत में केवल 4,24,000 लड़कियाँ विभिन्न प्रकार के स्कूलों में शिक्षा ग्रहण कर रही थीं। इसमें से लगे भाग 1/3 एंग्लो इंडियन और भारतीय ईसाई थे। कर्जन ने स्त्री शिक्षा को प्रोत्साहित करने का निश्चय किया, परंतु भारतीयों की रूढ़िवादिता पर्दा प्रथा और बालविवाह प्रथा आदि कठिनाइयाँ सामने आईं। बालिकाओं के

नोट

लिए कुछ आदर्श विद्यालयों की स्थापना की गई और उनमें सुयोग्य अध्यापिकाओं की नियुक्ति करके स्त्री शिक्षा को विस्तृत करने का मार्ग अपनाया गया।

8. शिक्षा नीति संबधी सरकारी प्रस्ताव में स्त्री शिक्षा की ओर ध्यान दिया गया। इसमें स्वीकार किया गया कि भारतीयों की सामाजिक प्रथाएँ स्त्रियों की शिक्षा में अवरोध डालती हैं। समाज के इन बंधनों को तिरस्कृत करके स्त्री शिक्षा का प्रसार किया जाना संभव नहीं हैं। प्रांतीय सरकारों को लिखा गया कि वे स्थानीय सामाजिक परिस्थितियों को अपने दृष्टिकोण में रखकर स्त्री शिक्षा को प्रोत्साहित करने के लिए अपनी योजनाएँ भेजें। इसके साथ ही सरकारी प्रस्ताव में स्त्री शिक्षा के विकास के लिए निम्नलिखित सामान्य सिद्धांत निर्धारित किए गये–
   (i) बालिकाओं को जीवनोपयोगी शिक्षा दी जाए और वह ऐसी हो, जिससे वे सामाजिक जीवन में अपना उचित स्थान ग्रहण कर सकें।
   (ii) बालिकाओं को बालकों से भिन्न शिक्षा दी जाये और इनमें परीक्षाओं को कोई महत्त्व नहीं दिया जाए।
   (iii) बालिकाओं की शिक्षा में स्वास्थ्य विज्ञान का विशेष ध्यान दिया जाए और स्थानीय सामाजिक वातावरण को ध्यान में रखा जाए।
   (iv) बालिका विद्यालयों में शिक्षण तथा निरीक्षण का कार्य करने के लिए स्त्रियाँ ही नियुक्त की जाएँ। सन् 1921 में प्राथमिक विद्यालयों में पढ़ने वाली बालिकाओं की संख्या 11,98,550 थी, जबकि 1910 में यह संख्या 3,48,510 थी। इस काल में शिक्षण विद्यालयों में दीक्षा लेने वाली छात्राओं की संख्या में आश्चर्यजनक वृद्धि हुई। 1881 में इस प्रकार की छात्राओं की संख्या 515, 1901 में 1,412 और 1921 में 4,391 थी। बंगाल में स्त्री शिक्षा प्रोत्साहित करने के लिए 1907 में स्त्री शिक्षा समिति की स्थापना की गयी।

9. **''हर्टाग समिति** 1927'' ने बालिका शिक्षा संबंधी विविध निम्न संस्तुतियाँ प्रस्तुत कीं–
   (i) बालिका विद्यालयों के निरीक्षणार्थ निरीक्षिकाओं की संख्या बढ़ायी जानी चाहिए।
   (ii) ग्रामीण क्षेत्रों में अधिकाधिक बालिका विद्यालय स्थापित करने चाहिए।
   (iii) बालिकाओं के लिए गृह विज्ञान, संगीत, कला, स्वास्थ्य और परिचर्या की शिक्षा व्यवस्था की जानी चाहिए।

10. 1921 से 1937 तक बालिका शिक्षा में व्यक्तिगत एवं सरकारी प्रयासों द्वारा उन्नति हुई। 1929 में **अजमेर ''हरविलास शारदा''** द्वारा 'बाल विवाह' प्रस्तावित विधेयक द्वारा बाल विवाह पर निषेध लगाया गया और 'शारदा अधिनियम 1929' का निर्माण किया गया। इस नियम से कम आयु की बालिकाओं को शिक्षा ग्रहण करने का अवसर मिला। स्त्रियों को मतदान का अधिकार मिला। उपरोक्त सामाजिक एवं राजनैतिक सुधारों से स्त्री जाति में आत्मसम्मान जाग्रत हुआ। इतना ही नहीं स्त्रियों ने 1926 में **'अखिल भारतीय महिला संघ'** का निर्माण किया और 1927 में अखिल भारतीय स्त्री शिक्षा सम्मेलन आयोजित किया, जिसमें उन्होंने पुरुषों के अनुरूप विविध प्रकार की शिक्षा की अधिकारिणी होने की माँग का नारा बुलंद किया।

नोट

11. 1937 से 1947 तक विशेष रूप से स्त्री शिक्षा में तीव्र प्रगति हुई। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान भारत के विभिन्न सरकारी विभागों एवं व्यापारिक कार्यालयों में शिक्षित व्यक्तियों की माँग बढ़ी। फलस्वरूप अनेक स्त्रियाँ उनमें कार्य करने लगीं। नौकरी करने से स्त्रियाँ ने जिस आर्थिक स्वतंत्रता आनंद का उपयोग किया, उसमें उन्हें शिक्षा ग्रहण करने की अधिक प्रेरणा प्राप्त हुई। युद्ध काल में महँगाई अधिक हो जाने के कारण मध्यम वर्ग के व्यक्ति आर्थिक संकट में थे। अत: उनमें से जो उदार विचार के थे उन्होंने अपनी स्त्रियों को घर से बाहर जाकर नौकरी करने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं की। इस परिवर्तित दृष्टिकोण ने स्त्री शिक्षा के उन्नयन में अतिशय योग दिया। 1947 में स्त्रियों के लिए सामान्य तथा विशिष्ट शिक्षा के लिए 16,951 संस्थाएँ थीं, जिनमें 3,55,05,503 लड़कियाँ शिक्षा का लाभ उठा रहीं थीं।

3.13 स्वतंत्रता के पश्चात् स्त्री शिक्षा

भारतीय संविधान के अनुच्छेद में उल्लिखित है कि किसी भी नागरिक के साथ लिंग के आधार पर भेदभाव नहीं किया जायेगा। भारतीय संविधान की धारा 15 के अनुसार, राज्य किसी नागरिक के विरुद्ध केवल धर्म, जाति, लिंग, जन्म स्थान या इनमें से किसी के आधार पर कोई भेद नहीं करेगा। सरकार ने नारी उत्थान के लिए **श्रीमती जयन्ती पटनायक** की अध्यक्षता में नेशनल कमीशन ऑफ वीमेन की स्थापना की। ऐसी आशा की गयी कि स्त्रियों के उत्थान के लिए कमीशन एक अच्छा अस्त्र साबित होगा।

स्वतंत्रता के पश्चात् स्त्री शिक्षा के संदर्भ में आयोगों एवं समितियों ने निम्न कार्य किए–

1. **राधाकृष्णन कमीशन (1948-49)**–स्त्री शिक्षा पर बल देते हुए कहा कि **''शिक्षित कार्यों के बिना शिक्षित व्यक्ति नहीं हो सकते।''** इस आयोग ने स्त्री शिक्षा के विकासार्थ कुछ सुझाव दिए–
   (i) नारी को सुमाता तथा सुगृहणी बनाने की शिक्षा दी जाए।
   (ii) स्त्रियों के लिए शिक्षा सुविधाओं का विस्तार किया जाए।
   (iii) स्त्रियों को गृह प्रबंध अध्ययन की प्रेरणा और अवसर दिए जाएँ।
   (iv) अध्यापिकाओं को समान कार्यों के लिए अन्य अध्यापकों के बराबर वेतन दिया जाए।
   (v) ऐसा पाठ्यक्रम बनाया जाए, जो बालिकाओं को समाज में समान स्थान दिला सके।

   स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् राष्ट्रीय सरकार ने नारी शिक्षा के प्रसार के लिए अधिक उत्साह का प्रदर्शन किया। नये संविधान का उद्देश्य भारत में एक ऐसे संविधान की संरचना करती है, जो नागरिकों को बिना धर्म, जाति अथवा लिंग भेद के न्याय एवं समानता पर आधारित हो। इसीलिए सरकार द्वारा स्त्री शिक्षा के लिए प्रभावशाली कदम उठाये गये। वर्ष 1949-50 के प्राथमिक स्कूलों में बालिकाओं की संख्या का प्रतिशत मात्र 28 था।
2. **योजना आयोग–प्रथम पंचवर्षीय योजना**–इस काल में स्त्री शिक्षा के विकास हेतु लक्ष्य निर्धारित किए गये उसके परिणामस्वरूप स्कूल जाने वाली 6-11 वर्ष आयु वर्ग की बालिकाओं की संख्या का प्रतिशत वर्ष 1955-56 में 40 प्रतिशत तक पहुँच गया जोकि वर्ष 1950-51 में मात्र 3 प्रतिशत था। योजना आयोग द्वारा अत्यंत पिछड़ी बालिकाओं

तथा महिलाओं को शिक्षा प्रदान किए जाने की शिक्षा हेतु आवश्यक लक्ष्य निर्धारित किए तथा विभिन्न सामाजिक संस्थाओं के सहयोग से उन्हें शिक्षित करने हेतु पूरे प्रयास किये गए। इस अवधि में बालिका शिक्षा संस्थाओं की संख्या 61 लाख से बढ़कर 81 लाख हो गयी। इस संख्या में अप्रत्याशित वृद्धि का कारण बालिकाओं का सहशिक्षा में प्रवेश लेना था। केवल बालिकाओं की शिक्षा देने वाली संस्थाओं की संख्या इस अवधि में 16.814 से बढ़कर 18.671 तक पहुँच गयी जबकि अध्ययनरत बालिकाओं की संख्या इस अवधि में क्रमश: 64.7 लाख से 93 लाख तक पहुँच गयी, जोकि लगभग 42.6 प्रतिशत थी।

वर्ष 1951-1956 योजना काल में स्त्री शिक्षा के विकास हेतु सरकार द्वारा पारित कानूनों का वैवाहिक जीवन में मधुरता तथा समरसता बनाए रखने के लिए 1955 में बना ''हिंदू विवाह अधिनियम 1952 में बना विशेष विवाह अधिनियम मुख्य है, जिसमें अंतर्जातीय विवाह को वैध घोषित किया गया तथा वर व कन्या के विवाह की न्यूनतम आयु 21 व 18 वर्ष निश्चित की गयी। 1954 में यू.जी.सी. बिल संसद में पेश किया गया तो मिस जयश्री तथा श्री डी. शर्मा ने महिलाओं भी पुरुषों के समान ही शैक्षिक सुविधाएँ उपलब्ध कराने पर विशेष जोर दिया। उन्होंने कहा कि पुरुषों के समान स्त्रियों को भी विद्यालयों में प्रवेश, शिक्षकों की भर्ती आदि समस्त पहलुओं पर समान रूप से नामित किया जाना चाहिए।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना–इस काल में स्त्रियों की शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया गया। इस योजना काल में महिला शिक्षकों को प्रशिक्षण हेतु विशेष व्यवस्था की गयी, क्योंकि महिला शिक्षा के अभाव में शिक्षा का विकास ठीक प्रकार से नहीं हो पा रहा था। इस योजना में ग्रामीण क्षेत्रों में रहने वाली स्त्रियों के लिए मकान आदि की सुविधाएँ दिए जाने पर विशेष ध्यान दिया गया। बालिकाओं को शिक्षा के लिए छात्रवृत्तियाँ एवं विभिन्न राज्यों में स्त्रियों को निम्नलिखित अनुदान प्रदान किए जाने की व्यवस्था की गयी–

(i) ग्रामीण क्षेत्रों में महिला शिक्षकों के लिए नि:शुल्क आवासीय व्यवस्था।

(ii) स्कूलों में आयाओं की नियुक्ति हेतु।

(iii) शिक्षण प्रशिक्षण हेतु महिला शिक्षकों को छात्रवृत्ति प्रदान करना।

(iv) रिफ्रेशर कोर्स की व्यवस्था। स योजनाकाल में सरकार द्वारा पारित कानून हिंदू माइनॉरिटी एण्ड गार्जियनशिप एक्ट (अल्पवयस्कता तथा अभिभावकता अधिनियम) 1956 में बना। इस नियम ने स्त्री शिक्षा के विकास में सहयोग किया।

3. **राष्ट्रीय महिला शिक्षा समिति (1958)**–इसको दुर्गाबाई देशमुख समिति के नाम से भी जानते हैं। महिला शिक्षा पर विशेष ध्यान देने के उद्देश्य से दुर्गाबाई देशमुख की अध्यक्षता में समिति गठित की गयी, जिसका उद्देश्य स्त्री शिक्षा की विभिन्न समस्याओं का समाधान करने के सुझाव देना था। 1959 में समिति ने निम्नलिखित सुझाव प्रस्तुत किए–

(i) कुछ वर्षों तक बालिका शिक्षा की ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता तथा स्त्रियों के लिए अलग से प्रशासनिक व्यवस्था भी की जानी चाहिए।

(ii) ग्रामीण क्षेत्रों में स्त्री-शिक्षा के विकास हेतु सरलीकृत अनुमोदन किए जाने की व्यवस्था की जानी चाहिए।

(iii) उपलब्ध, धनराशि का उपयोग बालिकाओं के मिडिल तथा माध्यमिक स्तर के विद्यालय शिक्षक प्रशिक्षण, स्कूलों, छात्रावास तथा महिला अध्यापिकाओं हेतु छात्रावास बनाए जाने के अनिवार्य रूप से किया जाना चाहिए।

(iv) राज्यों में बालिकाओं एवं स्त्री शिक्षा की राज्य परिषदों का निर्माण किया जाए।

(v) बालक तथा बालिका शिक्षा के लिए विषमता को शीघ्र समाप्त किया जाए।

नोट

4. **राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986**–इसमें निम्नलिखित उपाय सुझाए गए–

(i) बालिकाओं की शिक्षा के लिए परिवेश का निर्माण करना।

(ii) औपचारिक तथा अनौपचारिक दोनों प्रकार की शिक्षा के लिए सुविधाएँ बढ़ाना।

(iii) वर्तमान कार्यक्रम का विस्तार एवं अनेक सहायता कार्यक्रम को प्रारंभ किया जाए, जिससे बालिकाओं का स्तर बढ़ाया जा सके।

(iv) आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अनुपूरक पाठ्यक्रम तैयार करना।

(v) निरक्षर स्त्रियों के लिए युद्ध स्तर पर कार्य करके निरक्षरता दूर करने के उपाय किए जाएँ, उसे स्वयं सेवी संगठन, संपूर्ण मानव शक्ति का सहयोग लिया जाए।

5. **प्रोफेसर राममूर्ति समिति (1991)**–बालिका शिक्षा पर इसके सुझाव निम्नलिखित हैं–

(i) अध्यापिकाओं की अधिक-से-अधिक नियुक्ति की जाए।

(ii) विद्यालयों में पोषण, स्वास्थ्य एवं बाल विकास का समावेश किया जाए।

(iii) विभिन्न स्तरों पर महिला अनुसंधान केंद्रों की स्थापना की जाए।

(iv) महिला शिक्षा के लिए अलग से धन का प्रावधान किया जाए।

(v) छात्रवृत्तियाँ, मुफ्त पाठ्य पुस्तकों का वितरण एवं अन्य प्रोत्साहन अधिक-से-अधिक दिए जाएँ।

6. **नामांकन** (Enrolment) **में वृद्धि की योजनाएँ**–बालिकाओं के नामांकन में वृद्धि करने के उद्देश्य से सरकार द्वारा विभिन्न की योजनाएँ लागू की गयीं। वर्ष 1978-79 में 6 से 14 वर्ष के वर्ग के बच्चों में नामांकन न कराने वाली लड़कियों की संख्या 66 प्रतिशत थी।

7. **राष्ट्रीय समिति का गठन** (Organisation of National Committee)–भारत सरकार द्वारा महिलाओं की शिक्षा हेतु गठित राष्ट्रीय समिति ने 1974 में अपनी 13वीं में निम्नलिखित सिफारिशें कीं–

(i) केंद्र द्वारा राज्य सरकारों तथा स्वायत्त सेवा संस्थाओं को अनुदान के रूप में स्त्री शिक्षा विकास हेतु विशेष धनराशि प्रदान की जाए।

(ii) लड़कियों के नामांकन में वृद्धि हेतु विशेष सुविधाएँ उपलब्ध करायी जाएँ।

(iii) महिलाओं को शिक्षण-प्रशिक्षण कोर्स के द्वारा प्रदान किया जाए।

(iv) स्थानीय महिलाओं को शिक्षक के रूप में कार्य करने हेतु प्रेरित करने का प्रयास किया जाए।

(v) ऐसी बालिकाओं के लिए जो बीच में ही अपनी पढ़ाई छोड़ देती हैं, ऐसा पाठ्यक्रम तैयार करना चाहिए, जिसे वे अनौपचारिक शिक्षा के रूप में ग्रहण कर सकें।

(vi) महिला शिक्षकों के लिए शहरों और नगरों में स्टाफ क्वार्ट्स बनाए जाने चाहिए तथा उन्हें सुरक्षा प्रदान किए जाने की व्यवस्था की जानी चाहिए।

नोट

केंद्र सरकार ने पाया कि अधिकांश महिलाएँ अभी भी सामाजिक और आर्थिक असमानताओं से प्रभावित हैं, परंतु स्त्री शिक्षा के लिए बनायी गयी योजनाएँ ठीक प्रकार से लागू न हो पायीं और बालिकाओं के जीवन और शिक्षा में कोई सकारात्मक प्रगति न हो सकी।

8. **भारतीय महिलाओं के शैक्षिक स्तर संबंधी समिति की रिपोर्ट–18** मई, 1975 को यह रिपोर्ट राज्यसभा के पटल पर रखी गयी। इस पर बोलते हुए तत्कालीन शिक्षा मंत्री हसन ने कहा–''पिछले 28 वर्षों में स्त्रियों की दशा में व्यापक सुधार आया है। उन्हें महिलाओं ने पूरी सुरक्षा के साथ-साथ कई शैक्षिक योजनाओं में भी सहभागी बनाया है तथा मापदंड भी उनकी प्रगति में सहायक हुए हैं।'' बहस में भाग लेते हुए तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गाँधी ने कहा कि, ''किसी भी समाज का स्तर वहाँ की महिलाओं के स्तर से आँका जाता है। महिलाएँ आज भी पुरुष प्रधान समाज में रह रही हैं।'' उन्हें जन्म से लेकर जीवनपर्यंत हर क्षेत्र में इस मानसिक कष्ट से गुजरना पड़ता है, चाहे वह शिक्षा का क्षेत्र हो अथवा समाज में रहने की बात। महिलाओं का निम्न स्तर अथवा उन्हें विकास की कम सुविधाएँ उपलब्ध कराना समाज को विकलांग बना देता है। संसद में स्त्रियों की दशा की सही तस्वीर प्रस्तुत करते हुए राजा देशपांडे ने कहा कि, ''यह वर्ष महिला वर्ष है। मैं जानना चाहूँगी कि सरकार महिलाओं के बारे में सोच रही है। यदि आपका उत्तर यह है कि आप उन्हें पुरुषों के समान ही स्तर प्रदान कर रहे हैं तो मैं आपके प्रति आभारी हूँ। मैंने देखा है कि बहुत से स्थानों पर ऐसे स्कूल, होस्टल हैं, जहाँ बालिकाएँ स्वयं रहकर पढ़-लिख सकती हैं, परंतु यदि गाँवों में हम बालिकाओं की शिक्षा के बारे में देखें तो स्थिति पूर्णत: विपरीत है। वहाँ बालिकाओ को विद्यालय भेजना किसी पर उपकार समझते हैं। हमें यह स्थिति बदलनी होगी। ऐसे में हम विद्यालय तथा छात्रावासों की संख्या को बढ़ाना चाहिए, जहाँ बालिकाओं को सुविधाएँ उपलब्ध हों। विशेष रूप से इस महिला वर्ष में हमें बालिकाओं की शिक्षा पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है।''

9. **राष्ट्रीय महिला आयोग** (National Women Commission)–सन् 1990 में महिला आयोग अधिनियम पारित किया गया। इसमें एक अध्यक्ष, एक सचिव एवं पाँच पूर्ण सदस्य थे। यह आयोग 31 जनवरी, 1992 से प्रभावी हुआ। इस आयोग को निम्न कार्य सौंपे।
   (i) महिलाओं को कानूनी सुरक्षा प्रदान की गयी है। उन्हें कारगर ढंग से लागू करने के लिए सुझाना।
   (ii) महिलाओं को प्रभावित करने वाले कानूनों में कमी, अपर्याप्त या त्रुटि पर संशोधन सुझाव देना।
   (iii) महिलाओं की शिकायतों पर ध्यान देना एवं जहाँ कानूनों का उल्लंघन होता है। को संबंधित अधिकारी तक पहुँचाना।
   (iv) महिलाओं को आर्थिक एवं सामाजिक विकास के लिए योजनाएँ बनाने के लिए प्रक्रिया में भाग लेना।
   (v) सुधार गृहों, जेलखानों व अन्य स्थानों पर उनके पुनर्वास तथा दशा सुधारने के बारे में सिफारिशें करना।

10. आयोग ने 7-8 अक्टूबर, 1992 को बालिकाओं से बलात्कार विषय पर एक संगोष्ठी आयोजित की थी, जिसमें घृणित अपराध की घटनाओं की रोक-थाम के उपायों पर विचार

किया गया था। मार्च 1993 में इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के लिए महिला परिप्रेक्ष्य पर गोष्ठी हुई, जिससे समाचार-पत्रों व मुद्रित सामग्री के बारे में जागरूकता पैदा करना था।

नोट

स्त्री एवं पुरुषों का साक्षरता प्रतिशत

वर्ष	पुरुष	महिलाएँ	कुल (व्यक्ति)
1901	9.8	0.6	5.3
1911	10.6	1.6	5.9
1921	12.2	1.8	7.2
1931	15.6	2.9	9.4
1941	24.9	7.3	16.1
1951	24.9	7.9	16.7
1961	39.9	13.0	24.4
1971	39.5	18.7	29.5
1981	46.9	24.8	36.2
1991	63.86	39.42	52.11
2001	75.8	54.16	65.38

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि जहाँ 1951 में 7.9 प्रतिशत स्त्रियाँ साक्षर थीं। 50 वर्षों पश्चात् 2001 में 54.16 प्रतिशत महिला जनसंख्या ही साक्षर हो सकीं अर्थात् आधी स्त्रियाँ अभी तक निरक्षर हैं।

3.14 स्त्री शिक्षा का प्रशासन और नियंत्रण

भारत में शिक्षा राज्यों के उत्तरदायित्व का विषय है। इसका विकास राज्यों को ही करना होता है। केंद्रीय सरकार राज्यों को प्रतिवर्ष विकासात्मक अनुदान देती है। इस प्रकार प्राथमिक स्तर से उच्च शिक्षा स्तर तक स्त्री-शिक्षा के सभी विद्यालय चार प्रशासकों के नियंत्रण में हैं–

(i) केंद्रीय सरकार के प्रशासन,

(ii) राज्य सरकार के प्रशासन,

(iii) स्थानीय परिषदों के प्रशासन,

(iv) व्यक्तिगत अथवा सामाजिक प्रशासन।

केंद्रीय सरकार स्त्री-शिक्षा की कोई पृथक् व्यवस्था नहीं करती। वह इस शिक्षा को भी शिक्षा के माध्यम से सामान्य शिक्षा की भाँति व्यवस्थित करती है, परंतु राष्ट्रीय महिला शिक्षा परिषद् पर वह विशिष्ट आयोग या समिति नियुक्त करके उसकी स्थिति का सर्वेक्षण करा लेती है। स्त्री-शिक्षा के विकास की संस्तुतियाँ स्वीकार करके एक राष्ट्रव्यापी नीति बना लेती है, जो राज्य सरकारों को दे दी जाती है। राज्य सरकारें उस नीति का पालन करके स्त्री-शिक्षा का लक्ष्य प्राप्त करती हैं।

राज्य सरकारें प्रदेश में शिक्षा विभाग की सहायता से सभी स्तरों की शिक्षा की व्यवस्था, प्रशासन नियंत्रण करती हैं। प्रदेश की माध्यमिक शिक्षा का संचालन शिक्षा विभाग (प्रांतीय) करता है। शिक्षा की व्यवस्था के लिए प्रदेश के शिक्षा विभाग में महिला शिक्षा निदेशक उत्तरदायी होती है। महिलाएँ

नोट

शिक्षा निदेशक अपनी सहायतार्थ मंडल की सीमा निर्धारित करके 'विद्यालयों की निरीक्षिका' की नियुक्ति कराती है। एक मंडल के सभी कन्या विद्यालयों की शिक्षा व्यवस्था शासनिक तथा आर्थिक उत्तरदायित्व उपरोक्त निरीक्षक के माध्यम से संपन्न होता है। इस प्रकार स्त्री-शिक्षा माध्यमिक स्तर तक दोहरे शासन में रहती है। प्रशासनिक तथा नियंत्रण की दृष्टि से हो सकती है। संस्थाओं में पुरुष छात्र विद्यालयों के समान जिला विद्यालय निरीक्षक के आदेशों का पालन करता है; तथा दूसरी ओर आर्थिक और व्यवस्थापक नियंत्रण की दृष्टि से उन्हें जिले की सह-निरीक्षक के आदेश का भी पालन करना पड़ता है। इससे स्त्री-शिक्षा के विकास में दोहरी बाधा उत्पन्न होती है।

1958 ई. में केंद्रीय सरकार ने 'राष्ट्रीय नारी समिति' की नियुक्ति की थी और सुझावानुसार 1959 ई. में 'राष्ट्रीय स्त्री शिक्षा परिषद्' का गठन तथ नियुक्ति की गयी। इसमें ने सुझाव दिया था कि केंद्रीय-शिक्षा मंत्रालय में एक पृथक् स्त्री-शिक्षा विभाग खुले जो कि विकास की योजना और कार्यक्रम और नीति निर्धारित करे। इसी प्रकार राज्यों में भी शिक्षा के अंतर्गत स्त्री-शिक्षा उपविभाग स्थापित किया जाए और संयुक्त शिक्षा निदेशकों की नियुक्ति की जाए। एक 'स्त्री-शिक्षा परामर्शदात्री समिति' बनाकर राज्य भर के लिए एक स्त्री-शिक्षा की नीति होनी चाहिए। यह योजना केंद्रीय सरकार के विचाराधीन है।

3.15 स्त्री-शिक्षा का पाठ्यक्रम

वास्तव में, स्त्री-शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य स्त्रियों को योग्य गृहणी, योग्य माता बनाना ही है। इसके अतिरिक्त वे भारत के सामान्य नागरिकों की भाँति पुरुषों के समान अपने अधिकारों का निर्वाह कर सकती हैं। भारतीय संविधान में स्त्रियों को पुरुषों के समान ही अधिकार प्राप्त हैं।

सभी शिक्षा आयोगों ने अपनी संस्तुतियों में कहा है कि स्त्रियों के लिए पुरुषों के समान पाठ्यक्रम तथा पृथक् विशिष्ट पाठ्यक्रम निर्धारित करना चाहिए। इस विशिष्ट पाठ्यक्रम में गृह-अर्थशास्त्र और गृह प्रबंध जैसे विषय, ललित कलाएँ, संगीत, चित्रकला और नृत्य आदि होने चाहिए।

कोठारी आयोग ने सुझाव दिया है कि स्त्रियों को स्त्रियोजित पाठ्यक्रम अवश्य मिलने चाहिए परंतु वे इस बात में स्वतंत्र होनी चाहिए कि वे किस पाठ्यक्रम का चयन करती हैं। उन पर गृह-प्रबंध और गृह-अर्थशास्त्र लादा नहीं जाना चाहिए। हाईस्कूल स्तर तक गृह-विज्ञान संबंध के माध्यम से गृह-व्यवस्था जानना आवश्यक है। इस स्तर तक इन विषयों को अनिवार्य कर सकता है।

उच्च माध्यमिक स्तर तथा उच्च शिक्षा स्तर पर उन महिलाओं के लिए घर पर व्यवस्था होनी चाहिए, जो नियमित रूप से शिक्षा ग्रहण नहीं कर सकतीं, इसके लिए 'पत्र व्यवस्था' तथा 'सेवा कालीन' शिक्षा व्यवस्था उपयुक्त रहेगी। महिलाओं को व्यक्तिगत रूप से बैठने की व्यवस्था की जानी चाहिए। पुरुषों के पाठ्यक्रम ग्रहण करके महिलाएँ भी कुछ कुशल चिकित्सक, योग्य अभियंता, नेता और समाज सुधारक बन सकती हैं। अत: उन्हें प्रत्येक कार्य करने की पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिए।

3.16 अभिभावक साक्षरता और शिक्षा

अभिभावकों को शिक्षित करने का अभियान पश्चिमी दुनिया में दो शताब्दी पहले शुरू हो चुका था। तभी से ही शिक्षाविद, मनोविश्लेषक और अन्य विशेषज्ञ, अभिभावक शिक्षा कार्यक्रमों के लक्ष्यों से जुड़े प्रश्नों का उत्तर ढूंढ रहे हैं। उन्होंने परिवार की साक्षरता बढ़ाने संबंधी चुनौतियों एवं मुद्दों की पड़ताल की है। इसके साथ ही ऐसे कार्यक्रमों को लागू करने के लिए विभिन्न तरीके भी उन्होंने खोज

निकाले हैं। विद्यालय में बच्चे की पढ़ाई पर परिवार का क्या असर होता है, इस बारे में दस्तावेज तैयार किए गए हैं। परिवार के साक्षरता संबंधी इन अध्ययनों से अभिभावक-विद्यालय संबंधों की आवश्यकता और उनका महत्व रेखांकित हुआ है। परिवार की साक्षरता की एक परिभाषा इस प्रकार है- किसी परिवार में स्थायी परिवर्तन लाने के लिए दी गई ऐसी सेवाएं जो घण्टों के मामले में पर्याप्त तीव्रता रखती हैं तथा पर्याप्त अवधि की हैं और जिनमें निम्नलिखित गतिविध्यिां शामिल हैं-

नोट

(a) माता-पिता को बच्चों का प्रारंभिक शिक्षक बनने तथा उनकी शिक्षा में भागीदारी के लिए प्रशिक्षित करना;

(b) अभिभावकों को आर्थिक स्वावलंबन की ओर उन्मुख साक्षरता के लिए प्रशिक्षण देना;

(c¼ बच्चे की उम्र के मुताबिक उसे शिक्षा दिलाना, जिससे कि वह विद्यालय और जीवन दोनों में सफल हो सके;

(d) अभिभावकों और उनके बच्चों के बीच ऐसी साक्षरता गतिविध्यिां चलाना, जिनमें आदान-प्रदान हो सके।

अभिभावकों की भा्गीदारी और बच्चे की उपलब्ध्यिों में सकारात्मक संबंध की पुष्टि के लिए पर्याप्त साक्ष्य हैं-

(a) माता-पिता द्वारा बच्चों को कहानियों की किताबें पढ़कर सुनाने से बच्चों की भाषा परिष्कृत होती है और उनमें पुस्तक प्रेम जागता है;

(b) माता-पिता द्वारा बच्चों को ज्यादा से ज्यादा कहानियां सुनाने से उनकी साक्षरता योग्यता में वृद्धि होती है;

(c) माता-पिता द्वारा बच्चों के साथ बिताई गई अवधि का सीध असर बच्चे के विकास और विद्यालय की उपलब्ध्यिों पर पड़ता है;

हार्ट और **रिस्ले** (1999) का मत है कि 3 साल के बच्चे के साथ माता-पिता अन्त:क्रिया में जितना अधिक समय लगाएंगे बच्चे शब्दावली व कुशाग्रता मानक स्कोर उतना ही बेहतर हासिल करते हैं।

जिन परिवारों में बच्चे को उत्प्रेरक व भाषायी रूप से समृद्ध और सहायक परिवेश मिलता है वहां बच्चे सामाजिक-आर्थिक विषमताओं से उत्पन्न अधिगम बाधाओं को सहजता से पार कर लेते हैं।

यूनेस्को की अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा ब्यूरो के अनुसार

1. परिवार की जीवन शैली यदि जानी-पहचानी हो तो वह बच्चे को विद्यालय में ज्यादा और बेहतर सीखने लायक बनाती है।
2. अभिभावक और बच्चे के बीच का संबंध यदि भाषा की दृष्टि से समृद्ध और भावात्मक समर्थन देने वाला हो तो इससे बच्चे का लाभ होता है।
3. यदि माता-पिता अपने बच्चे को सुरक्षित जीवन देते हैं, उन्हें समय का सही उपयोग करने के लिए प्रेरित करते हैं और साथ-साथ पारिवारिक जीवन के सामान्य अंग के तौर पर उनके साथ अनुभव बांटते हैं तो इससे बच्चे विद्यालय में बेहतर प्रदर्शन कर पाते हैं।
4. माता-पिता यदि अपने बच्चों के सामने मानक स्थापित करते हैं तो बच्चे उन मानकों को गंभीरता से ग्रहण करते हैं।

नोट

5. बच्चे अपने माता-पिता और शिक्षको के बीच होने वाली दो-तरफा बातचीत से भी लाभान्वित होते हैं।
6. विद्यालय से अभिभावकों के संबंध का मतलब है कि उनका संबंध अपने बच्चे से तो बना रहता ही है, शैक्षणिक संस्थान के अलावा वह दूसरे बच्चों के अभिभावकों के साथ भी बना रहता है।
7. घर के माहौल को बेहतर बनाने के लिए माता-पिता को कई तरह से प्रशिक्षित किया जा सकता है और अक्सर इसके सकारात्मक परिणाम निकलते हैं।
8. विद्यालय को चाहिए कि बच्चे के साथ परिवार को जोड़ने के मामलों में वह हरेक परिवार के साथ अलग-अलग रणनीति अपनाए क्योंकि विद्यालय के साथ सभी परिवारों के संबंध अलग-अलग करह के ही होते हैं।

हाल के वर्षों में, विद्यालय में अभिभावकों की भागीदारी को एक महत्वपूर्ण शैक्षणिक रणनिति के तौर पर देखा जाने लगा है। प्रत्येक विद्यालय को चाहिए कि वह ऐसी साझेदारी को बढ़ावा दे जो अभिभावकों की भागीदारी को बढ़ाने के साथ ही बच्चे के सामाजिक, मानसिक और शैक्षणिक विकास में सहयोगी हो। शैक्षणिक सुधारों के इस दौर में अनेक शोध अध्ययनों और वर्षों के अनुभवों से जो एक बात छनकर आई है, वह है - अभिभावकों तथा परिवार की भागीदारी से विद्यार्थी की उपलब्धि और उसकी सफलता बढ़ती है।

अमेरिकी शिक्षा विभाग (2002) ने शिक्षा में अभिभावकों की भागीदारी के लाभें पर रौशनी डालते हुए बताया है कि

- इससे बच्चे को ज्यादा अंक मिलते हैं
- इससे बच्चे का रवैया और व्यवहार बेहतर होता है
- इससे विद्यालय में उसकी उपस्थिति बढ़ती है
- इससे उसकी पढ़ाई पर विशेष ध्यान देने की जरूरत नहीं पड़ती
- इससे उच्च विद्यालय तक शिक्षा जारी रखने की संभावना रहती है
- इससे आगे की भी पढ़ाई जारी रखने की संभावना बनी रहती है।

अपने बच्चों की शिक्षा में माता-पिता की भागीदारी को लेकर किए गए एक सर्वेक्षण में ऊंचे अंक पाने वाले दस में से नौ बच्चों ने खुलासा किया कि उन्हें अपने माता-पिता से प्रोत्साहन मिलता रहा है। अध्यापकों ने भी शिक्षा के मामले में अभिभावकों की भागीदारी को सर्वोच्च वरीयता दी। शिक्षा के क्षेत्र में बच्चे की सफलता के लिए पिता की भागीदारी खास तौर से महत्वपूर्ण मानी गई है। इससे बच्चे के निष्कासन या निलंबन के मामलों में 7 से 15 प्रतिशत की कटौती देखी गई। इसी तरह उसके फेल होने के मामलों में भी 10 से 18 पफीसदी की गिरावट देखी गई।

इस सर्वेक्षण में यह भी बताया गया है कि यदि परिवार की भागीदारी हो तो विद्यार्थी किस तरह से लाभान्वित होते हैं। परिवार की आय या उसकी सामाजिक स्थिति चाहे जो भी हो, परिवार की भागीदारी से विद्यार्थी की उपलब्धि का निर्धारण निम्नलिखित तरीकों से होता है-

- घर में सीखने-सिखाने का माहौल हो
- माता-पिता अपने बच्चों की उपलब्धि और रोजगार को लेकर सही-सही आशाएं पालें

- अपने बच्चे की पढाई के लिए विद्यालय तथा समुदाय में उनकी भागीदारी हो

माता-पिता और परिवार की भागीदारी को उतना ही महत्व देने की जरूरत है, जितना कि अन्य शिक्षा सुधारों को। इसी तरह अभिभावकों की भागीदारी से जुड़े कार्यक्रमों को दिशा देने के लिए मानक तैयार करना तथा उनकी गुणवत्ता एवं प्रभाव का मूल्यांकन करते रहना भी जरूरी है।

नोट

जब हम अभिभावकों की भागीदारी की बात करते हैं तो हमारा आशय ऐसे वयस्कों से होता है जो बच्चे की पारिवारिक जिन्दगी में अहम किरदार निभाते हैं। बच्चे की भलाई, उसकी शिक्षा और उसके विकास को लेकर चिंतित रहने वाले दादा-दादी, नाना-नानी, चाचा-चाची, मामा-मामी आदि भी इसमें शामिल किए जा सकते हैं।

इसी तरह जब हम विद्यालय में शिक्षकों की बात करते हैं तो उसमें अध्यापकों के साथ-साथ शिक्षकेतर कर्मचारी भी शामिल रहते हैं, जो कि विद्यालय के अन्य शिक्षकेतर कार्यक्रमों, खासकर सामुदायिक कार्यक्रमों में बच्चों तथा उनके परिवारों की मदद करते हैं।

विद्यालयी शिक्षा में अभिभावकों की भागीदारी के मामले में कोलमैन रिपोर्ट एक महत्वपूर्ण कदम था। इस रिपोर्ट में पहली बार स्वीकार किया गया कि बच्चों की शिक्षा तथा उनकी उपलब्धियों में परिवार का सबसे अहम स्थान है। यह रिपोर्ट 1960 के दशक में आई थी। तब से लेकर आज तक इस बारे में जितने भी अध्ययन हुए, उन सबमें कुछ ऐसा ही परिणाम सामने आया है। इससे पहले यही माना जाता रहा था कि विभिन्न विद्यालयों में बच्चों की उपलब्धियों के उच्च मानक विद्यालय के संसाधनों, अध्यापकों तथा अन्य कारकों के परिणामस्वरूप है। कोलमैन रिपोर्ट अमेरिका के 1900 प्राथमिक विद्यालयों में कराए गए सर्वेक्षण पर आधारित था। इस अध्ययन में यह भी बताया गया था कि परिवारों की श्रेणी तथा उनकी सामाजिक-आर्थिक स्थिति से परे, जब कभी विद्यालयों ने बच्चों को घर में अपने मां-बाप के साथ पढ़ने के लिए प्रोत्साहित किया, उन्हें ऐसे बच्चों के मुकाबले कहीं ज्यादा फायदा हुआ जो सिर्फ विद्यालयों में अपने अध्यापकों के साथ पढ़ते थे। यह भी देखा गया कि बच्चे के बालबाड़ी में दाखिला लेने के पहले ही उसकी जातीय तथा सामाजिक श्रेणी की उपलब्धियों का असर उस पर हावी हो चुका होता है। इस दरम्यान उसकी शैक्षणिक प्रवीण ाता घटित हो चुकी होती है। इस परिवर्तन के पीछे जो कारण सुझाए गए हैं, उनमें एक यह है कि परिवार जन कहीं ज्यादा समय तक बच्चे को पढ़कर सुनाते रहते हैं। अल्प आय परिवारों में बच्चे को औसतन 25 घंटे पढ़कर सुनाया जाता है, जबकि मधयम आय वाले परिवारों में यह औसत 1700 घंटे का देखा गया है।

आपके लिए यह जानना जरूरी है कि बच्चा जब जगा हुआ होता है तो विद्यालय से बाहर 85 पफीसदी समय बिताता है, जिसमें से ज्यादा समय घर पर ही बीतता है। बच्चे के ज्यादा से ज्यादा शैक्षिक विकास के लिए अभिभावको, विद्यार्थियों तथा अध्यापकों को साथ मिलकर काम करने की जरूरत है। जहां विद्यालय विभिन्न विषयों, संगीत, खेलकूद तथा अन्य गतिविधियों के माध्यम से शिक्षा के औपचारिक चैनल उपलब्ध कराते हैं, वहीं मां-बाप तथा परिवार के अन्य सदस्य बच्चे में आत्मविश्वास, आत्मसम्मान, व्यवहार, अनुशासन तथा नैतिक मूल्य सन्निहित हैं। घर पर कुछ मूल संसाधनों, जैसे कि शब्दकोश, विश्वकोश, एटलस आदि उपलब्ध कराकर पढ़ाई का बढ़िया माहौल बनाया जा सकता है। बच्चे की पढ़ाई के लिए एक कमरा या फिर घर का कोई कोना सुरक्षित किया जा सकता है।

3.17 भारत में अभिभावक शिक्षा अभियान

नोट

अब तक हमने जो भी चर्चा की है, वह पश्चिमी समाजों के परिप्रेक्ष्य में ही रही है, जो कि खुद भी विकसित और उक्त हैं। भारतीय परिप्रेक्ष्य में यह भिन्न है, इसलिए अभिभावक शिक्षा तथा उसकी भागीदारी को भारत की सामाजिक संरचना तथा परिवारों में बदलाव के नजरिये से देखा जाना चाहिए। समकालीन भारतीय समाज में महिला की स्थिति भी बच्चे की पढ़ाई में अभिभावकों की भागीदारी पर असर डालती है। इसके साथ-साथ शहरीकरण तथा औद्योगिकीकरण और सूचना एवं संचार तकनीकों के प्रभावों के कारण भी सरकारी तथा निजी स्तर पर संरचनाएं बनाने की आवश्यकता महसूस हुई है, जिससे कि शिक्षा में सामुदायिक भागीदारी बढ़ाई जा सके।

भारत में अभिभावक-शिक्षक अभियान की शुरुआत आजादी के पहले से मानी जा सकती है, जबकि कुछ विद्यालयों में ऐसे संगठन हुआ करते थे। हालांकि इसे किसी सांगठनिक तथा योजनाबद्ध तरीके से नहीं चलाया गया, बल्कि छिटपुट ढंग से भारत के कुछ राज्यों में ऐसे प्रयास किए जाते रहे। अब जैसे-जैसे अपने बच्चे की पढ़ाई में मां-बाप की भागीदारी को लेकर जागरूकता बढ़ रही है, अभिभावक-अध्यापक संघें तथा माता-अध यापक संघें के रूप में अभिभावक-विद्यालय भागीदारी भी देश भर में बढ़ती जा रही है।

फिर भी यह कहा जा सकता है कि भारत में अभिभावकों की भागीदारी की कोशिशें उतनी सफल नहीं रहीं, जितना कि वे अमेरिका तथा अन्य विकसित देशों में रहीं हैं। भारत में ऐसे कार्यक्रमों की सफलता को लेकर विशेषज्ञ सवालिया निशान भी खड़े करते रहे हैं। देखा जाता रहा है कि यहां विद्यालयों में सही तौर पर इनका पालन नहीं किया जाता, ना ही इसमें अभिभावकों का सहयोग भी नहीं मिलता है। यहां तक कि इस बारे में शिक्षकों का रवैया साम्राज्यवादी रहा है और उन्हें अभिभावकों की भागीदारी बर्दाश्त तक नहीं होती। भारत में शिक्षकों तथा अभिभावकों, दोनों के इन रवैये को बदलने की जरूरत है ताकि वे अभिभावक-शिक्षक भागीदारी की इस संकल्पना को पूरी तरह अपना सकें। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 तथा कार्य योजना 1992 में अभिभावक-अध्यापक भागीदारी पर तो बल दिया ही गया है, बच्चों के विद्यालय को उनके घर से जोड़ने के लिए ज्यादा से ज्यादा मंच बनाने की बात भी कही गई है। भारतीय संविधान के 73वें और 74वें संशोधन में विद्यालयी शिक्षा पर प्रभावी ढंग से निगरानी रखने के लिए राज्यों में लोकतांत्रिक तौर से चुने गए निकाय बनाने की बात की गई है, जिसमें महिलाओं तथा पिछड़ी श्रेणियों के प्रतिनिधि भी शामिल हों। ऐसे निकाय अभिभावक-अध्यापक रिश्ते के लिए मंच तैयार करने के साथ ही मां-बाप में जागरूकता भी पैदा करते हैं। अभिभावक-अध्यापक संघ या फिर माता-अध्यापक संघ

मां-बाप और परिवार के अन्य लोगों को विद्यालय की गतिविधियों में भागीदारी के लिए प्रेरित करते हैं और ऐसे कार्यक्रम आयोजित करने में अध्यापकों की मदद करते हैं। 2009 में शिक्षा का अधिकार कानून बनाकर इस दिशा में एक और पहल की गई है। इसके तहत राज्यों को छह साल से लेकर चौदह साल के सभी बच्चों को मुफ्त शिक्षा उपलब्ध कराना आवश्यक कर दिया गया है। इसके अलावा विद्यालय प्रबंधन समिति का गठन भी आवश्यक बना दिया गया है, जिसमें बच्चों के अभिभावकों को पर्याप्त प्रतिनिधित्व देना भी आवश्यक है। इन कानून के अनुसार विद्यालय प्रबंधन समिति में 75 पफीसदी प्रतिनिधित्व बच्चों के अभिभावकों का ही होना चाहिए। यह समिति अपने सदस्यों के बीच से कुछ छोटी कार्य समितियों का गठन कर सकती है, ताकि सामुदायिक भागीदारी तथा विद्यालय की गतिविधियों में अभिभावकों की हिस्सेदारी सुनिश्चत की जा सके। इसमें से कुछ कार्य व्यवहार निम्नलिखित हैं-

- बाल अधिकार और राज्य सरकार, स्थानीय निकाय, विद्यालय तथा अभिभावक के कर्तव्यों के बारे में समुदाय में जागृति पैदा करना।
- विद्यालय की गतिविधियों तथा अध्यापकों के लिए नियत कार्यों की निगरानी करना।
- बच्चों के दाखिले के साथ ही यह भी सुनिश्चित करना कि विद्यालय में उनकी उपस्थिति बनी रहे।
- विद्यालय की योजना प्रक्रिया में सभी सदस्यों की भूमिका निर्धारित करना तथा उनकी भागीदारी सुनिश्चित करना।

नोट

हालांकि शिक्षा का अधिकार कानून बनाकर विद्यालय के मामलों में अभिभावकों की भागीदारी का प्रावधान किया गया है, परन्तु इस दिशा में अभी बहुत सी अडचनें दूर की जानी हैं। जैसा कि पहले चर्चा की जा चुकी है, अभिभावक-अध्यापक गठजोड़ को प्रभावी तथा मजबूत बनाने के लिए सबसे जरूरी है विद्यालय प्रबंधन, अध्यापकों, अभिभावकों तथा विद्यार्थियों की मानसिकता के साथ-साथ उनके रवैये को बदलना।

3.18 अभिभावक-अध्यापक साझेदारी की प्रमुख विशेषताएँ

अमेरिका में जिस अध्ययन ने अभिभावकों या परिवार की भागीदारी कार्यक्रम के लिए मानक तय किया, उनमें यह दर्शाया गया है कि अभिभावकों या परिवार की भागीदारी कैसे विद्यार्थी की सफलता, विद्यालयों की गुणवत्ता और सुधार की प्रभावी रणनीतियों से सीधो-सीधे जुड़ी है। अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा ब्यूरो, यूनेस्को के अनुसार अभिभावकों की भागीदारी में उनके द्वारा घर में बच्चों के पालन-पोषण से लेकर विद्यालय के क्रिया-कलापों में उनकी हिस्सेदारी तक शामिल है। लालन-पालन में बच्चे का भरण-पोषण और देखभाल सभी कुछ शामिल है। इसी तरह विद्यालय के क्रिया-कलापों में, दौड़कूद में उनकी उपस्थिति से लेकर अभिभावक- अध्यापक संगोष्ठियों में उनकी हिस्सेदारी तक शामिल की जा सकती है।

आमतौर पर अभिभावकों की भागीदारी में निम्नलिखित क्रियाएं शामिल मानी जा सकती हैं-

- अभिभावकत्व - बच्चे का लालन-पालन और उसकी देखभाल
- संवाद - अभिभावकों और विद्यालय के बीच जानकारियों का आदान-प्रदान
- स्वयंसेवा - विद्यालय को मदद
- घर पर शिक्षण - विद्यालय में दी गई हिदायतों का समर्थन और उनका अनुपालन
- निर्णय - विद्यालय के निर्णय प्रक्रिया की संरचना में हिस्सेदारी
- समुदाय के साथ सहयोग - अन्य सामाजिक संस्थाओं के साथ मिलकर विद्यालय का प्रतिनिधित्व

3.19 अभिभावक-अध्यापक साझेदारी के लिए कार्य क्षेत्र

अध्ययनों में छह ऐसे क्षेत्रों को इंगित किया गया है, जो कि आपस में गहरे जुड़े हुए हैं और इनमें से हर एक विद्यार्थियों, अभिभावकों तथा विद्यालयों के लिए बिलकुल अलग और अनूठा प्रभाव पैदा करता है। हर एक कार्यक्रम के साथ दिए गए गुणवत्ता संकेतक प्रत्येक मानक के महत्वपूर्ण तत्वों को दर्शाते हैं। इनसे अध्यापक और अभिभावक समझ पाते हैं कि प्रभावी कार्यक्रमों और उनकी सफलता

नोट

के लिए क्या कुछ होना चाहिए। इन सभी छह क्षेत्रों की गतिविधियों में अभिभावकों के भाग लेने से ही विद्यार्थियों को सबसे ज्यादा फायदा होता है। इसीलिए इन कार्यक्रमों को लागू करने के लिए कुछ नमूने दिए जाते है जिनमें गुणवत्ता मानकों की सूची भी दी जाती है, जिससे कि इन गुणवत्ता संकेतकों का मिलान कर यह पता लगाया जा सके कि प्रत्येक मानक को अभिभावक भागीदारी कार्यक्रम में कितने प्रभावी ढंग से जोड़ा जा सका है।

ये कार्य क्षेत्र संस्था के नेतृत्वकर्ताओं के लिए मार्गदर्शक का काम करते हैं, ताकि वे कार्यक्रम को समझकर अभिभावकों तथा परिवारों की मदद कर सकें। अत: जो प्राचार्य, प्रबंधक, शिक्षाविद और अभिभावक अभिभावकों की भागीदारी को बढ़ाने में प्रभावी भूमिका निभा सकते हैं, उन्हें इन मार्गदर्शकों का उपयोग करना चाहिए। जब मानकों का उपयोग मार्गदर्शकों के तौर पर किया जाता है, तो वे नेतृत्वकर्ताओं को विचार-विमर्श से क्रियाशीलता की तरु बढ़ने का रास्ता सुझा सकते हैं, जिससे कि वे भागीदारी के जरिये विद्यार्थियों की उपलब्धियां बढ़ाने के लिए गतिशील कार्यक्रम तैयार कर सकें। किसी भी अन्य लम्बी अवधि के प्रभावी सुधार की तरह, इस कार्य क्षेत्र का एकीकरण और कार्यान्वयन भी स्थानीय जरूरतों तथा स्थितियों को ध्यान में रख कर ही किया जाना चाहिए। बदलती आबादी के हिसाब से उसे गतिशील और जवाबदेह बनाए रखने के लिए अभिभावक-अध्यापक संघ उसकी समीक्षा करता रहता है और आवश्कता होने पर उसमें संशोधन भी करता है। इसी तरह संघ विद्यालय में सुधार की दिशा में सक्रिय अन्य समूहों का अन्वेषण भी करता है।

जान हाप्किन्स विश्वविद्यालय में शोध के बाद शिक्षा में माता-पिता की सहभागिता के लिए राष्ट्रीय गठबंधन (एनसीपीआईइ) ने अभिभावकों की भागीदारी तथा सामुदायिक सांझेदारी के छह प्रकार सुझाए हैं। राष्ट्रीय अभिभावक-अध्यापक संघ ने भी उत्कृष्टता के मानक कार्यक्रम तैयार किए हैं। संबद्ध गुणवत्ता संकेतकों के साथ ये मानक इसी उद्देश्य से बनाए गए कि बच्चों की शिक्षा से जुड़े अन्य राष्ट्रीय मानकों और सुधार उपायों के साथ ही ये काम में लाए जा सकें।

इन्ही उद्देश्यों को ध्यान में रखकर राष्ट्रीय अभिभावक-अध्यापक संघ ने सभी शैक्षिक प्रतिनिध्यिों तथा प्रतिनिधि अभिभावकों की बैठक बुलाई, जिससे कि परिवार तथा अभिभावकों की भागीदारी के इस राष्ट्रीय कार्यक्रम को उनका समर्थन मिल सके और विद्यार्थियों की सफलता आसमान छू सके। अभिभावक-अध्यापक सांझेदारी के निम्नलिखित छह क्षेत्र हैं-

अभिभावक-अध्यापक साझेदारी कार्यक्रम के क्षेत्र

1. **संवाद** - घर और विद्यालय के बीच लगातार दो तरफा तथा सार्थक संपर्क बनाए रखने की कोशिश की जाती है।
2. **लालन-पालन** - लालन-पालन के कौशल को बढ़ावा देने के साथ उसका समर्थन किया जाता है।
3. **विद्यार्थियों को सीख** - विद्यार्थियों को पढ़ाने-सीखाने में माता-पिता बड़ी भूमिका निभाते हैं।
4. **स्वयं सेवा** - माता-पिता का विद्यालय में स्वागत किया जाता है और उनका समर्थन जुटाने की कोशिश रहती है।
5. **विद्यालय के निर्णयय तथा वकालत** - बच्चों और परिवारों पर असर डालने वाले फैसलों में माता-पिता पूरी तरह हिस्सेदार होते हैं।
6. **समुदाय के साथ सहयोग** - समुदाय के संसाधनों का उपयोग विद्यालय तथा विद्यार्थियों की पढ़ाई-लिखाई को मजबूत बनाने में किया जाता है।

प्रभावी संप्रेषण किसी भी स्थायी भागीदारी की पहली शर्त है। जब अभिभावकों और शिक्षकों के बीच प्रभावी संवाद बना रहता है तो उनके बीच बेहतर रिश्ता भी कायम हो जाता है। ऐसे में समस्याओं का आसानी से निबटारा हो पाता है और विद्यार्थी ज्यादा प्रगति कर पाते हैं।

नोट

ज्यादातर मामलों में विद्यालय अथवा कार्यक्रम को लेकर इकतरफा संवाद रहता है, जिससे विचारों और अवधारणाओं का आदान-प्रदान नहीं हो पाता। विद्यालय और घर के बीच प्रभावी संवाद तभी कायम हो पाता है, जबकि दोनों के बीच सूचनाओं का आदान-प्रदान हो। विद्यार्थी की सफलता के लिए यह जरूरी भी है। यदि अभिभावक-अध्यापक गोष्ठियों में सिर्फ विद्यार्थी की प्रगति के बारे में रिपोर्ट दी जाए तो इसे इकतरफा मामला ही कहा जा सकता है। लालन-पालन की सफलता के लिए जरूरी है कि दो तरफा संवाद हो, भविष्य के लिए लक्ष्य का निर्धारण हो तथा नियमित तौर पर आदान-प्रदान का सत्र आयोजित हो।

घर और विद्यालय के बीच संवाद को नियमित, दो तरफा और सार्थक होना चाहिए। अध्यापकों अथवा विद्यालय के अधिकारियों के लिए सफल कार्यक्रम के गुणवत्ता संकेतक विद्यालय के अधिकारियों को चाहिए कि वे -

1. संवाद के विभिन्न माध्यमों का नियमित प्रयोग करें। इनमें से प्रत्येक माध्यम दो तरफा संवाद कायम करने में सक्षम हो।
2. विद्यार्थियों के सकारात्मक पक्षों तथा पढ़ाई में उनकी रुचि के बारे में जानकारियों की साझेदारी के लिए अभिभावकों तथा अध्यापकों को अवसर प्रदान करें।
3. इस बात की जानकारी दें कि पाठ्यक्रम से क्या अपेक्षा की जानी चाहिए। इसी तरह विद्यालय के क्रिया-कलापों, विद्यार्थियों के लिए उपलब्ध सेवाओं और ऐक्षिक कार्यक्रमों की भी स्पष्ट जानकारी दें।
4. अभिभावकों को उनके बच्चों की प्रगति की रिपोर्ट बराबर भेजते रहें और जरूरत पढ़ने पर समर्थन सेवाएं भी दें तथा अनुवर्तन गोष्ठियों का आयोजन भी करें।
5. विद्यालय में चलाए जा रहे सुधार कार्यक्रमों, विद्यालय की नीतियों, अनुशासन प्रक्रियाओं, मूल्यांकन के तरीकों और लक्ष्यों के बारे में जानकारी दें और उससे जुड़ी निर्णय प्रक्रिया में अभिभावकों को भागीदार बनाएं।
6. वर्ष में कम से कम दो बार संगोष्ठी का आयोजन करे, जिनमें अभिभावकों की चिन्ताओं, भाषा, बाधाओं तथा बच्चे की देखभाल की जरूरतों पर चर्चा हो।
7. जरूरत पड़ने पर अभिभावकों तथा अध्यापकों के बीच तत्काल संवाद कायम करने को बढ़ावा दें।
8. अभिभावकों की प्रतिबद्धता हासिल करने के इरादे से विद्यार्थियों के काम का बंटवारा करें तथा नियमित तौर पर उसकी समीक्षा करें।
9. क्षेत्रीय भाषा भाषी अभिभावकों की सुविधा के लिए संवाद के अनुवाद की व्यवस्था करें।
10. अभिभावकों को उनके बच्चों की अच्छाइयों के बारे में भी जानकारी दें, ना कि सिर्फ बच्चे की असफलता या उनके द्वारा किए गए दुर्व्यवहार के बारे में ही माता-पिता को बताएं।

नोट

11. अभिभावकों को विद्यालय के प्राचार्य तथा अन्य शिक्षकेतर कर्मचारियों के साथ मुलाकात के लिए भी अवसर दें।
12. ऐसी अनौपचारिक गतिविधियों का आयोजन करें, जिनसे अभिभावकों, विद्यालय के कर्मचारियों तथा समुदाय के अन्य सदस्यों के बीच संवाद कायम हो सके।
13. प्रभावी संवाद तकनीकों के बारे में कर्मचारियों को जानकारी देने के लिए विकास कार्यक्रम आयोजित करें, जिसमें उन्हें विद्यालय और परिवार के बीच दो तरफा संवाद का महत्व समझाया जा सके।

अनुप्रयोग के नमूने

विभिन्न संपर्क माध्यमों का प्रयोग करें

- डाक, फोन, फैक्स अथवा ई-मेल की पहुंच को सुधारने के लिए और शिक्षकों तथा माता-पिता के उपयोग के लिए सामुदायिक समर्थन विकल्पों तथा कार्यक्रमों की पड़ताल की जा सकती है। उदारहरण के तौर पर, माता-पिता को रोज-रोज के कार्यों तथा उपस्थिति रिपोर्ट की जानकारी देने के लिए स्वचालित फोन प्रणाली शक्तिशाली माध्यम हो सकते हैं। इनके माध्यम से लालन-पालन के गुर भी बताए जा सकते हैं तथा विद्यार्थी की उपलब्धि की जानकारी दी जा सकती है।
- माता-पिता के लिए वर्ग अथवा कार्यक्रम से संबंद्ध पत्रिका तैयार की जा सकती हैं। इनमें घर पर बच्चे की पढ़ाई के गुर के अलावा मनोरंजक गतिविधियों तथा अन्य उपयोगी उपायों की जानकारी दी जा सकती है।
- अभिभावकों द्वारा बच्चों के कामों की नियमित समीक्षा के लिए कोई तरीका निकाला जा सकता है। उदाहरण के तौर पर, हरेक हफ्ते बच्चे के काम को घर भेजने के लिए ऐसे लिफाफे का उपयोग किया जा सकता है, जिस पर माता-पिता अपनी टिप्पणी लिखकर उसे वापस विद्यालय भेज सकें।
- माता-पिता तथा परिवार के सदस्यों की प्रतिक्रिया हासिल करने के लिए ज्यादा से ज्यादा मौके निकाले जा सकते हैं, जैसे कि चलाए जा रहे कार्यक्रम के संबंध में सर्वेक्षण कराए जा सकते हैं या फिर विद्यालय द्वारा निकाली जा रही पत्रिका में माता-पिता के विचारों के लिए अलग से कालम रखा जा सकता है। इससे अभिभावक-अध्यापक संगोष्ठियों के अलावा भी सामाजिक तौर पर माता-पिता और शिक्षकों का संवाद संभव हो सकेगा।
- विद्यालय तथा कार्यक्रमों की जानकारी देने के लिए हस्तपुस्तिका बनाई जा सकती है। इसमें यह जानकारी भी शामिल हो सकती है कि अपने बच्चों की सफलता सुनिश्चित करने के लिए अभिभावक क्या-कुछ कर सकते हैं।

कार्यक्रम से परिचय

विद्यालय की शुरुआत में या फिर कार्यक्रम वर्ष के आरंभ में परिचय-सत्र का आयोजन किया जाना चाहिए, जिसमें निम्नलिखित बिंदु शामिल हो सकते हैं-

- पाठ्यक्रम या कार्यक्रम से की जाने लायक अपेक्षाएं और उनका लक्ष्य
- विकास तथा प्रवीणता के संबंध में जानकारी

- कार्यक्रम अधिकारी अथवा प्रबंधक से कब और कैसे मुलाकात हो सकती है, इसकी जानकारी
- विद्यार्थियों की सफलता के लिए चलाए जाने वाले कार्यक्रम की प्रबंधन-विधि और आगामी कार्यक्रमों की सूचना
- घर में पढ़ाई में सहायता के लिए रणनीति
- सूचना और प्रविध्यिों का मूल्यांकन
- माता-पिता तथा परिजनों के सवालों के लिए नियत समय और संभव हो तो अनुपस्थितों के लिए इन सबकी विडियो रिकालृडंग

नोट

भागीदारी निर्माण

विद्यार्थियों की संख्या बड़ी होने पर शिक्षक उनमें से हर एक के अभिभावकों के साथ प्रभावी साझेदारी कैसे स्थापित करें?

कोई एक शिक्षक दिन भर में दस मिनट का समय अभिभावकों को फोन करने से लेकर उन्हें खत लिखने तक के लिए दे सकता है। हर महीने शिक्षक अपने छात्र-छात्राओं के परिजनों से कम से कम दो बार मुलाकात कर सकता है।

ज्यादातर संवाद विद्यार्थियों की सफलता और अभिभावकों एवं परिजनों के लिए आयोजित गतिविध्यिों से जुड़े होने चाहिए। लगातार संपर्क में बने रहने तथा आसान पहुंच की वजह से माता-पिता बच्चों की मदद तथा लक्ष्य हासिल करने के लिए इच्छुक रहते हैं।

अभिभावकों तथा परिवार की भागीदारी और विद्यालय की गुणवत्ता

- ऐसे विद्यालय जो अभिभावकों के साथ मिलकर काम करते हैं, उनमें शिक्षकों का मनोबल भरपूर होता है और अभिभावक भी शिक्षकों को ऊंचा आंकते हैं।
- जहां अभिभावक भागीदार रहते हैं, उन विद्यालयों को परिवारों से पूरा समर्थन मिलता है और समुदाय में उनकी प्रतिष्ठा भी ऊंची होती है।
- विद्यालय के जिन कार्यक्रमों में अभिभावकों की भागीदारी रहती है, वे उन कार्यक्रमों से ज्यादा सफल रहते हैं, जिनमें कि अभिभावकों की भागीदारी नहीं होती।
- बच्चों की पढ़ाई में अभिभावकों की भागीदारी के बाद ऐसे विद्यालयों में भी भारी सुधार देखा गया, जहां कि पहले बच्चे असफल हो रहे थे।

अभिभावकों तथा परिवार की भागीदारी और कार्यक्रम की रूपरेखा

- अभिभावकों और अध्यापकों के बीच जितना ज्यादा मधुर संबंध होगा, विद्यार्थी की उपलब्ध्यिां भी उतनी ही ज्यादा होंगी।
- निम्न आय वाले परिवारों में विद्यालय में अभिभावकों की आवाजाही वाले कार्यक्रमों के मुकाबले ऐसे कार्यक्रम ज्यादा सफल होते हैं, जिनमें अभिभावक को घर पर ही रहकर सहयोग करना पड़े। फिर भी, देखा गया है कि अभिभावक यदि विद्यालय जाकर भागीदारी निभाते हैं तो उससे बच्चे को ज्यादा लाभ मिलता है।
- विद्यालय से अभिभावकों का बराबर और प्रभावी संवाद कायम रहता है तो उनकी भागीदारी में भी इजाफा देखा जाता है। शिक्षकों का मूल्यांकन वे सही ढंग से कर पाते हैं और कार्यक्रमों के प्रति भी उनका रवैया सकारात्मक रहता है।

नोट

- शिक्षकों से प्रोत्साहन पाकर तथा बच्चों के गृह कार्य में मदद के लिए शिक्षकों की सहायता से अभिभावकों की भागीदारी बढ़ पाती है।
- प्रभावी कार्यक्रमों का नेतृत्व प्रबंधक, शिक्षक और अभिभावक साथ मिलकर करते हैं और वित्तीय संसाधन उन्हें सुलभ हो पाते हैं।
- जब अभिभावकों को बराबर के भागीदार के तौर पर समझा जाता है और उन्हें ऐसे लोगों के माध्यम से जानकारियां दी जाती है, जिनके साथ उनका आत्मीय संबंध है तो वे ऐसे तरीके निकालने में लगते हैं, जो उनकी समझ में सफलता के नुस्खे हैं अन्यथा वे उन्हें अपनाने से गुरेज ही करते हैं।
- अपने पेशेवर प्रशिक्षण के दौरान शिक्षकों तथा प्रबंधकों को अभिभावको तथा परिजनों को भागीदार बनाने के संबंध में सीखने का मौका कम ही मिल पाता है, जिसका असर कार्यक्रम पर भी पड़ता है।
- सुधाार के उपायों में परिवार के साथ सहयोग बेहद आवश्यक तत्व है, फिर भी यह उच्च गुणवत्ता वाले शैक्षिक कार्यक्रमों अथवा विद्यालय के समेकित विकास का स्थान नहीं ले सकता।

क्षेत्र-2 लालन-पालन

माता-पिता बच्चे के जीवन आधार हैं। बच्चे को सबसे बड़ी ताकत घर से ही मिलती है। माता-पिता को अपनी भूमिका निभाने के लिए जिस हिम्मत और कुशलता की जरूरत होती है, उसे पुष्ट करके विद्यालय कर्मी तथा कार्यक्रम से जुड़े कर्मचारी अच्छी तरह बच्चों का लालन-पालन करने में माता-पिता की मदद करते हैं। पूरा-पूरा आराम देकर और सही ढंग से खिला-पिलाकर भेजने के अलावा अपने बच्चे की पढ़ाई से ऊंची आकांक्षाएं रखकर और उनमें आत्मसम्मान की भावना जागृत करके माता-पिता अपने बच्चों की पढ़ाई बरकरार रख सकते हैं।

विद्यालय कर्मी जब मां-बाप की भूमिका तथा उनकी जिम्मेदारियों को समझकर उनसे पूछते हैं कि वे इस काम में और क्या मदद चाहते हैं और फिर उन जरूरतों को पूरा करने के उपाय भी करते हैं तो माता-पिता को स्पष्ट संदेश मिल जाता है कि हम आपके सुझावों के सम्मान करते हैं।उनका स्वागत करते हैं। इस तरह से लालन-पालन में कुशलता का विकास होता है।

1. लालन-पालन के सफल कार्यक्रमों के गुणवत्ता संकेतक

(i) माता-पिता और बच्चे के बीच सुमधुर रिश्ते के महत्व को बताना।

(ii) माता-पिता को ऐसे कार्यक्रमों तथा सामुदायिक संसाधनों से जोड़ना, जिनसे परिवारों को मदद मिलती हो।

(iii) सभी परिवारों तक पहुंचना, ना कि सिर्फ उन तक सीमित रहना जो कि अभिभावक संगोष्ठियों में आते-जाते हैं।

(iv) समुदाय के सामाजिक-धार्मिक भिन्नता के बीच लालन-पालन के विभिन्न पारंपरिक तौर-तरीकों को देख-समझकर ऐसी नीतियां बनाना, जिनसे परिवार की जिम्मेदारियों का मान बढ़ता हो।

(v) प्रशिक्षण, संसाधन तथा अन्य सेवाओं से माता-पिता तथा परिवार को मदद देने के लिए सूचना को सुलभ बनाना और उनके लिए सुविधा केन्द्र खोलना।

(vi) परिवार तथा बच्चे को जवाबदेह नागरिक बनाने में उनकी प्राथमिक भूमिका को मान-इज्जत देने के लिए कर्मचारियों को प्रोत्साहित करना।

2. अनुप्रयोगों के नमूने

सभी परिवारों तक पहुँचने के उपाय

नोट

(i) बात का पता लगाएं कि विद्यालयों अथवा कार्यक्रमों में कौन-कौन सी जातियों का प्रतिनिधित्व है। जरूरत पड़ने पर उनकी मदद कीजिए। सांस्कृतिक विभिन्नताओं पर ध्यान दीजिए और संवाद को ग्राह्य बनाने के लिए तथा आदर भाव देने के लिए सही तरीके खोजिए।

(ii) बच्चों को सलाह अथवा अन्य विशिष्ट सेवा देने से पहले माता-पिता से बातचीत करके उनकी जिम्मेदारियों का उन्हें अहसास कराइए।

(iii) लालन-पालन से जुड़े मामलों में माता-पिता की मदद के लिए साल में कम से कम एक बार ऐसी कार्यशाला का आयोजन कीजिए, जिसमें पेशेवर लोग अथवा अभिभावकों में स्थानीय तौर पर उपलब्ध शिक्षाशास्त्री भाग लें।

(iv) किसी भी प्रासांगिक विषय पर परिवार के लिए सामग्री तैयार कीजिए, जिसमें खेलकूद, वीडियो, संवाद शुरू करने के तरीके अथवा किसी विशिष्ट विषय पर बच्चे से संवाद करने के तरीके सुझाए गए हों। उदाहरण के तौर पर, घर में अनुशासन कायम करने अथवा परिवार के लिए लक्ष्य निर्धारित करने को लेकर सामग्री तैयार की जा सकती है।

(iv) fविद्यालय की गुणवत्ता और कार्यक्रमों के निर्धारण में स्थानीय संस्कृति पर ध्यान देना जरूरी है। विभिन्न संस्कृतियों पर आधारित अलग-अलग पारिवारिक परंपराओं को जानने-समझने के लिए उन परंपराओं से बखूबी वाकिफ होना जरूरी है।

(v) परिवारों की मदद के साथ-साथ उनके विशिष्ट पारिवारिक मूल्यों को साझा करने के तरीके ढूंढिए। सांस्कृतिक मेलों आदि के आयोजन से परिवारों को विद्यालय तथा समुदाय से जोड़ने में मदद मिल सकती है। माता-पिता तथा परिजनों की चिंताओं और आवश्यकताओं को जान-समझकर उस पर ध्यान देने के लिए संसाधनों को उनकी मातृ भाषा में उपलब्ध कराना जरूरी है।

माता-पिता और परिजनों के लिए सुविधा केन्द्र

- विद्यालय या समुदाय में कोई एक ऐसा स्थान नियत कर दें, जिसे माता-पिता तथा परिजन अपना समझ सकें। ये केन्द्र कार्यक्रम में भाग लेने वालों तथा विद्यालय से जुड़े मामलों को हल करने में सक्षम हों।
- यह केन्द्र माता-पिता के लिए अनौपचारिक बैठक का काम करने के साथ-साथ उन्हें सामुदायिक सेवाएं उपलब्ध कराने तक का काम कर सकता है। यहां वीडियो, पर्चे तथा अन्य प्रकाशन उपलब्ध होने चाहिए। कुछ केन्द्रों में तो अभिभावकों के लिए कार्यशालाएं भी आयोजित की जाती हैं। जहां-तहां खिलौना लाइब्रेरी भी बना दी गई है और कई जगहों पर अंग्रेजी सिखाने की कक्षा भी आयोजित की जा रही है।

- विद्यालय की संवाद-पत्रिका में इस बात की जानकारी दी जानी चाहिए कि इन केन्द्रों में नया क्या हो रहा है? साल भर वहां पढ़ाई से संबंधित अथवा परिवारों के लिए विशिष्ट आयोजन भी किए जा सकते हैं। इनसे केन्द्र की लोकप्रियता तथा उपादेयता बढ़ती है।

नोट

क्षेत्र-3 विद्यार्थी का अधिगम

विद्यार्थी की पढ़ाई में माता-पिता की अहम भूमिका रहती है। घर पर यदि उन्हें मदद मिले तो उनके सीखने - समझने की क्षमता बढ़ जाती है। माता-पिता की भागीदारी सुनिश्चित करने पर प्रत्येक बच्चे की सफलता के लिए एक-एक टीम खड़ी रहती है, जिससे शिक्षकों तथा विद्यालय के प्रबंधकों को बड़ी मदद मिलती है। अतः माता-पिता का विद्यालय में स्वागत किया जाना चाहिए और उनसे मदद लेने में हिचकना नहीं चाहिए।

जब मां-बाप खुद पहल करके सहयोग करते हैं तो इससे परिवारों और विद्यालयों दोनों का लाभ होता है, इतना कि जो किसी और तरीके से हो ही नहीं सकता। यूरोप तथा अमेरिका के विद्यालयों में तो प्रत्येक वर्ष लाखें अभिभावक और परिजन सरकारी विद्यालयों में स्वैच्छिक योगदान करते हैं। इस बारे में किए गए अध्ययनों में देखा गया है कि जिन विद्यालयों में स्वयंसेवियों को नियमित तौर पर भागीदारी का मौका मिलता है, उन विद्यालयों के प्रति उनकी निष्ठा अधिक होती है। इसके साथ ही, विद्यालय तथा उसके कार्यक्रमों में माँ-बाप द्वारा सहयोग देने से बच्चे को यह संदेश मिलता है कि देखो, हमें इस बात की फिक्र है कि तुम यहां क्या करते हो।

माता-पिता को यह महसूस कराने के लिए कि उनके कामों की प्रशंसा की जा रही है तथा यहां उनका स्वागत है, स्वयंसेवा के काम का सार्थक होना जरूरी है। मां-बाप तथा परिजनों की विशेषज्ञता का उपयोग किए जाने से शिक्षकों तथा प्रबंधकों को शैक्षिक लक्ष्य प्राप्त करने तथा विद्यार्थियों की जरूरतें पूरा करने में मदद मिलती है।

अभिभावकों की एक बड़ी संख्या अपने बच्चों की पढ़ाई में सहायक बनना चाहती तो है, पर उसे पता ही नहीं चलता कि उसके क्या करने से बच्चे को मदद मिलेगी। माता-पिता को यदि उनके बच्चों की पढ़ाई से जोड़ दिया जाए तो वे बड़ी शिद्दत से बता पाते हैं कि अपने बच्चे की प्रगति उनके लिए क्या मायने रखती है। चाहे वह कम्प्यूटर पर साथ-साथ काम करना हो, विद्यार्थी द्वारा घर पर किए गए काम का प्रदर्शन हो या फिर किसी कक्षा कार्य को लेकर उनकी प्रतिक्रिया हो, माता-पिता की हरकतों से ही बच्चा यह समझ लेता है कि उसकी पढ़ाई उसके मां-बाप के लिए क्या और कितनी अहमियत रखती है।

बहुत से ऐसे माँ-बाप है जिनके लिए विद्यालय के समय में स्वयंसेवा कर पाना संभव नहीं। उनके लिए विद्यालय के बाहर के समय में कार्यक्रम बनाए जा सकते हैं, जिनमें वे सृजनशील भूमिका निभा सकें। इसी तरह घर में रहकर भी वे मदद कर सकते हैं।

बड़े पैमाने पर अभिभावकों का समर्थन हासिल करने के उपाय

1. कार्यालय में काम करने वालों के स्वागतमय अभिवादन के साथ-साथ प्रवेश द्वार पर ऐसे संकेत लगे होने चाहिए कि जिससे अभिभावकों को लगे कि उनका महत्व समझा जा रहा है और यहां उनका स्वागत है।

2. माता-पिता की रुचि, उनकी प्रतिभा और उनके खाली समय के बारे में सर्वेक्षण कराया जाना चाहिए और फिर उसके अनुसार ही उनकी योग्यताओं को विद्यालय में सुलभ शिक्षकों की योग्यता से मिलाकर उपयोग में लाना चाहिए।
3. जो माता-पिता विद्यालय में समय नहीं दे पाते हैं, उनकी मदद दूसरे तरीकों से अथवा उनके अपने कार्य स्थान में ली जा सकती है।
4. अभिभावकों की सेवाएं प्राप्त करने के लिए कोई आसान तथा सुलभ कार्यक्रम बनाना चाहिए तथा इसके लिए मां-बाप को प्रशिक्षित भी किया जाना चाहिए।
5. साल जैसे-जैसे बीतता जाता है, वैसे-वैसे ही अभिभावको से संपर्क में बने रहने के लिए तरीके ढूंढते रहना चाहिए।
6. जिन लोगों के पास समय का अभाव है, उनसे भी सहयोग लेने के मौके तलाशते रहना चाहिए। वे बच्चे की देखभाल, यातायात, कार्यक्रम निर्धारण आदि में मददगार साबित हो सकते हैं।
7. माता-पिता की भागीदारी की प्रशंसा की जानी चाहिए। उनके विविधा योगदान को भी महत्व दिया जाना चाहिए।
8. विद्यालय में स्वागत का माहौल बनाए रखने के लिए कर्मचारियों को प्राशिक्षित किया जाना चाहिए तथा इसमें उनकी सहायता भी की जानी चाहिए, जिससे कि वे स्वयंसेवा का बेहतर उपयोग कर सकें।
9. यह सुनिश्चित कराने की जरूरत है कि स्वयंसेवा सार्थक हो और स्वयंसेवियों को उनकी रुचि तथा योग्यता के अनुरूप काम में लगाया जाए।

नोट

अनुप्रयोग के नमूने

घर में शिक्षण को बढ़ावा देना

- माता-पिता तथा परिवार के अन्य सदस्य स्वयंसेवा का क्या काम कर सकते हैं, इस बारे में जानकारी हासिल करने के लिए सर्वेक्षण कराएं, जिससे उनकी योग्यता तथा प्रतिभा का पता चल सके। जो लोग दिन में स्वयंसेवा कर सकते हैं, उनके साथ-साथ ऐसे लोगों को भी अवसर दें जो अपनी नियमित सेवा देने के लिए तैयार हैं या फिर जो कभी-कभार अपने घर या दफ्तर से ही सहयोग कर सकते हैं। स्वयंसेवियों से हमेशा संपर्क बनाए रखें।
- स्वयंसेवियों के लिए कोई स्थान नियत कर दें। ऐसी व्यवस्था भी करें कि वे आने पर हस्ताक्षर कर सकें और वहां यह भी बता सकें कि उन्होंने कितने घंटे काम किया। विद्यालय तथा कार्यक्रम के माहौल को लेकर भी सर्वेक्षण कराएं। स्वयंसेवियों को अपने सुझाव देने के लिए प्रोत्साहित करें। यदि वे अपना नाम न देना चाहें तो इसे गुप्त रखने की भी व्यवस्था रहे।
- माता-पिता तथा परिवार के अन्य सदस्य स्वयंसेवा का क्या काम कर सकते हैं, इस बारे में जानकारी हासिल करने के लिए सर्वेक्षण कराएं, जिससे उनकी योग्यता तथा प्रतिभा का पता चल सके। जो लोग दिन में स्वयंसेवा कर सकते हैं, उनके साथ-साथ ऐसे लोगों को भी अवसर दें जो अपनी नियमित सेवा देने के लिए तैयार हैं या फिर जो कभी-कभार अपने घर या दफ्तर से ही सहयोग कर सकते हैं। स्वयंसेवियों से हमेशा संपर्क बनाए रखें।

नोट

- स्वयंसेवियों के लिए कोई स्थान नियत कर दें। ऐसी व्यवस्था भी करें कि वे आने पर दस्तखत कर सकें और वहां यह भी बता सकें कि उन्होंने कितने घंटे काम किया। विद्यालय तथा कार्यक्रम के माहौल को लेकर भी सर्वेक्षण कराएं। स्वयंसेवियों को अपने सुझाव देने के लिए प्रोत्साहित करें। यदि वे अपना नाम न देना चाहें तो इसे गुप्त रखने की भी व्यवस्था रहे।

सफल कार्यक्रम के गुणवत्ता संकेतक

1. विद्यार्थियों को प्रभावित करने वाले निर्णयों में माता-पिता की भागीदारी सुनिश्चत करें तथा इसके लिए उन्हें प्रोत्साहित भी करें।
2. प्रत्येक वर्ग और विषय में विद्यार्थी से की जाने वाली उम्मीदों से माता-पिता को परिचित कराएं।
3. इस बारे में जानकारी दें कि माता-पिता घर में रहकर किस तरह से पढ़ाई में मदद कर सकते हैं, कैसे उन्हें गृह कार्य पर नजर रखनी चाहिए और किस प्रकार वे शिक्षकों तक अपनी प्रतिक्रिया भेज सकते हैं।
4. नियमित तौर पर ऐसे गृह कार्य दें जिसमें बच्चों को अपने मां-बाप से सलाह लेनी पड़े और उन्हें यह भी पता चलता रहे कि उनके बच्चे विद्यालय में क्या सीख रहे हैं।
5. इस बारें में जानकारी दें या फिर कार्यशाला का आयोजन करें कि विद्यार्थियों की कुशलता का विकास कैसे किया जा सकता है और जरूरत पड़ने पर कैसे उन्हें मदद दी जा सकती है। इसमें यह जानकारी भी शामिल हो कि बच्चे किस तरह से कक्षा की उम्मीदों पर खरे उतर सकते हैं।
6. प्रत्येक वर्ष विद्यार्थी के लक्ष्य निर्धारण में उसके मां-बाप को भागीदार बनाएं। इसी तरह माध्यमिक कक्षा से आगे की पढ़ाई को लेकर योजना बनाने में भी उन्हें जोड़ें। प्रत्येक छात्र-छात्र के लिए व्यक्तिगत शैक्षिक योजना तैयार करने के लिए माता-पिता को प्रोत्साहित करें, जिसमें वे अपनी पूरी भागीदारी निभाएं।
7. कर्मचारियों को यह जानने का अवसर दें कि अपने बच्चें की पढ़ाई से माता-पिता को जोड़ने के लिए क्या सही तरीका हो सकता है।

अनुप्रयोग के नमूने

घर में पढ़ाई का माहौल बनाना

- यदि संभव हो तो विद्यालय की संवाद पत्रिका के जरिये इस बारे में किए गए अध्ययन की रिपोर्ट दें कि माता-पिता की भागीदारी से बच्चे की सफलता कैसे सुनिश्चत की जा सकती है।
- किसी खास कुशलता को अलृजत करने में बच्चे की मदद के लिए मां-बाप को जानकारी उपलब्ध कराएं। उदाहरण के तौर पर इस बारे में जानकारी दी जा सकती है कि छोटे बच्चे में पढ़ने की आदत कैसे विकसित की जाए या फिर किशोरवय के बच्चे के कामकाज में उसे कैसे मदद की जाए।

- बच्चे को ऐसे काम दें जिसमें माता-पिता और परिजन अपने आप/स्वयं शामिल हो जाएं। उदाहरण का तौर पर, किसी खास विषय पर व्यक्तिगत साक्षात्कार लेने का काम दिया जा सकता है या फिर उसे अजायबघर घूमने के बाद रिपोर्ट लिखने के लिए उसे कहा जा सकता है। इस तरह का काम देने से पहले उसे इस बारे में निर्देश भी दें कि उसे क्या करना है।
- माता-पिता को अपने बच्चे का कामकाज की समीक्षा करते रहने के लिए कहें। माता-पिता के पास अपने बच्चों की ताकत तथा उनके सुधार के उपायों को जानने-समझने का पूरा-पूरा मौका होता है।

कितनी मदद की जाए?	**घर और विद्यालय के बीच संवाद**	**विद्यार्थियों तथा अभिभावकों के लिए कार्यशालाएं**
माता-पिता को यह बताए कि वे अपने बच्चों की पढ़ाई में कैसे मददगार हो सकते हैं। उन्हें प्रश्न भी सुझाएं, जो उन्हें बच्चों से पूछने चाहिए। उन्हें कुशलता के अभ्यास के लिए व्यावहारिक तरीके भी बताएं। जैसे अंग्रेजी का शिक्षक माता-पिता को बता सकता है कि उन्हें किस तरह सवाल करने चाहिए और कैसे वे अंग्रेजी सीखने तथा लिखने के अभ्यास में अपने बच्चों की मदद कर सकते हैं। अध्ययनों में देखा गया है कि बच्चे जब दूसरों से सलाह लेते हैं अथवा किसी और को पढ़ाने के लिए लिखते हैं तो उनकी लेखनी में सुधार होता है। माता- पिता और परिजन उन्हें इसके लिए जरूरी मदद दे सकते हैं।	ऐसे गृह कार्य दीजिए जिसमें माता-पिता भागीदार हो सकें, भले ही उनका काम सिर्फ दस्तखत करना हो। उन्हें बताइए कि किसी कार्य में किन बातों पर ध्यान देना चाहिए और उन्हें कुछ बिन्दुओं की जांच करने के लिए भी कहिए, जैसे कि- • मेरा बच्चा यह समझता है और इसे कुशलता से कर सकता है • मेरे बच्चा पूरे पाठ को तो समझ रहा है, लेकिन उसे इस मामले में मद चाहिए • इस काम या पाठ में मेरे बच्चे को और कुछ बताने-समझाने की जरूरत है • अन्य टिप्पणी	कुछ खास विषयों पर कार्यशाला का आयोजन कीजिए। ये कार्यशालाएं पढ़ाई में कुशलता, किसी विषय विशेष में नई जानकारी अथवा महाविद्यालय या कैरियर संबंधी योजना को लेकर की जा सकती हैं। जहां जरूरी हो, वहां अभ्यास भी कराएं। इसी तरह नई विद्या में अभ्यास करने के लिए माता- पिता तथा बच्चों को विस्तृत जानकारियां उपलब्ध कराएं।

क्षेत्र-4 स्वयंसेवियों के लिए अभिमुखीकरण कार्यक्रम

विद्यालय तथा कार्यक्रम के बारे में स्वयंसेवियों को शिक्षित कीजिए। उन्हें दिनचर्चा तथा प्रक्रिया के बारे में बताइए। उन्हें यह भी समझाइए कि विद्यालय उनसे क्या आशा करता है। इसी तरह उन्हें उपयोग में आने वाले उपकरणें की जानकारी भी दीजिए। इसके अलावा उनके काम करने के लिए अलग से जगह की व्यवस्था कीजिए, जहां वे अपना व्यक्तिगत सामान भी रख सकें।

उन्हें उनके काम के बारे में स्पष्ट जानकारी दीजिए। उन्हें यह भी पता होना चाहिए कि जरूरत पड़ने पर उन्हें किस शिक्षक या कर्मचारी से मिलना चाहिए। स्वयंसेवियों के काम की प्रशंसा के लिए रचनात्मक तरीके निकालिए।

स्वयंसेवियों के लिए सूचना सामग्री

स्वयंसेवियों की परिचय गोष्ठी में वितरण के लिए पैकेट तैयार कीजिए, जिसमें निम्नलिखित सूचनाएं शामिल हों–

नोट

- दुर्घटना की हालत में उन्हें क्या करना है, इसकी जानकारी
- विद्यालय की ईमारत का नक्शा
- आपात द्वार की योजना
- उपकरणें के प्रयोग की विध्यिां
- गाड़ी खड़ी करने की जगह की जानकारी
- आगमन निष्कासन के समय हस्ताक्षर के नियम
- सुझाव पत्र
- स्वागत पत्र, जिसमें लाभ की सूची भी दी गई हो
- मदद तथा सामान के लिए वे कहां जा सकते हैं, इसकी जानकारी

क्षेत्र-5 विद्यालय के निर्णय और वकालत

माता-पिता उन फैसलों में पूरी तरह भागीदार होते हैं, जो कि बच्चो तथा परिवारों को प्रभावित करते हैं। यह देखा गया है कि जिन विद्यालयों के फैसलों में माता-पिता भागीदारी निभाते हैं, वहां विद्यार्थियों की उपलब्ध्यिां बढ़ी हुई होती हैं और उन्हें भरपूर समर्थन भी मिलता है।

प्रभावी भागीदारी तभी बन पाती है, जबकि हर एक भागीदार को सम्मान मिलता है और निर्णय प्रक्रिया में उसे शामिल किया जाता है। ऐसे विद्यालय जो विद्यालय अथवा कार्यक्रम में माता-पिता की भागीदारी को रेखांकित करते हैं, वे दरअसल इस बात का इजहार कर रहे होते हैं कि अपने बच्चों की शिक्षा में माता-पिता की भागीदारी उनकी नजर में महत्वपूर्ण स्थान रखती है। पाठ्यक्रम के निर्धारण में माता-पिता की भूमिका महत्वपूर्ण है। इसी तरह अनुशासन तथा सुधार के उपायों को लेकर भी उनकी राय मायने रखती है।

1. सफल कार्यक्रम के गुणवत्ता संकेतक

(i) निर्णयों को प्रभावित करने, मुद्दों तथा चिन्ताओं को उठाने और समस्याओं को दूर करने के लिए ऐसी प्रक्रिया बनाई जानी चाहिए जो लोगों के समझ में आ सकें और उनकी पहुंच में हो।

(ii) माता-पिता की रुचि के क्षेत्रों को जानने तथा उस अनुसार काम करने के लिए अभिभावक-अध्यापक संघ बनाया जाना चाहिए।

(iii) माता-पिता को तमाम निर्णय प्रक्रिया से जोड़ा जाना चाहिए और उन्हें परामर्शदात्री समितियों में भी शामिल किया जाना चाहिए। नीति, पाठ्यक्रम, बजट, विद्यालय में सुधार, सुरक्षा तथा कार्मिक से जुड़े मसलों पर उन्हें प्रशिक्षित करते रहना चाहिए। जहां कहीं भी संचालन समिति है, उनमें अभिभावकों का बराबरी का प्रतिनिधित्व दिया जाना चाहिए।

(iv) माता-पिता को विद्यालय की नीतियों, वहां के व्यवहार तथा विद्यार्थियों के साथ-साथ विद्यालय की प्रगति के बारे में अद्यतन जानकारी उपलब्ध कराना चाहिए।

नोट

(v) विद्यालय के लक्ष्य निर्धारण, कार्यक्रमों के विकास तथा उनके क्रियान्वयन तथा प्रगति संबंधी आंकड़ों पर कार्रवाई करते समय माता-पिता को साझीदार बनाया जाना चाहिए।

(vi) विद्यार्थियों को प्रभावित करने वाले निर्णयों, यथा-उनकी नौकरी, विषय-चयन आदि में माता-पिता की भागीदारी को बढ़ावा देना चाहिए।

(vii) माता-पिता की चिन्ताओं को गंभीरता से लेना चाहिए तथा उनकी समस्याओं के समाधान में गहरी रुचि दिखानी चाहिए।

(ix) विद्यालय के अलावा, जिला, प्रांतीय और राष्ट्रीय समितियों में भी माता-पिता की भागीदारी को बढ़ावा देना चाहिए।

(x) कर्मियों तथा माता-पिता को ऐसा प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए कि वे साझेदारी निभाते हुए मिलजुल कर फैसला ले सकें।

यहां अमेरिका के विद्यालय, 'लिंडफील्ड प्राइमरी विद्यालय' का एक उदाहरण दिया जा रहा है। जहां अभिभावकों की भागीदारी सफल रही क्योंकि बहुत से लोग-विद्यार्थी, कर्मचारी, माता-पिता एवं समुदाय के सदस्य भागीदारी से कार्य करते हैं।

इस महत्वपूर्ण व सफल भागीदारी के निम्नलिखित प्रमुख घटक हैं :

- एक स्वागतयोग्य एवं मित्रवत विद्यालय वातावरण
- विद्यार्थियों व अभिभावकों के लिए प्रधानाचार्य व कर्मचारियों तक आसान पहुँच वाली विद्यालय की खुली प्रबन्धन एवं संप्रेषण व्यवस्था
- विद्यार्थियों व कर्मियों के बीच उचित संवाद तथा आपसी सम्मान
- अभिभावकों की विद्यालय गतिविध्यिों में इस प्रकार भागीदारी कि वे समय व योग्यता के अनुरूप हों,
- भिभावकों व कर्मियों के बीच द्वि-दिशीय गुणवत्तापूर्ण संवाद, जिससे अभिभावकों के दृष्टिकोण को उच्च महत्व दिया जाए
- अभिभावकों को कक्षा शिक्षण तथा अधिगम गतिविध्यिों के बारे में सीखने व अनुभव करने के अवसर
- अभिभावकों हेतु विद्यालय पाठ्यक्रम की उपलब्धाता तथा तात्कालिक शिक्षण रणनीतियों
- की सूचना
- अभिभावकों को अपने बच्चों के घर पर अधिगम में मदद हेतु सहायता
- विद्यालय समुदाय से सम्बन्धिात विषयों पर निर्णयन प्रक्रिया में सहयोग

अभिभावक कई तरीके से विद्यालय की गतिविध्यिों में सीधे तौर पर भाग ले सकते हैं।

विद्यालय के अधिकारियों का इरादा माता-पिता को मदद करने की है ताकि वे विद्यालय के लक्ष्यों और लोकाचार को समझकर उसके कार्यक्रमों से नाता जोड़ सकें। ऐसी भागीदारी के लिए निम्नलिखित अवसर निकाले जाते रहे हैं-

- कक्षा के कार्यक्रमों, जैसे कि पठन, गणित तथा शिल्प में सहयोग
- यात्र एवं भ्रमण कार्यक्रमों में भागीदारी
- तैराकी सिखाने में सहायता

नोट

- कक्षा का प्रतिनिधित्व करने के लिए खुद से रजामंदी
- जिन बच्चों को विशेष मदद की जरूरत हो, उन्हें खुद आगे बढ़कर मदद
- रोजमर्रा के कामों में सहयोग
- विद्यालय के शैक्षिक कार्यक्रमों को बल देने वाली गतिविधियों, जैसे कि पुस्तक क्लब, नाटक, नृत्य तथा खेलकूल के आयोजनों में सहयोग
- खेलकूद, समारोह आदि विद्यालय के कार्यक्रमों में उपस्थिति
- अभिभावक-अध्यापक बैठकों, साक्षात्कार कार्यक्रमों आदि में उपस्थिति
- अभिभावक-अध्यापक संघ तथा नागरिक मंच की गतिविधियों में सक्रिय भागीदारी
- नागरिक मंच की उपसमितियों में भागीदारी
- विद्यालय की चचाओं तथा सर्वेक्षण में भागीदारी
- विद्यालय की कैंटीन में सहयोग
- कक्षा में बच्चों को संबोधित करने के लिए मेहमान वक्ता के तौर पर भागीदारी
- विद्यालय की संवाद पत्रिका का नियमित पठन

इस उदाहरण में जो बिन्दु सुझाए गए हैं, उन्हें विद्यालय विशेष के संसाधनों को देखते हुए सावधानी से चुनने और जरूरत पड़ने पर उनमें फेरबदल करने की जरूरत है।

अनुप्रयोग के नमूने

(अ) समस्या को सुलझाने के उपाय

समस्याओं से निबटने के तरीकों को समय-समय पर प्रचारित करने से ही माता-पिता विद्यालय का सकारात्मक पक्ष रख पाने के लिए उत्सुक होंगे।

माता-पिता को समस्या सुलझाने के तरीके पता होने चाहिए और उन्हें यह महसूस होना चाहिए कि विद्यालय का प्रबंधन उनकी चिन्ताओं को सही ढंग से समझने में रुचि रखता है।

इस प्रक्रिया में समस्या को पहचाना, विद्यार्थी की जरूरतों पर ध्यान देना, दोष मढ़ने से बचना, संबंद्ध व्यक्यिों से मुलाकात, समुचित जानकारी तथा तथ्यों का संग्रह, समस्या के संभावित निराकरण पर विचार-विमर्श और प्रगति की समीक्षा शामिल है। जरूरत पड़ने पर इनमें से किसी कदम को दोहराया जा सकता है।

(ब) कार्यक्रम संबंधी फैसलों में माता-पिता की भागीदारी

नीति निर्धारण समितियों में अभिभावकों के प्रतिनिधियों को शामिल करके प्रबंधक माता-पिता के ज्ञान और बच्चों से जुड़े उनके अनुभवों के महत्व को रेखांकित करते हैं। निर्णय प्रक्रिया में माता-पिता की भागीदारी को सुनिश्चत करने के लिए नीति निर्धारक एक ऐसा माहौल बना सकते हैं, जहां माता-पिता:

- ❖ विद्यालय तथा कार्यक्रम से जुड़ी बैठकों में उपस्थित कह सकते हैं;
- ❖ कार्यक्रम के स्पष्ट लक्ष्य और उद्देश्य प्राप्त कर सकते हैं;
- ❖ धामकी के डर के बिना किसी प्रश्न को पूछ सकते हैं;
- ❖ भ्रमित करने वाली शब्दावली तथा शब्दजाल का मतलब जान सकते हैं;

- ❖ कार्यक्रम की सफलता के लिए उठाए गए कदमों की समीक्षा कर सकते हैं; तथा
- ❖ कार्यक्रम से जुड़ी आकांक्षाओं को समझने में अपने बच्चों की मदद कर सकते हैं।

क्षेत्र-4 समुदाय के साथ सहयोग

नोट

विद्यालय को सुदृढ़ करने, उसकी सुविधाओं को बढ़ाने तथा बच्चों की पढ़ाई में समुदाय के संसाधनों का उपयोग होता है। समुदाय के अंग को तौर पर विद्यालय तथा अन्य कार्यक्रम समुदाय के महत्वपूर्ण लक्ष्यों की पूर्ति करते हैं। इसी तरह, समुदाय उन विद्यालयों तथा परिवारों के लिए विभिन्न संसाधन उपलब्ध कराते हैं, जिनकी वे सेवा में लगे होते हैं। जब विद्यालय और समुदाय साथ-साथ काम करते हैं तो इससे दोनों का ही फायदा होता है। यह लाभ उससे कहीं ज्यादा है जो दोनों अपने-अपने बल पर अलृजत करेंगे।

- परिवारों को समुदाय के संसाधन ज्यादा आसानी से उपलब्ध रहते हैं,
- व्यापार संदर्भित शैक्षिक कार्यक्रमों को कार्य स्थल की वास्तविकताओं से जोड़ता है,
- बड़े-बुजुर्ग अपना ज्ञान बांटते हैं, जिससे उन्हें अपने जीवन का उद्देश्य पूरा होता लगता है, और अंततः,
- विद्यार्थी अपने विद्यालयी माहौल के मुकाबले इससे कहीं ज्यादा सीख-पढ़ पाते हैं

अच्छी भागीदारियां परस्पर लाभप्रद होती हैं और वे सिर्फ संस्थानों अथवा समूहों को जोड़ने की बजाय व्यक्तियों को जोड़ती हैं। यह गठजोड़ सामुदायिक भागीदारी की ताकत को बढ़ा देती है।

ऐसे अभियान के महत्व और उसकी आवश्कता को भांप कर ही योजना आयोग ने कुछ समय पहले कार्यदल का गठन किया, जिस पर प्रांतीय तथा राष्ट्रीय स्तर पर कार्यक्रमों के क्रियान्वयन के बारे में निर्णय लेने का भार था। योजना आयोग ऐसे सभी अभियानों को बढ़ावा देने में गहरी रुचि रखता है, जिनसे विकास कार्यक्रमों में समुदाय की सक्रिय भागीदारी बढ़ती हो और जिससे कोष बढ़ाने में मदद मिल सके।

(1) सफल कार्यक्रम के गुणवत्ता संकेतक

(i) सांस्कृतिक, मनोरंजक, शैक्षिक, स्वास्थ्य, सामाजिक तथा अन्य उन सभी संसाधनों के बारे में जानकारी दें, जो समुदाय के भीतर से परिवार का पोषण करते हैं।

(ii) स्थानीय व्यापार तथा सेवा समूहों को भागीदार बनाएँ, जिससे विद्यार्थियो की पढ़ाई लाभान्वित हो सके और विद्यालयों तथा परिवारों को मदद मिले।

(iii) नियोक्ताओं को ऐसी नीतियां बनाने के लिए प्रोत्साहित करें, जो बच्चों की पढ़ाई में व्यस्कों की भागीदारी को बढ़ावा देने वाली हो।

(iv) सामुदायिक सेवा में विद्यार्थियों को लगाएँ।

(v) समुदाय के सदस्यों को विद्यालय के सामाजिक कामों से जोड़े।

(vi) विद्यालय के कार्यक्रमों तथा उसके प्रदर्शन के बारे में विद्यालय समुदाय के सभी लोगों को जानकारी दें. भले ही उनके यहाँ विद्यालय जाने वाला कोई बच्चा न हो।

(vii) परिवार के लिए समर्थन सेवाएं तथा वयस्कों के लिए सीखने के मौके बनाने के लिए सामुदायिक एजेंसियों से गठबंधन बनाएं, जिससे माता-पिता उन गतिविध्यिों में पूरी तरह हिस्सा ले सकें, जो शिक्षा को बढ़ावा देती हैं।

(viii) विद्यालय कर्मियों को समुदाय में उपलब्ध संसाधनों की जानकारी दे और उन्हें उसका भरपूर उपयोग करने की रणनीति भी बताएं।

(2) अनुप्रयोग के नमूने

नोट

स्थानीय व्यापार और सेवा समूहों को भागीदार बनाएं

- ❖ स्वास्थ्य मेलों आदि के आयोजन के लिए समुदाय के साझेदारों के साथ मिलकर काम करें। ऐसे कार्यक्रमों को लें जिसमें बच्चे और बड़े दोनों शामिल हो सकें।
- ❖ बुजुर्ग नागरिकों को विद्यालय अथवा कार्यक्रमों में स्वयंसेवा कार्य में लगाएं। उन्हें कार्यों के बारे में पूरी जानकारी दें तथा यह भी बताएं कि कितने समय में उसे पूरा किया जाना है। उनकी मदद के प्रति अपनी कृतज्ञता दर्शाने के लिए रचनात्मक तरीके अपनाएं।
- ❖ स्थानीय चैम्बर आफ कामर्स के संवाद-पत्र में जिला विद्यालय अधीक्षक की तरु से नियोक्ताओं से सहयोग के लिए निवेदन प्रकाशित कराएं। अभिभावक-अध्यापक बैठकों में भाग लेने के लिए माता-पिता से भी निवेदन करें।
- ❖ स्थानीय नियोक्ताओं को बच्चों के लालन-पालन में शामिल होने के तरीके सुझाएं। नियोक्ता द्वारा समर्थन : व्यापारिक प्रतिष्ठानों ने ऐसी नीतियां बनाई हैं, जो माता-पिता को अपने बच्चों की पढ़ाई में मदद करने का मौका देती हैं। कुछ तो माता-पिता को अपने कामकाज का समय बदलने तक की छूट देते हैं ताकि वे अभिभावक-अध्यापक बैठकों में भाग ले सकें या विद्यालय में स्वयंसेवा कर सकें। कुछ अन्य नियोक्ता विद्यालय तथा कार्यक्रम के बारे में जानकारी उपलब्ध कराते हैं या फिर अपने उन कर्मचारियों को सम्मान देते हैं, जो विद्यालयों की मदद के लिए अपना व्यक्तिगत समय निकालते हैं। सम्भावित साझेदार - हरेक समुदाय में कुछ ऐसे संगठन या सेवा प्रतिष्ठान होते हैं, जो माता-पिता तथा परिवारों को अपना अमूल्य सहयोग दे सकते हैं। आप निम्नलिखित साझेदारों पर विचार कर सकते हैं -
- ❖ व्यापारिक घराने
- ❖ चैम्बर आफ कामर्स
- ❖ चैरिटेबल संगठन
- ❖ धार्मिक संस्थान
- ❖ नागरिक संघ
- ❖ प्रतिष्ठान
- ❖ स्थानीय निकाय
- ❖ स्थानीय संचार माध्यम
- ❖ सेना
- ❖ स्वयंसेवी संस्थाएं
- ❖ वरिष्ठ नागरिक
- ❖ युवा वर्ग

सामुदायिक सेवा से अधिगम - ज्यादा से ज्यादा विद्यालय विद्यार्थियों को सामाजिक सेवा के जरिये सीखने का मौका दे रहे हैं। उन्हें स्वच्छता अभियान से लेकर सरकारी आयोजनों में स्वयंसेवा के कामों तक में लगाया जाता है। इसके बाद कक्षा में इस पर चर्चा भी की जाती है।

कुछ मामलों में विद्यार्थियों के कौशल को नियोक्ताओं की जरूरतों से जोड़ा गया है। इसके लिए नियोक्ताओं ने अपने यहां अवसर बनाए हैं और इसका उन्हें लाभ भी मिला है। नियोक्ता अपने महत्वपूर्ण कार्य पूरा कर पाते हैं और विद्यार्थियों को अनुभव का लाभ मिलता है।

नोट

3.20 अन्य चुनौतियां

माता-पिता को प्रभावी ढंग से किसी काम में लगाने के लिए उन चुनौतियों का सामना करना जरूरी हो जाता है, जो कि इससे पहले उन्हें भागीदारी निभाने से रोकती रही थीं। यहां उन चुनौतियों की सूची दी जा रही है, जिनसे निबटने की जरूरत है। हांलांकि ये चुनौतियां माता-पिता तथा परिवार की भागीदारी में आमूलचूल बदलाव का रास्ता भी खोलती हैं। (वास एवं एवोलियो, 1994, चेंग, 1994, लुईस एन मिलेस 1990, संचिन, 1992),

प्रशासनिक नेतृत्व

विद्यालय को प्रभावी बनाने तथा उसमें सुधार के लिए नेतृत्व की अहम भूमिका है। हालांकि नेतृत्व के मायने विभिन्न विद्वानों तथा शोधाकर्ताओं ने अपने-अपने ढंग से लिया है। (यल्क, 1994) इनमें से कुछ यहां दिए जा रहे हैं-

- लक्ष्य निर्धारण तथा उसकी उपलब्धि की दिशा में किसी संगठित समूह की गतिविध्यिों को प्रभावित करने की प्रक्रिया नेतृत्व है। (स्टॉगडिल, 1950),
- किसी संगठन के लक्ष्यों एवं उद्देश्यों को पूरा करने अथवा उनमें परिवर्तन करने की प्रक्रिया अथवा इसके लिए नई संरचना की पहल को नेतृत्व कहते हैं। (लिबहम, 1969),
- मूल्यों तथा प्रेरणा का प्रतिनिधित्व करने वाले विशेष लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए किए जाने वाले कार्यों की प्रक्रिया नेतृत्व कहलाती है। इसमें अगुआ तथा अनुयायियों, दोनों की आशाएं एवं आकांक्षाएं निहित रहती हैं। (बुर्न्स, 1978),
- नेतृत्व एक ऐसा बल है, जो लोगों में सक्रियता भर सकता है, उनकी गतिविध्यिों को संचालित कर सकता है, इन गतिविध्यिों को कायम रख सकता है और समान लक्ष्य की दिशा में किए जा रहे विभिन्न प्रयासों को एकजुट कर सकता है। (केंजिविक, 1975),

माता-पिता तथा परिजनों की भागीदारी को वास्तविकता में बदलने के लिए प्राधानाध्यापक अथवा कार्यक्रम निदेशक महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। शिक्षक तथा अन्य कर्मचारियों को आसानी से इस बात का आभास हो जाता है कि प्रबंधक माता-पिता की भागीदारी को लेकर कितने गंभीर हैं। कार्यालय के व्यवहार से ही काफी हद तक विद्यालय का माहौल बनता-बिगड़ता है। यदि प्राचार्य/ प्राधानाध्यापक माता-पिता के प्रति सहयोगी रवैया अपनाते हैं तो शिक्षक भी उसका अनुसरण करते हैं।

चेक्वै में आयोजित अभिभावक-अध्यापक संघ की संगोष्ठी में संस्थान प्रमुख के सहयोग के महत्व को आंकते हुए उसे अभिभावक-अध्यापक संघ की सफलता के लिए जरूरी शर्त माना गया। इस संगोष्ठी में यह सिफारिश भी की गई कि शिक्षा निदेशालय, प्रांतीय शिक्षा संस्थानों, प्रशिक्षण महाविद्यालयों आदि को संस्थान प्रमुखें तथा चयनित शिक्षकों के लिए संगोष्ठियों का आयोजन किया

जाना चाहिए। इन संगोष्ठियों में उन्हें अभिभावक-अध्यापक संघ के संगठन तथा उसकी भूमिका को लेकर व्यावाहारिक ज्ञान दिया जाना चाहिए। (जोशी, 1967),

नोट

लोगों में यह गलत धारणा है कि अगर निर्णय प्रक्रिया से माता-पिता को जोड़ा गया तो इससे प्रधानाध्यापक की सत्ता पर आंच आएगी। इसके बावजूद दुनिया भर में प्रबंधन के माडल दूसरे के विचारों के प्रति ज्यादा से ज्यादा उदार होते जा रहे हैं और अपने मातहतों पर अपने फैसले थोपने की बजाय उनके विचार जानने की कोशिश करते हैं। यहां तक कि उन्होंने समस्याओं के समाधान में सहयोग करने के लिए कार्मिकों को बहाल कर रखा है। इस तरह के रवैये से प्रबंधक की सत्ता खतरे में नहीं पड़ती, बल्कि व्यापार या विद्यालय में बेहतर निर्णय की तरु कदम बढ़ाने वाली होती है। प्रबंधकीय नेतृत्व के बिना परिवार-विद्यालय साझेदारी के दूरगामी विकास को पाया नहीं जा सकता क्योंकि नेतृत्व के लगातार समर्थन की बदौलत ही असली बदलाव आ सकता है। मिलजुलकर कार्यक्रमों के क्रियांवयन में ही प्रधानाध्यापक तथा शिक्षकों दोनों की उपलब्धि निहित है। जब माता-पिता की भागीदारी कार्यक्रम का साझा लक्ष्य बन जाती है और अभिभावक, शिक्षक तथा प्रबंधक शिक्षा के मानकों के विकास के लिए टीम की तरह मिलकर काम करते हैं, तभी इसके परिणाम निकलते हैं। प्रधानाध्यापक जहां नेतृत्व प्रदान करता है, वहीं कार्यक्रम के मानक उसे दृष्टि देते हैं।

विभिन्नताओं की पुष्टि

माता-पिता तथा परिजनों के लिए तैयार किए गए कार्यक्रम सामजिक बदलाव को लेकर संवेदनशील होने चाहिए। सफल कार्यक्रम उन सभी संस्कृतियों की सजगता बढ़ाते हैं, जिनका कि वे प्रतिनिधित्व करते हैं। इस बारें में अनुवादित सामग्री तथा दुभाषियों के महत्व को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता।

कई बार हम सामान्य शिष्टाचार की चर्चा सुनते हैं। पर सच यह है कि शिष्टाचार सामान्य हो ही नहीं सकता। बल्कि यह सांस्कृतिक तौर पर निर्धारित होता है। अत: समुदाय में शामिल सभी वर्गों के मूल्यों, व्यवहारों तथा दृष्टियों को इसमें प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए। ये कार्यक्रम सांस्कृतिक तौर पर विभिन्नता वाली आबादी की सेवा के लिए तो हैं ही, उससे भी बड़ी बात कि परिवार की संरचना में लगातार बदलाव भी होता रहता है। ज्यादातर घरों में माता-पिता दोनों ही बाहर काम करने जाते हैं। इसके अलावा खास कर बड़े शहरों में ऐसे परिवारों की संख्या बढ़ती जा रही है, जहां मां-बाप में से सिर्फ एक ही बच्चे को संभालने वाले हैं। इसी तरह ऐसे घरों की संख्या भी बढ़ती जा रही है, जहां दादा-दादी या नाना-नानी पर ही बच्चे को संभालना पड़ता है। परिवार की बदलती हुई इस संरचना से पता चलता है कि परिवार की वर्तमान आवश्कताएं वास्तव में विभिन्न हैं और इसके लिए ज्यादा संवेदनशीलता की जरूरत है। ऐसे में वही कार्यक्रम सफल और प्रभावी हो सकते हैं, जो लचीले तथा संवेदनशील होंगे और माता-पिता, बच्चो एवं परिवार को अपना समर्थन दे सकेंगे।

व्यवस्थित समर्थन

शोध से यह स्पष्ट है कि जो समुदाय विद्यार्थियों की उपलब्ध्यों को लेकर वास्तव में चिंतित हैं, उनके सिए माता-पिता तथा परिवार की भागीदारी एक बु)मानी भरा निवेश है। यदि माता-पिता की भागीदारी की परंपरा और आदत में बदलाव लाना है तो इसके लिए विद्यालय के बाहर से भी शिक्षा अधिकारियों का सहयोग जरूरी है।

इसके लिए जिला, प्रदेश तथा राष्ट्रीय स्तर पर माता-पिता की सक्रिय भागीदारी संबंधी नीतियां और उनका अनुपालन जरूरी शर्त है। विद्यालय बोर्ड से लेकर जिला कार्यालयों तक और प्रांतीय

शिक्षा विभागों से लेकर राष्ट्रीय स्तर के अधिकारियों तक, हर किसी को विश्वास होना चाहिए कि परिवर्तन की उनकी कोशिशों को नेताओं का समर्थन और प्रोत्साहन मिलेगा। माता-पिता तथा परिवार की भागीदारी सुनिश्चित करने में बहुत धन नहीं लगता है, पर वित्तीय संसाधनों तथा नैतिक समर्थन से उनकी सफलता की संभावनाएं बढ़ जाती है। यह समर्थन कार्यक्रम समन्वयक के तौर पर भी हो सकता है और माता-पिता से संपर्क के लिए आवश्यक टेलिफोन आदि की सुविधा उपलब्ध करा कर भी दिया जा सकता है। जब नीति निर्धारकों के लिए माता-पिता की भागीदारी प्राथमिकता बन जाती है तो वह उनके कार्यों तथा उनके द्वारा दिए जा रहे समर्थन में प्रतिबद्धता झलकने लगती है।

नोट

सेवापूर्ण एवं सेवारत शिक्षकों को तैयार करना

प्रभावी अभिभावक सहयोग एवं विद्यार्थियों की उपलब्धियों में पूर्वस्थापित शोध संबंधों के बाद भी, कुछ अध्यापकों को अभिभावकों से भागीदारी में असुविधा होती है। अध्यापक प्रशिक्षण संस्थानों की इस अभियान को स्थापित करने में महत्वपूर्ण भूमिका है। अध्यापक प्रशिक्षण संस्थानों के प्रशिक्षु शिक्षक एवं विद्यालयों में पढ़ा रहे शिक्षकों को अपने विद्यालयों में अध्यापक-अभिभावक सम्मेलन आयोजित करने हेतु वास्तविक प्रशिक्षण मिलना चाहिए। यह भविष्य में उन्हें अभिभावकों की सहायता से विद्यालयों में कार्य करने में मदद करेगा।

इस कार्य हेतु परामर्श देना, साथियों द्वारा दिशा देना, पृष्ठपोषण सहित लघु प्रस्तुतीकरण व व्यवसायिक विकास हेतु अन्य सहायक विधियां अपनायी जा सकती है। प्रशिक्षकों द्वारा विशेष अध्ययन या एक बार में सेवारत प्रस्तुतिकरण के स्थान पर विद्यालयों में अध्यापकों व कर्मियों के मधय अच्छी विधियों के वर्तमान ज्ञान पर अधिक-से-अधिक अंत:क्रिया, कर्मियों की पहचान व विकास का मूल्यांकन पर ज्यादा बल देना चाहिए।

उन्नत विद्यार्थी उपलब्धि के अतिरिक्त, प्रभावी अभिभावक एवं परिवार सहयोग, प्रशिक्षकों को अधिक आवश्यक सहायक व्यवस्था प्रदान करता है। शोध दर्शाते हैं कि जिन विद्यालयों में परिवारों से मिलकर काम होता है, वहां के अध्यापकों/कर्मियों में नैतिकता का स्तर अच्छा होता है तथा अभिभावक, अध्यापकों को ज्यादा पसन्द करते हैं।

अभिभावक एवं परिवार में महत्व में भरोसा एक महत्वपूर्ण प्रारम्भिक बिन्दु है परन्तु परिवर्तन की दिशा में आवेग प्रारम्भ करने व बनाए रखने हेतु एक प्रक्रिया निर्धारित करने हेतु निम्नलिखित चरण बताए गए है:

- एक कार्यसमूह का गठन अभिभावक, प्रशिक्षक, प्रशासक व अन्य महत्वपूर्ण लोगों का प्रतिनिधित्व व एक समान समझ तक पहुँचने में भागीदारी तथा आपसी लक्ष्यों को निध र्ारित करने में यह आवश्यक है।
- वर्तमान कार्यप्रणालियों की जांच अभिभावक वह परिवार की भागीदारी के वर्तमान स्थिति का पुनरावलोकन करें। कर्मियों तथा अभिभावकों पर वर्तमान परिस्थिति की स्पष्ट समझ सुनिश्चित करने हेतु एक सर्वेक्षण करें।
- सुधार योजना का विकास वर्तमान कार्यप्रणालियों के मूल्यांकन के आधार पर, अभिभावक/परिवार भागीदारी योजना के विकास सहित, प्राथमिक कदम व प्राथमिकताओं की पहचान करें। एक व्यापक, संतुलित योजना के विकास पर ध्यान दें जिसमें सभी छ: आदर्श क्षेत्रों की गतिविधियां शामिल हों।

नोट

- एक लिखित अभिभावक/परिवार भागीदारी योजना का विकास एक लिखित अभिभावक/परिवार भागीदारी योजना में दृष्टिकोण, सामान्य लक्ष्यों तथ्य भविष्य की योजनाओं का आधार शामिल होता है।
- सहायता सुनिश्चित करना अधिकतम सफलता के लिए उन भागीदारों को रखे जो लागू करने के लिए जिम्मेदार हों, जो प्रभावित हो और विद्यालय/कार्यक्रम के बाहर, परिणामों पर प्रभाव रखते हो तथा योजना से परिचित हो और इसकी सफलता हेतु सहायता करने के इच्छुक हो।
- विद्यालय/कार्यक्रम कर्मियों को व्यवसायिक विकास प्रदान करना प्रभावी प्रशिक्षण अनिवार्य है। प्रशिक्षण का सबसे अच्छा प्रतिमान है कि कर्मियों को विषयों पर अंत:क्रिया के बहुत से अवसर मिले, वे साथ काम करें तथा प्राप्ति का अवलोकन व मूल्यांकन करें।
- योजना का मूल्यांकन व पुनरीक्षण अभिभावक एवं परिवार की भागीदारी एक समय का लक्ष्य नहीं है। यह सतत सुधार की प्रक्रिया तथा दीर्घकालिक सफलता हेतु प्रतिबद्धता है।

3.21 सारांश

आर्थिक क्षेत्र में भी स्त्रियों को पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त थी। वे न कहीं नौकरी करती थीं और न धन अर्जन क्योंकि उनके लिए यह आवश्यक नहीं था। घर उत्पादन का केन्द्र था; वस्त्र बनाने का काम घर पर ही होता था। स्त्रियाँ कृषि कार्यो में भी अपने पति की सहायता करती थीं। कुछ स्त्रियाँ अध्यापन कार्य में भी व्यस्त होती थीं। वैदिक भारत में स्त्रियों की स्थिति निम्न नहीं थी। सामाजिक और धार्मिक क्षेत्रों में उन्हें अत्यधिक अधिकार प्राप्त थे लेकिन आर्थिक एवं राजनैतिक क्षेत्रों में उनके अधिकार सीमित थे।। उन्हें पुरुषों के अधीन नहीं माना जाता था बल्कि पुरुषों के समान समझा जाता था।

भारत में 1940 तक स्त्रियों की निम्न दशा के प्रमुख कारण अशिक्षा, आर्थिक निर्भरता, धार्मिक निषेध, जाति बन्धन, स्त्री नेतृत्व का अभाव, तथा पुरुषों का उनके प्रति अनुचित दृष्टिकोण आदि थे। मेटसन ने हमारी संस्कृति में स्त्रियों की एकान्तता तथा उनके निम्न स्तर के लिए पाँच कारकों को उत्तरदायी ठहराया है। ऐसे समाज में जहाँ कुल जनसंख्या की आधी तथा तीन-पंचमांश भाग अशिक्षित महिलाएं हैं (1991 जनगणना), ऐसे रुढ़िवादी परम्पराओं एवं विश्वासों तथा प्रथाओं में जकड़े हुए समाज को रातों रात नहीं बदला जा सकता। न ही इनके विरुद्ध प्रबल जनमत तैयार करना सरल है। विधानों का कुछ प्रभाव होता है लेकिन इनको बड़ी सावधानी से चरणों में लागू करना होता है।

भारतीय संविधान द्वारा प्रदत्त महिलाओं को दो प्रमुख अधिकार है: महिलाओं को मताधिकार और विधान मण्डल के लिए योग्यता। महिला मताधिकार की माँग सर्वप्रथम 1917 में की गई थी, किन्तु साउथ बरो फ्रेन्चाईज कमेटी ने 1918 में इस मांग को अस्वीकार कर दिया। 1919 में सरकार ने राज्य सरकारों को अधि कार दे दिया कि वे स्त्री मताधिकार के संबंध में अपने अलग विधान लागू करें। यद्यपि भारत में महिलाओं को अन्य देशों की महिलाओं की अपेक्षा अधिक अधिकार प्राप्त हैं, किन्तु क्या हमारे देश की महिलाओं में अपने अधिकारों के प्रति चेतना है? इस लेखक ने कुछ वर्ष पूर्व राजस्थान के एक जिले के एक गांव की 18 से 50 बर्ष की आयु की 753 स्त्रियों का एक अध्ययन किया था। अध्ययन का मुख्य उद्देश्य स्त्रियों में अधिकारों के लिए चेतना का मूल्यांकन तथा संविधान तथा विविधा विधानों द्वारा प्रदत्त अधि कारों के प्रति संतुष्टि के स्तर को नापना था। ग्रामीण क्षेत्रों में महिलाओं को अपने अधिकारों के प्रति जागृत करने के लिए एक भिन्न

प्रकार की योजना एवं विधि की आवश्यकता है अपेक्षकृत शहरी महिलाओं के। साथ ही हमें सहमत होना पड़ेगा कि वैधानिक उपायों से उनकी स्थिति व उनकी दशा को ऊंचा नहीं किया जा सकता। केवल संयुक्त (Conjunctive) पद्धति से ही हमारे समाज में महिलाओं को न्याय मिल सकता है।

नोट

भारतीय संविधान के अनुच्छेद में उल्लिखित है कि किसी भी नागरिक के साथ लिंग के आधार पर भेदभाव नहीं किया जायेगा। भारतीय संविधान की धारा 15 के अनुसार, राज्य किसी नागरिक के विरुद्ध केवल धर्म, जाति,

लिंग, जन्म स्थान या इनमें से किसी के आधार पर कोई भेद नहीं करेगा। सरकार ने नारी उत्थान के लिए श्रीमती जयन्ती पटनायक की अध्यक्षता में नेशनल कमीशन ऑफ वीमेन की स्थापना की। ऐसी आशा की गयी कि स्त्रियों के उत्थान के लिए कमीशन एक अच्छा अस्त्र साबित होगा। इस इकाई में हमने अपने बच्चों की पढ़ाई में माता-पिता की भागीदारी के महत्व के बारे में चर्चा की। माता-पिता की भागीदारी और बच्चे की उपलब्धियों के बीच एक सकारात्मक संबंध है। बच्चे के विकास में परिवार तथा माता-पिता की शिक्षा के महत्व को पुष्ट करने के लिए कुछ अन्तर्राष्ट्रीय निकायों के अध्ययनों तथा सिफारिशों की चर्चा भी की गई। भारत में चलाए गए अभिभावक शिक्षा अभियान पर भी इस इकाई में प्रकाश डाला गया। ऐसी गतिविधियों के बारे में बताया गया, जिन्हें विद्यालय कार्यक्रमों में माता-पिता तथा परिवार को सहभागी बनाने के लिए आयोजित किया जा सकता है। अभिभावक-अध्यापक साझेदारी वाले छह क्षेत्रों की चर्चा विस्तार से की गई। ये क्षेत्र हैं - प्रभावी संवाद, बच्चे की मूल समर्थन-प्रणाली के तौर पर लालन-पालन, विद्यार्थियों की पढ़ाई में परिवार की मदद, स्वयंसेवियों के लिए प्रशिक्षण कार्यक्रम, विद्यालय की निर्णय प्रक्रिया में माता-पिता की भागीदारी और समुदाय के साथ सहयोग। माता-पिता तथा परिवार की भागीदारी सुनिश्चित करने में विद्यालय को किन चुनौतियों एवं बाधाओं का सामना करना पड़ता है, इस बारे में भी चर्चा की गई। इस इकाई को पढ़ने के बाद शिक्षक अभिभावक-अध्यापक भागीदारी से जुड़ी गतिविध्यिां चला सकते हैं।

3.22 अभ्यास-प्रश्न

1. प्राचीन काल में स्त्रियों की परिस्थिति का विवेचन कीजिए।
2. ब्रिटिश शासन काल में स्त्रियों की स्थिति में क्या परिवर्तन हुए।
3. महिलाओं के अधिकारों की विस्तृत व्याख्या कीजिए।
4. अधिकार चेतना से आप क्या समझते है। मूल्यांकन कीजिए।
5. लिंग समानता से क्या आशय है? स्पष्ट कीजिए।
6. ब्रिटिश युग में स्त्री शिक्षा के विकास पर टिप्पणी कीजिए।
7. स्वतंत्रता के पश्चात् स्त्री शिक्षा का विवरण दीजिए।
8. स्त्री शिक्षा के पाठ्यक्रम पर अपने विचार व्यक्त कीजिए।
9. माता-पिता की भागीदारी में शामिल गतिविधियों की श्रेणियां बताइए और उन पर विचार कीजिए।
10. अभिभावक-अध्यापक भागीदारी कार्यक्रम से संबंधित क्षेत्र के गुणवत्ता संकेतकों पर चर्चा कीजिए।

11. अभिभावक-अध्यापक सहयोग की दिशा में आने वाली चुनौतियों पर चर्चा कीजिए।
12. भारत में चलाए गए अभिभावक शिक्षा अभियान की तुलना विदेशों में चलाए गए अभियान से कीजिए।

नोट

3.23 संदर्भ पुस्तकें

- शिक्षा के दार्शनिक और सामाजिक आधार, माथुर, एस.एस., विनोद पुस्तक मंदिर।
- शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, योगेंद्र कुमार, मधुलिका शर्मा।
- शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, ओ.पी.।
- शिक्षा और मनोविज्ञान : मापन और मूल्यांकन, शशि प्रभा।
- शिक्षा के दार्शनिक आधार, पांडेय, रामशकल।
- शिक्षा का समाजशास्त्रीय आधार, चौबे, एस.पी., इंटरनेशनल बुक्स, मेरठ।
- शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, डॉ. एन.के.।

नोट

अध्याय-4

लोकतंत्र समाजवाद और धर्मनिरपेक्षता

(Structure)

4.1 उद्देश्य
4.2 प्रस्तावना
4.3 प्रजातंत्र में शिक्षा की आवश्यकता एवं महत्त्व
4.4 शिक्षा में प्रजातंत्र
4.5 प्रजातंत्र और शिक्षा का अर्थ
4.6 प्रजातंत्र और शिक्षा के उद्देश्य
4.7 हैंडरसन के अनुसार प्रजातांत्रिक शिक्षा के उद्देश्य
4.8 प्रजातंत्र और पाठ्यक्रम
4.9 प्रजातंत्र और शिक्षण विधियाँ
4.10 प्रजातंत्र और अनुशासन
4.11 प्रजातंत्र और शिक्षक
4.12 प्रजातंत्र और विद्यालय का प्रशासन
4.13 भारत में प्रजातंत्र और शिक्षा
4.14 भारत में शैक्षिक अवसरों की समानता की प्राप्ति
4.15 समाजवाद व शिक्षा
4.16 समाजवाद का अर्थ
4.17 समाजवाद की विशेषताएँ
4.18 ज़िक्षा का अर्थ
4.19 समाजवाद का सिद्धान्त
4.20 समाजवादी समाज में शिक्षा की भूमिका
4.21 समाजवाद का शिक्षा पर प्रभाव
4.22 सारांश
4.23 अभ्यास-प्रश्न
4.24 संदर्भ पुस्तकें

4.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- प्रजातंत्र में शिक्षा की आवश्यकता जानने हेतु;

नोट

- प्रजातंत्र और पाठ्यक्रम को जानने हेतु;
- प्रजातंत्र और अनुशासन जानने हेतु;
- भारत में शैक्षिक अवसरों की समानता की प्राप्ति के संबंध में जानने हेतु;
- समाजवाद क्या है, जानेंगे;
- शिक्षा क्या है? समझ सकेंगे;
- समाजवाद और शिक्षा के मध्य अन्तर्सम्बन्ध को जानेंगे;
- समाजवाद के सिद्धान्तों की विवेचना कर सकेंगे;
- समाजवाद का शिक्षा पर प्रभात को समझ सकेंगे।

4.2 प्रस्तावना

प्रजातंत्र और शिक्षा के संबंध में जानने से पूर्व प्रजातंत्र के अर्थ को समझना बहुत आवश्यक है। प्रजातंत्र के लिए अंग्रेजी शब्द है डेमोक्रेसी। डेमोक्रेसी (Democracy) शब्द यूनानी भाषा के दो शब्दों 'डेमोस' (Demos) और 'क्रेटिक' (Cratic) से मिलकर बना है। डेमोस का अर्थ है जनता और क्रेटिक का अर्थ है शासन। इस प्रकार शाब्दिक अर्थ में डेमोक्रेसी का अर्थ है 'जनता का शासन'। अब्राहम लिंकन ने प्रजातंत्र को परिभाषित करते हुए कहा है–''प्रजातंत्र जनता का, जनता के द्वारा, जनता के लिए शासन है।'' ब्राइस ने प्रजातंत्र के विषय में लिखा है कि, ''प्रजातंत्र ऐसी सरकार है, जिसमें शासन करने की शक्ति किसी व्यक्ति अथवा वर्ग के हाथों में न रहकर समस्त जनता के हाथों में सामूहिक रूप से होती है।''

आधुनिक युग में प्रजातंत्र की ये परिभाषाएँ संकीर्ण मानी जाती हैं, क्योंकि इन परिभाषाओं के अनुसार प्रजातंत्र का अर्थ केवल राजनीतिक है। इनके अनुसार प्रजातंत्र का अर्थ केवल शासन व्यवस्था से लगाया जाता है। वस्तुत: आज प्रजातंत्र का अर्थ अत्यंत व्यापक है। आज प्रजातंत्र का अर्थ केवल शासन व्यवस्था से नहीं है वरन् यह जीवन यापन का एक ढंग भी है, जिसमें समाज के प्रत्येक व्यक्ति को अपनी समस्त शक्तियों का विकास करने के लिए स्वतंत्रता तथा जीवनयापन करने के लिए समान अवसर उपलब्ध होते हैं। बॉयड के अनुसार–''प्रजातंत्र जीवनयापन का एक अंग है और जीवन यापन का अर्थ है–जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को भली-भाँति प्रभावित करना।''

विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग के प्रतिवेदन में इस विचार का समर्थन करते हुए कहा गया है कि ''प्रजातंत्र राजनीतिक व्यवस्था नहीं है वरन् जीवनयापन का एक ढंग भी है। प्रजातंत्र समान अधिकार और समान स्वतंत्रता के सिद्धांत पर आधारित रहता है। ये सिद्धांत किसी विशेष जाति, धर्म, लिंग तथा आर्थिक स्थिति वाले व्यक्ति के लिए नहीं वरन् सभी के लिए होते हैं।

आज के युग में प्रजातंत्रीय भावना एवं सिद्धांतों का प्रयोग राजनीतिक क्षेत्र के अतिरिक्त सामाजिक और आर्थिक क्षेत्रों में भी किया जाता है। सामाजिक क्षेत्र में प्रजातंत्र का अर्थ उस सामाजिक व्यवस्था से है, जिसमें समाज के सभी सदस्यों को रंग, रूप, जाति धर्म, सम्प्रदाय, वर्ण एवं लिंग आदि के भेदभाव के बिना समान अधिकार प्रदान किए जाते हैं। सामाजिक प्रजातंत्र के अंतर्गत सभी नागरिकों को अपनी योग्यता और क्षमता के अनुसार अपना कार्य करने और अपना पूर्ण विकास करने की स्वतंत्रता होती है। राज्य अथवा समाज द्वारा सबको समान सुविधाएँ और समान अवसर प्रदान किए जाते हैं। इस संबंध में ड्यूई का कहना है कि प्रजातंत्र में सार्वजनिक हितों का ध्यान रखा जाता है और व्यक्तिगत स्वार्थों को सामाजिक नियंत्रण द्वारा अनुशासित किया जाता है।

आर्थिक क्षेत्र में प्रजातंत्र का अर्थ उस आर्थिक व्यवस्था से है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को धन कमाने और धन का उपयोग करने के समान अवसर प्रदान किए जाते हैं। आर्थिक प्रजातंत्र में सभी नागरिकों को समान रूप से उच्च स्तर का रहन-सहन प्राप्त करने के अवसर प्राप्त होते हैं। इस व्यवस्था में आर्थिक शक्ति कुछ धनी लोगों के हाथों में केंद्रित न होकर देश की जनता के हाथों में होती है, जिससे धन का उपयोग जनता की भलाई के लिए किया जा सके और नागरिक सुखी जीवन व्यतीत कर सकें। आर्थिक प्रजातंत्र पूँजीवाद का विरोध करता है, सहकारिता में विश्वास करता है और धन के उत्पादन तथा वितरण में सभी का अधिकार मानता है। भाटिया के शब्दों में–'आर्थिक प्रजातंत्र का अर्थ आर्थिक शक्ति का सब लोगों के हाथों में होना है न कि कुछ पूँजीपतियों या विशेष वर्ग के हाथों में'।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक युग में प्रजातंत्र का अर्थ केवल राजनीतिक व्यवस्था ही नहीं है वरन् यह एक सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था भी है। यह जीवन की एक विधि है। शैक्षिक अर्थ में प्रजातंत्र का अर्थ है समाज के सभी लोगों को समान रूप से शिक्षा प्राप्त करने के अवसर उपलब्ध होना। ई. जे. पावर के शब्दों में–''शिक्षा में प्रजातंत्र की व्यवस्था इस अर्थ में की जाती है कि सभी लोगों के सभी बालकों को शिक्षा प्राप्त करने के अवसर मिलेंगे और वे विद्यालयों में नियमित रूप से जा सकेंगे। इसके लिए उनसे कोई भी सामाजिक भेदभाव नहीं रखे जाएँगे, जो शैक्षिक क्षेत्र में बाधा उपस्थित करते हैं।

कार्लमार्क्स का समानता का सिद्धान्त समाजवाद के नाम से जाना गया। समाजवाद शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम रहबर्ट ओवन के विचारों का प्रचार करने के लिए सन् 1927 में स्थापित पत्रिका (ओनाईट) को ओपरेटिव में व्यक्तिवादी और उदारवादी विचारों के विरूद्ध भावों को प्रदर्शित करने के लिए किया गया था। सन् 1835 में रहबर्ट आवेन ने समाजवाद शब्द का प्रयोग किया।

समाजवाद को आग्लभाषा में 'सोशलिज्म' कहा जाता है। 'सोशलिज्म' शब्द की उत्पत्ति लैटिन भाषा के सोशियस शब्द से हुई है जिसका आशय 'समाज' से है। इस तरह से शब्द स्तुत्पत्ति की दृष्टि से समाजवाद का सम्बन्ध समाज से है। अगर समाजवाद का सबसे सरल अर्थ किया जाये तो यह कहा जा सकता है कि समाजवाद, 'समाज की एक ऐसी वर्ग विहीन और शोषणरहित समाज व्यवस्था के निर्माण का नाम है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के विकास का पूर्ण अवसर प्राप्त होता है।

4.3 प्रजातंत्र में शिक्षा की आवश्यकता एवं महत्त्व

प्रजातंत्र में शासन की सत्ता किसी व्यक्ति विशेष में केंद्रित न होकर जनता के चुने प्रतिनिधियों में केंद्रित होती है। जनता द्वारा चुने हुए ये प्रतिनिधि जनहित के लिए प्रयत्नशील रहते हैं और ऐसे कार्यों का संपादन करते हैं, जिनसे जनता का अधिक-से-अधिक कल्याण हो सके। जब ये प्रतिनिधि अपने अधिकारों का दुरुपयोग करने लगते हैं तो जनता उनके शासन करने के अधिकार को छीन लेती है और उनके स्थान पर दूसरे व्यक्तियों को अपना प्रतिनिधि चुन देती है। इस प्रकार प्रजातंत्रीय राज्य में स्वशासन की व्यवस्था होती है। स्वशासन के लिए जनता का शिक्षित होना आवश्यक है। प्रजातंत्र में जब जनता को अपना शासक चुनने का अधिकार है तो उसे इतना ज्ञान और विवेक भी होना चाहिए कि वह उपयुक्त शासकों को चुन सके। ऐसे शासकों को चुन सके, जो जनकल्याण के लिए कार्यरत हो सकें। आवश्यक ज्ञान और विवेक के अभाव में जनता देशद्रोही, स्वार्थी और

नोट

भ्रष्टाचारी लोगों की बातों मे आकर ऐसे अनुपयुक्त व्यक्तियों को अपना प्रतिनिधि चुन लेगी, जो शासन करने के योग्य नहीं है और अयोग्य शासकों के अंतर्गत राज्य और समाज की उन्नति नहीं हो सकेगी। अत: यह आवश्यक है कि प्रजातंत्र में जनता को शिक्षित किया जाए और उसे राजनीतिक दृष्टि से जागरूक बनाया जाए। शिक्षित जनता के बिना प्रजातंत्र की सफलता असंभव है। इस प्रकार शिक्षा प्रजातंत्र की रीढ़ है, उसका आधार है।

प्रजातंत्र में शिक्षा की आवश्यकता एवं महत्त्व मुख्यत: निम्न कारणों से है–

1. **योग्य नागरिकों का निर्माण करने के लिए**–प्रजातंत्र की सफलता ऐसे नागरिकों पर निर्भर करती है, जो योग्य हों, कार्य कुशल हों, उत्तम चरित्र वाले हों, स्वतंत्रता, समानता और न्याय के महत्त्व को समझने वाले हों, जातीयता, साम्प्रदायिकता और ऊँच-नीच की संकीर्ण भावना से परे हों। ऐसे उत्तम नागरिकों का निर्माण केवल मात्र शिक्षा के द्वारा ही हो सकता है। इसलिए प्रजातांत्रिक राज्य में योग्य और उत्तम नागरिकों के निर्माण के लिए शिक्षा आवश्यक है।
2. **कर्तव्य और अधिकारों का ज्ञान कराने के लिए**–प्रजातंत्र शासन में नागरिकों के लिए यह आवश्यक है कि वे अपने कर्तव्य और अधिकारों से न केवल भलीभाँति परिचित हों वरन् अपने कर्तव्य का उचित ढंग से पालन भी करें और अपने अधिकारों का सही प्रकार से उपयोग करें। राज्य की व्यवस्था तभी सुचारू से चल सकती है, जब सभी नागरिक अपने कर्तव्यों और अधिकारों के प्रति सचेत हों और यह कार्य शिक्षा द्वारा ही पूर्ण हो सकता है। शिक्षा प्रजातंत्र का एक महत्त्वपूर्ण अस्त्र है, क्योंकि शिक्षित नागरिक ही प्रजातंत्र की रक्षा कर सकता है।
3. **देशप्रेम की भावना का विकास करने के लिए**–प्रजातंत्र की रक्षा और उन्नति का उत्तरदायित्व देशवासियों पर होता है। इसके लिए आवश्यक है कि उनमें देशप्रेम की भावना है। उनमें त्याग की ऐसी भावना हो कि देश के हित के लिए अपने व्यक्तिगत हितों की परवाह न करके अपना सब कुछ अर्पित करने को तैयार रहें। उनमें ऐसी भावना हो कि यह देश मेरा है, इस देश की उन्नति मेरी उन्नति है, इसलिए इसकी रक्षा के लिए हमें प्राणों का भी मोह नहीं करना चाहिए। देशवासियों में इस प्रकार की भावना का विकास शिक्षा द्वारा ही संभव है।
4. **राजनीतिक जागरूकता के लिए**–प्रजातंत्र में नागरिक देश के शासन का संचालन करने के लिए अपने प्रतिनिधियों को प्रत्यक्ष रूप से चुनते हैं। अत: उन्हें मतदान के महत्त्व से भलीभाँति परिचित होना चाहिए। उन्हें शासन व्यवस्था की पूर्ण जानकारी होनी चाहिए। उन्हें इस बात का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए कि उनके प्रतिनिधि किस प्रकार से शासन का संचालन करते हैं और किस प्रकार अपने वायदों को पूरा कर रहे हैं तथा किस सीमा तक जनहित के कार्यों को कर रहे हैं। यह कार्य शिक्षा का है। शिक्षा ही व्यक्ति को मतदान का महत्त्व बतलाती है, शासन व्यवस्था की जानकारी देती है, और उनमें राजनीतिक जागरूकता पैदा करके उनमें इन कार्यों में भाग लेने की रुचि भी पैदा करती है। इस प्रकार हम कर सकते हैं कि प्रजातंत्रीय शासन व्यवस्था का संचालन शिक्षित जनता पर ही निर्भर है।
5. **प्रजातांत्रिक आदर्शों में विश्वास उत्पन्न करने के लिए**–प्रजातंत्र के कुछ अपने आदर्श और मूल्य होते हैं। प्रजातंत्र की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि उसके नागरिक

इन आदर्शों और मूल्यों में विश्वास करते हों और इनके अनुसार आचरण करते हों। इसके लिए शिक्षा की आवश्यकता होती है। शिक्षा ही इस महत्त्वपूर्ण कार्य को करती है। शिक्षा ही नागरिकों में इन आदर्शों और मूल्यों के प्रति विश्वास उत्पन्न करती है और उसके अनुसार आचरण करने की आदत विकसित करती है।

6. **मानवीय गुणों का विकास करने के लिए**–प्रजातंत्र के लिए ऐसे नागरिकों की आवश्यकता है, जो मानवीय गुणों से युक्त हों। उनमें प्रेम, सहयोग, सहकारिता, सद्भावना, सहानुभूति, धैर्य, परोपकार और त्याग आदि गुण हों। ऐसे मानवीय गुणों से युक्त नागरिक ही प्रजातंत्र की आधारशिला हैं। ऐसे नागरिक पर ही प्रजातंत्र की सफलता निर्भर है। शिक्षा द्वारा ही व्यक्तियों में इन गुणों का विकास किया जाता है। अतः प्रजातंत्र में शिक्षा महत्त्वपूर्ण है।
7. **संस्कृति के संरक्षण और हस्तांतरण के लिए**–प्रजातंत्र में यह आवश्यक है कि सभी नागरिक अपनी संस्कृति, सभ्यता, ज्ञान-विज्ञान आदि गुणों से परिचित हों और उनके विकास में आपना योगदान दें। यह कार्य शिक्षा के द्वारा ही संभव हो सकता है, क्योंकि शिक्षा ही एक ऐसा साधन है, जिसके द्वारा हमारी संस्कृति और हमारी सामाजिक धरोहर (Social Heritage) का संरक्षण और एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में हस्तांतरण किया जा सकता है।

स्पष्ट है कि सफलता के लिए शिक्षा अति आवश्यक है। यदि हम प्रजातंत्रीय शासन प्रणाली सफल बनाना चहते हैं तो हमें नागरिकों को शिक्षित करना चाहिए। हैदरिंगटन (Hatherington) ने ठीक ही कहा है– ''प्रजातंत्रीय सरकार की माँग शिक्षित जनता है'' (Democratic government demands an educated people)।

4.4 शिक्षा में प्रजातंत्र

शिक्षा में प्रजातंत्र (Democracy in Education) या प्रजातंत्र शिक्षा (Democratic Education) का अर्थ है शिक्षा में प्रजातंत्र की विचारधारा का प्रभाव। यह प्रभाव निम्न प्रकार से पड़ा है–

1. **सार्वभौमिक तथा अनिवार्य शिक्षा** (Universal and Compulsory Education)–प्रजातंत्र में यह माना जाता है कि शिक्षा प्रत्येक व्यक्ति का जन्मसिद्ध अधिकार है। देश के किसी भी व्यक्ति का चाहे वह किसी भी धर्म, जाति, वर्ग, सम्प्रदाय, वर्ण, प्रांत आदि का हो उसे शिक्षा प्राप्त करने से वंचित नहीं किया जा सकता। इस प्रकार प्रजातंत्रीय देशों में एक निश्चित अवधि तक सभी बालक-बालिकाओं के लिए अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था की जाती है। भारत में 14 वर्ष तक के बालक-बालिकाओं के लिए अनिवार्य एवं निःशुल्क शिक्षा का प्रावधान किया गया है।
2. **निःशुल्क शिक्षा** (Free Education)–प्रजातंत्र में सभी बालक-बालिकाओं को अपनी उन्नति और विकास के लिए समान अवसर प्राप्त होते हैं। इसके लिए सरकार सभी बालक-बालिकाओं को एक निश्चित स्तर तक निःशुल्क शिक्षा प्रदान करती है, जिससे निर्धन बालक भी शिक्षा प्राप्त कर सकें। दुनिया के सभी प्रजातंत्रीय देशों में किसी-न-किसी स्तर तक निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था की गयी है। प्रो. हुमायूँ कबीर ने इस विषय में लिखा है–''यदि प्रजातंत्र को सचमुच प्रभावशाली होना है और प्रत्येक व्यक्ति को अपने पूर्ण विकास की गारंटी प्राप्त करनी है तो शिक्षा को सार्वभौमिक और निःशुल्क होना चाहिए।''

3. **प्रौढ़ शिक्षा व स्त्री शिक्षा** (Provision of Adult and Women Education)–प्रो. एस. एन. मुकर्जी ने लिखा है कि, ''यदि बालकों की शिक्षा राज्य के भावी कल्याण के लिए आवश्यक है तो प्रौढ़ों की शिक्षा प्रजातंत्र के वर्तमान अस्तित्व के लिए आवश्यक है।'' प्रजातांत्रिक विचारधारा के अनुसार विभिन्न देशों में प्रौढ़ शिक्षा, स्त्री शिक्षा और विकलाँगों की शिक्षा पर बल दिया जा रहा है।

4. **बाल केंद्रित शिक्षा** (Child-Centred Education)–प्रजातंत्रीय विचारधारा के अनुसार शिक्षा में बालक केंद्र माना जा रहा है और उसकी रुचियों, अभिरुचियों, योग्यताओं और क्षमताओं के आधार पर दी जा रही है। शिक्षा द्वारा ऐसे पर्यावरण का निर्माण किया जाता है, जिसमें बालक का चहुँमुखी विकास हो सके।

5. **व्यक्ति तथा समाज की आवश्यकताओं के अनुकूल पाठ्यक्रम** (Curriculum)–प्रजातंत्रीय विचारधारा के अनुसार पाठ्यक्रम का संगठन व्यक्ति तथा समाज की आवश्यकताओं के अनुकूल किया जा रहा है। प्रजातंत्रीय देशों में ऐसा पाठ्यक्रम बनाया जा रहा है, जिससे सामाजिक उद्देश्यों की प्राप्ति संभव हो सके और बालक को कुशल नागरिक बनाया जा सके।

6. **सक्रिय शिक्षण की विधियाँ** (Method of Teaching)–प्रजातंत्रीय शिक्षा में ऐसी शिक्षण विधियों पर बल दिया जा रहा है, जो बालक के ऊपर कोई दबाव नहीं डालतीं। उन्हें स्वतंत्रतापूर्वक स्वयं ज्ञान की खोज करने के लिए प्रोत्साहित करती हैं और क्रिया द्वारा करने (स्मंतदपदह इल क्वपदह) पर बल देती हैं।

7. **शिक्षक के व्यक्तित्व का सम्मान** (Importance of Teacher)–प्रजातंत्रीय विचारधारा के प्रभावस्वरूप शिक्षक के व्यक्तित्व को बहुत सम्मान दिया जा रहा है। प्रजातंत्रीय देशों में शिक्षक को शिक्षण कार्य से अधिक स्वतंत्रता प्रदान की जा रही है। उसे शिक्षण विधियों में परिवर्तन करने की स्वतंत्रता दी जा रही है। पाठ्यक्रम के निर्माण और पाठ्य-पुस्तकों के चयन में उसका सहयोग लिया जा रहा है।

8. **स्वशासन पर बल** (Emphasis on Self-Discipline)–प्रजातंत्रीय आदर्शों के अनुसार विद्यार्थियों में स्वशासन की क्षमता पैदा के लिए छात्र-संघ (Students Union), छात्रावास। (Hostel life), कल्याण परिषद् (Welfare-Society), आदि की स्थापना की जा रही है, जिनकी व्यवस्था का पूर्ण उत्तरदायित्व विद्यार्थियों पर ही होता है। वे स्वयं ही नियम बनाते हैं और उनका पालन करते हैं। इससे उनमें स्वानुशासन की भावना पैदा होती है।

9. **पाठ्यक्रम सहगामी क्रियाओं का आयोजन** (Organisation of Co-curricular Activities) –विचारों एवं लेखन की अभिव्यक्ति के लिए तथा उत्तरदायित्व की भावना का अनुभव करने के लिए प्रजातंत्रीय देशों में विद्यालयों में खेल-कूद, वाद-विवाद, काव्य गोष्ठी, सांस्कृतिक कार्यक्रम, संगीत सम्मेलन, पर्यटन आदि आयोजित किए जाते हैं। इन कार्यक्रमों का आयोजन विद्यार्थी स्वयं करते हैं, जिससे उनमें उत्तरदायित्व की भावना का विकास होता है और वे अच्छे वक्ता और लेखक बनते हैं।

10. **शिक्षा के समस्त साधनों में सहयोग** (Relation Between Various Agencies of Education)–प्रजातंत्रीय भावना के प्रभाव से समस्त साधनों विद्यालय, परिवार, समुदाय, धर्म तथा राज्य आदि में सहयोग स्थापित करने के लिए प्रयत्न किए जा रहे हैं, जिससे बालक को अधिक से अधिक लाभ मिल सके।

नोट

11. **विद्यालय समाज का लघु रूप है** (School is a Miniature of Society)–प्रजातंत्र में विद्यालय को समाज का लघु रूप माना जा रहा है, जहाँ पर बालक नागरिकता की शिक्षा के साथ-साथ विश्वबंधुत्व की शिक्षा भी प्राप्त करता है।

    दुनिया के अनेक प्रजातंत्रीय देशों ने इन विचारों को अपनी शिक्षा प्रणाली में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। अमेरिका इनमें सबसे आगे है। भारत में भी इन विचारों को स्थान दिया जा रहा है। जब तक हमारी शिक्षा प्रणाली में इनको पूरी तरह से स्थान नहीं दिया जाता, तब तक हमारे देश में प्रजातंत्र सफल नहीं हो सकता।

4.5 प्रजातंत्र और शिक्षा का अर्थ

प्रजातंत्रीय दृष्टि से शिक्षा एक सामाजिक प्रक्रिया है, जिससे व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास किया जाता है और उनका समाजीकरण किया जाता है, जिससे व्यक्ति और समाज दोनों का ही लाभ होता है। ड्यूवी ने प्रजातंत्र में शिक्षा के अर्थ को स्पष्ट करते हुए कहा है कि, ''प्रजातंत्र में ऐसी शिक्षा होनी चाहिए, जो सामाजिक कार्यों तथा संबंधों में व्यक्तित्व रुचि उत्पन्न कर सके और उनमें ऐसी मानसिक आदतों का निर्माण कर सके, जो बिना कोई, अव्यवस्था उत्पन्न किए सामाजिक परिवर्तन कर सकें।''

प्रजातंत्र में व्यक्ति और समाज दोनों को सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है। व्यक्ति समाज का निर्माण करता है और समाज व्यक्ति के हित के लिए कार्य करता है और कार्य शिक्षा के द्वारा ही किया जाता है। इस संबंध में प्रो. हुमायूँ कबीर ने कहा है कि, ''प्रजातंत्र सामाजिक संयोग और सामाजिक प्रगति के लिए पाशविक शक्ति को अनुनय में बदलने का प्रयास करता है। शक्ति की अपेक्षा विवेक को समाज का पथ-प्रदर्शन करने वाला सिद्धांत बताने का अर्थ यह है कि शिक्षा व्यक्तियों को समाज के रचनात्मक सदस्यों के रूप में तैयार करे।''

4.6 प्रजातंत्र और शिक्षा के उद्देश्य

यद्यपि देश, काल और परिस्थितियों के अनुसार शिक्षा के उद्देश्य बदलते रहते हैं, लेकिन फिर भी प्रजातंत्र की आकांक्षाओं और मान्यताओं के आधार पर प्रजातंत्र में शिक्षक के कुछ उद्देश्य निश्चित किए गए हैं, जिनमें से प्रमुख उद्देश्य निम्न प्रकार हैं–

1. **व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास** (Harmonious Development of personality)–प्रजातंत्र में शिक्षा का एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य व्यक्ति का सर्वांगीण विकास करना है। जिस देश के नागरिक जितने बलवान, ज्ञानवान और चरित्रवान होंगे वह देश उतना ही उन्नतिशील होगा। जग तक किसी देश के नागरिक शारीरिक रूप से स्वस्थ नहीं होंगे तब तक देश की स्वतंत्रता की रक्षा नहीं हो सकेगी। जब तक किसी देश के नागरिकों की चिंता, तर्क, कल्पना, निर्णय आदि मानसिक शक्तियों का विकास नहीं होगा, तब तक देश की राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक समस्याएँ नहीं सुलझायी जा सकेंगी और जब तक किसी देश के नागरिकों का व्यवहार, आचरण और चरित्र अच्छा नहीं होगा तब तक उस देश की सामाजिक व्यवस्था सुव्यवस्थित नहीं हो सकेगी। अत: प्रजातंत्र में शिक्षा को व्यक्ति का शारीरिक मानसिक, चारित्रिक और सभी प्रकार का विकास करना चाहिए, जिससे वह अपने व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास करके देश और समाज का हित कर सके।

2. **प्रजातांत्रिक मूल्यों का विकास** (Development of Democratic Values)–प्रजातंत्र में प्रत्येक नागरिक के लिए परम आवश्यक है कि वह प्रजातंत्र के मूल्यों और आदर्शों को जाने, उनमें विश्वास रखे और उनके अनुसार आचरण करे। ऐसा होने पर ही प्रजातंत्र सफल हो सकता है। अत: प्रजातंत्रीय शिक्षा का एक प्रमुख उद्देश्य व्यक्तियों में प्रजातांत्रिक मूल्यों और आदर्शों का विकास करना है। इसके लिए उनको प्रजातंत्रीय ढंग से रहने के अवसर प्रदान किए जाने चाहिए। विद्यालयों का संपूर्ण पर्यावरण प्रजातांत्रिक मूल्यों के अनुसार होना चाहिए।

3. **व्यावसायिक कुशलता का विकास** (Development of Vocational Efficiency)–कहा गया है कि आर्थिक प्रजातंत्र में बिना राजनीतिक प्रजातंत्र अधूरा है। प्रजातंत्र की सफलता उस देश के नागरिकों की आर्थिक उन्नति तथा देश की आर्थिक समृद्धि और संपन्नता पर निर्भर करती है। अत: प्रजातंत्रीय शिक्षा का एक प्रमुख उद्देश्य नागरिकों में व्यावसायिक कुशलता का विकास करना है, जिससे वे आत्मनिर्भर हो सकें और अपनी आर्थिक उन्नति कर सकें तथा राष्ट्र की संपत्ति में वृद्धि करके उसकी आर्थिक समृद्धि और संपन्नता बढ़ाने में सहायक हो सकें।

4. **अच्छी आदतों और रुचियों का विकास** (Development of Good Habits and Interests)–अच्छी आदतें और रुचियाँ अच्छे कार्यों की नींव डालते हैं और चारित्रिक विकास करती हैं, समय और शक्ति का सदुपयोग करना सिखाती हैं तथा जीवन को संपन्नता प्रदान करती है। प्रजातंत्र में शिक्षा का उद्देश्य बालकों में उत्तम और बहुमुखी रुचियों और अच्छी आदतों का विकास करना है, जिससे वे अपने समय और ज्ञान का सदुपयोग करके, अपना नैतिक व चारित्रिक विकास करके अच्छे नागरिक बन सकें और दिशा तथा समाज का भला कर सकें।

5. **सामाजिक दृष्टिकोण का विकास** (Development of Social Outlook)–मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह समाज में रहता है और समाज से ही प्रेरणा प्राप्त करता है, अत: प्रजातांत्रिक शिक्षा का एक उद्देश्य व्यक्ति में सामाजिक दृष्टिकोण या सामाजिकता की भावना का विकास करना है, जिससे वह समाज के हितों के लिए अपने हितों का बलिदान कर सके। वह यह समझे कि वह समाज का है और उसका संपूर्ण जीवन समाज के लिए है। उसे जो भी विचार करना है और जो भी कार्य करना है, समाज के हित में करना है। समाज का हित उसका हित है। इसके लिए शिक्षा में ऐसी क्रियाओं पर बल दिया जाना चाहिए, जो बालकों में सामाजिक गुणों को पैदा कर सकें और सामाजिक जीवन तथा सामाजिक सेवा का ज्ञान दे सकें।

6. **नागरिकता के गुणों का विकास** (Development of Civic Qualities)–प्रजातंत्र की सफलता योग्य और आदर्श नागरिकों पर निर्भर करती है। अत: प्रजातांत्रिक शिक्षा का उद्देश्य योग्य और आदर्श नागरिकों का निर्माण करना है। ऐसे नागरिकों का निर्माण करना है, जो राजनैतिक दृष्टि से जागरूक हों और मानवीय गुणों से युक्त हों, जो देश की राजनीतिक समस्याओं को समझने और सुलझाने की योग्यता रखते हों, जो अपने मत का सही प्रयोग कर सकते हों, जो अपने कर्तव्य और अधिकारों के प्रति सतर्क हों, जिनमें उत्तरदायित्व के निर्वहन की क्षमता हो और जो प्रेम, सहयोग, अनुशासन, परोपकार आदि गुणों से युक्त हों।

7. **राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय भावना का विकास** (Development of National and International Understanding)–प्रजातंत्र शांति और सह अस्तित्व में विश्वास करता है। इसलिए प्रजातांत्रिक शिक्षा का उद्देश्य बालकों में राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय भावना का विकास करना है। राष्ट्रीयता या देश प्रेम की भावना पर बल देने के कारण प्रजातंत्र में शिक्षा का उद्देश्य राष्ट्रीय भावना का विकास करना तो है ही, लेकिन चूँकि आज के युग में कोई राष्ट्र अकेला उन्नति नहीं कर सकता, उसे अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए दूसरे राष्ट्रों से सहयोग लेना पड़ता है, इसीलिए प्रजातंत्र में शिक्षा का उद्देश्य अंतर्राष्ट्रीयता का विकास करना भी है।
8. **नेतृत्व के गुणों का विकास** (Development of Leadership)–प्रजातांत्रिक शिक्षा का उद्देश्य बालकों में नेतृत्व के गुणों का विकास करना है। आज के बालक ही कल के नागरिक होंगे। इसलिए शिक्षा के द्वारा ऐसे नेता, पथ-प्रदर्शक, दिशा-निर्देशक तैयार किए जाने चाहिए, जो केवल तकनीकी, चिकित्सा, समाज सेवा आदि क्षेत्रों में भी कुशल नेतृत्व दे सकें, जिससे राष्ट्र और समाज की उन्नति हो सके।

4.7 हैंडरसन के अनुसार प्रजातांत्रिक शिक्षा के उद्देश्य

हैंडरसन ने प्रजातंत्रीय शिक्षा के निम्नलिखित उद्देश्य बताए हैं–

1. विद्यार्थियों में मानवीय व्यक्तित्व के लिए सम्मान और श्रद्धा के भाव उत्पन्न करना।
2. विद्यार्थियों के सीखने के साधनों तथा उनके समय और क्षमता के अनुसार सामाजिक धरोहर पर अधिकार प्राप्त करने में सहायता करना।
3. आत्मानुशासन की जटिल कला के शिक्षण तथा सामान्य हित में रुचि जाग्रत करना।
4. प्रजातांत्रिक सत्य के अनुकूल आत्महित के लिए चिंतन की क्षमता विकसित करना।
5. विद्यार्थियों को प्रजातंत्र को समझने और जीवन में सामाजिक उन्नति को अपना लक्ष्य बनाने में सहयोग देना।

4.8 प्रजातंत्र और पाठ्यक्रम

प्रजातंत्र में ऐसे पाठ्यक्रम का निर्माण किया जाता है, जो प्रजातंत्रीय आदर्शों और मूल्यों को प्राप्त करने में सहायक हों और जो बालकों को इस योग्य बना दे कि वे प्रजातंत्रीय समाज में सफल जीवन व्यतीत कर सकें। इस दृष्टि से प्रजातंत्रीय पाठ्यक्रम का निर्माण निम्नलिखित सिद्धांतों के आधार पर किया जाना चाहिए–

1. प्रजातंत्रीय पाठ्यक्रम लचीला, विस्तृत और बहुमुखी होना चाहिए। इसमें उन सभी विषयों और क्रियाओं का समावेश होना चाहिए, जो बालक के सर्वांगीण विकास में सहायक हों और उन्हें सफल जीवन व्यतीत करने की शिक्षा दे सकें।
2. प्रजातंत्रीय पाठ्यक्रम में इतनी विविधता और लचीलापन होना चाहिए कि विद्यार्थी अपनी रुचि, अभिरुचि, योग्यता, क्षमता, बुद्धि और आवश्यकता के अनुसार विषयों और क्रियाओं का चयन कर सकें।
3. प्रजातंत्रीय पाठ्यक्रम का निर्माण स्थानीय साधनों और आवश्यकताओं के आधार पर किया जाना चाहिए।

नोट

4. प्रजातंत्रीय पाठ्यक्रम में ऐसे विषयों और क्रियाओं का समावेश किया जाना चाहिए, जो बालकों को अवकाश के समय के लिए शिक्षा प्रदान करें।
5. प्रजातंत्रीय पाठ्यक्रम में सामाजिक क्रियाओं पर विशेष बल दिया जाना चाहिए। पाठ्यक्रम ऐसा होना चाहिए, जो बालकों में सामाजिक भावना पैदा करे और समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायक हो।
6. प्रजातंत्रीय पाठ्यक्रम का निर्माण बालकों की व्यावसायिक आवश्यकताओं के आधार पर किया जाना चाहिए।

4.9 प्रजातंत्र और शिक्षण विधियाँ

प्रजातंत्र में शिक्षण विधियों का चयन भी प्रजातांत्रिक सिद्धांतों और आदर्शों के अनुरूप किया जाता है। प्रजातंत्र का मूल सिद्धांत स्वतंत्रता, क्रियाशीलता और प्रगतिशीलता है। अत: कठोर परंपरावादी और निष्क्रिय शिक्षण विधियों का प्रजातंत्र में कोई स्थान नहीं है। प्रजातंत्रीय शिक्षण विधियों में निम्नलिखित विशेषताएँ होनी चाहिए–

1. प्रजातंत्रीय शिक्षण द्वारा बालकों में करके सीखने (Learning by Doing) की आदत डालनी चाहिए। बालकों को कक्षा में एक निष्क्रिय श्रोता की तरह न बैठकर सक्रिय रहकर सिद्धांतों और सत्यों की खोज करके निष्कर्ष पर पहुँचने का प्रयास करना चाहिए।
2. प्रजातंत्रीय शिक्षण विधियों द्वारा बालकों को अपने अनुभव से सीखने की स्वतंत्रता प्रदान करनी चाहिए। बालकों पर कोई दबाव नहीं डाला जाना चाहिए। उनको प्रश्न पूछने, विचार-विमर्श करने, वाद-विवाद करने और अपना मत प्रकट करने की स्वतंत्रता होनी चाहिए।
3. प्रजातंत्रीय शिक्षा में सहयोग के आधार पर शिक्षा की प्रक्रिया चलनी चाहिए। कक्षा के समस्त कार्य, शिक्षण और शिक्षार्थी के सहयोग से होने चाहिए। शिक्षक को एक सहायक और मार्गदर्शक के रूप में ही कार्य करना चाहिए और उन्हें बालक को शिक्षा प्राप्त करने में केवल सहयोग देना चाहिए।
4. प्रजातंत्रीय शिक्षण विधियों में चिंतन, तर्क, कल्पना आदि मानसिक शक्तियों के विकास पर विशेष बल दिया जाना चाहिए और इसके निरीक्षण विधि को अपनाना चाहिए तथा विषय का व्यावहारिक ज्ञान देने के लिए प्रयोग और कर्मशाला विधि का प्रयोग किया जाना चाहिए।

4.10 प्रजातंत्र और अनुशासन

प्रजातंत्र में अनुशासन का बहुत महत्त्व होता है। बिना अनुशासन प्रजातांत्रिक व्यवस्था सफल नहीं हो सकती, लेकिन प्रजातंत्र दमनात्मक अनुशासन के पक्ष में नहीं है। वह दमनात्मक अनुशासन का विरोध करके स्वानुशासन पर बल देता है। प्रजातंत्र में वही अनुशासन अच्छा समझा जाता है, जिसमें बालक स्वयं अनुशासन बनाए रखते हैं, जहाँ बालक शारीरिक दंड या अन्य किसी भय या दबाव के आधार पर नहीं वरन् अपनी अंत:प्रेरणा से अनुशासित रहते हैं। प्रजातंत्र में विद्यालय में स्वानुशासन की भावना का विकास करने के लिए निम्नलिखित कार्य किए जाने चाहिए।

1. विद्यालय का वातावरण सरल, शांत, प्रभावपूर्ण और भयरहित होना चाहिए, जिससे बालकों को अपने विकास के अवसर मिल सकें।
2. विद्यालय में ऐसे कार्यक्रमों का आयोजन किया जाना चाहिए, जिनसे उनमें उत्तरदायित्व की भावना का विकास हो सके। छात्र-संघ, क्रीड़ा-संघ आदि को संगठित करने की उन्हें पूर्ण स्वतंत्रता दी जानी चाहिए, जिससे उनमें स्वयं अपने द्वारा बनाए गए नियमों का पालन करने की भावना पैदा हो सके।
3. विद्यालय में ऐसी सामाजिक क्रियाओं का आयोजन किया जाना चाहिए, जिससे उनमें सामाजिक नियंत्रण की भावना विकसित हो सके।
4. विद्यार्थियों को अपने कर्तव्यों और अधिकारों को समझने के अवसर दिए जाने चाहिए।
5. शिक्षकों को विद्यार्थियों के साथ प्रेमपूर्वक और सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करना चाहिए। उन्हें अपने विद्यार्थियों की पग-पग पर सहायता करनी चाहिए।

4.11 प्रजातंत्र और शिक्षक

प्रजातंत्र में शिक्षक का स्थान अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। योग्य, परिश्रमी और गुणी शिक्षक ही देश को अच्छे इंजीनियर, डाक्टर, मैकेनिक, नेता, शिक्षक, वकील और प्रशासक दे सकते हैं। प्रजातंत्र में शिक्षक में ऐसी क्षमता और योग्यता होनी चाहिए कि वह समाज में उचित परिवर्तन लाकर उसे प्रगति की ओर ले जाए। प्रजातंत्र में शिक्षक ही वह व्यक्ति है, जो अपने विद्यार्थियों में प्रजातंत्र के आदर्शों के प्रति आस्था और प्रेम पैदा कर सकता है। प्रजातंत्र में शिक्षक में अनेक गुण होने चाहिए, जिनमें कुछ इस प्रकार हैं–

1. शिक्षक को उत्तम चरित्र वाला होना चाहिए।
2. शिक्षक का दृष्टिकोण अत्यंत व्यापक होना चाहिए।
3. शिक्षक को अपने कर्तव्यों और अधिकारों के प्रति जागरूक होना चाहिए।
4. शिक्षक को प्रेम, सहानुभूति, सहयोग, सहनशीलता, दया, धर्म और कर्तव्यनिष्ठा आदि गुणों से युक्त होना चाहिए।
5. शिक्षक को न्यायपूर्ण होना चाहिए। उसे किसी के साथ पक्षपात नहीं करना चाहिए, जिससे विद्यार्थियों की श्रद्धा उसके प्रति पैदा हो सके।

4.12 प्रजातंत्र और विद्यालय का प्रशासन

प्रजातंत्र में विद्यालय प्रजातंत्रीय सिद्धांतों और आदर्शों पर आधारित होता है। प्रजातंत्र में विद्यालय का प्रशासन प्रधानाचार्य, शिक्षकों और विद्यार्थियों के सहयोग से प्रजातांत्रिक आधार पर चलता है। ये सभी मिल-जुलकर विद्यालय की नीतियों का निर्माण करते हैं, पाठ्यक्रम बनाते हैं, शिक्षण विधियों का निर्धारण करते हैं, पाठ्य-पुस्तकों का चयन करते हैं, कक्षा कार्यों की योजनाएँ बनाते हैं और अन्य सहगामी क्रियाओं की व्यवस्था करते हैं। प्रजातंत्र में प्रशासक और प्रधानाचार्य अपनी योजनाओं को शिक्षकों और विद्यार्थियों पर बलपूर्वक थोपते नहीं है वरन् उनकी सहमति और सहयोग से कार्य करते हैं। इस व्यवस्था में प्रधानाचार्य और विद्यार्थियों, शिक्षकों और अधिकारियों, शिक्षकों और अभिभावकों, विद्यार्थियों और प्रधानाचार्य, अधिकारियों और अभिभावकों व प्रधानाचार्य और शिक्षकों

के आपसी संबंध प्रजातंत्रीय भावना पर आधारित होते हैं। इससे अनेक लाभ होते हैं, जैसे प्रधानाचार्य को विद्यालय प्रशासन में शिक्षकों का पूर्ण सहयोग मिलता है, शिक्षकों के व्यावसायिक कार्य में अधिक कुशलता आती है और विद्यार्थियों में प्रजातंत्रीय भावना का विकास होता है।

नोट

4.13 भारत में प्रजातंत्र और शिक्षा

जनसंख्या की दृष्टि से भारत दुनिया का सबसे बड़ा प्रजातंत्र है। दुनिया का यह महान प्रजातंत्र तभी सफल हो सकता है, जब राष्ट्र के सभी नागरिक शिक्षित हों और उनको शिक्षा प्राप्त करने के समान अवसर उपलब्ध हों। भारतीय संविधान ने सरकार को स्पष्ट रूप से यह आदेश दिया है कि 14 वर्ष तक के सभी बालक-बालिकाओं के लिए नि:शुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था करे। सरकार उसके लिए प्रयत्नशील है और आठवीं पंचवर्षीय योजना में इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ है। इसके अतिरिक्त सरकार माध्यमिक शिक्षा और विश्वविद्यालयी शिक्षा के प्रसार के लिए भी प्रयत्नशील है। सरकार ने देश में भारी संख्या में माध्यमिक विद्यालय खोले हैं और विश्वविद्यालयों की संख्या में आजादी के बाद काफी बढ़ोतरी हुई है। तकनीकी शिक्षा संस्थानों का देश में जाल बिछाया जा रहा है। गूँगे, बहरे, लंगड़े, अंधे और अन्य प्रकार विशिष्ट बालकों को शिक्षित करने के लिए शिक्षा की व्यवस्था की जा रही है। स्त्रियों को शिक्षित करने के लिए अथक प्रयास किए जा रहे हैं, उनके लिए हर स्तर की शिक्षा संस्थाएँ खोली जा रही हैं। प्रौढ़ व्यक्तियों को शिक्षित करने के लिए प्रौढ़ शिक्षा का व्यापक कार्यक्रम कार्यान्वित किया जा रहा है। पिछड़ी हुई और परिगणित जातियों के विद्यार्थियों को शिक्षा प्राप्त करने के लिए विशेष सुविधाएँ दी जा रही हैं। पिछड़े हुए क्षेत्रों जैसे पर्वतीय क्षेत्रों, पूर्वांचल आदि में शिक्षा की सुविधाएँ उपलब्ध कराई जा रही हैं। इस प्रकार हमारी प्रजातंत्रीय सरकार देश के सभी बालक और बालिकाओं, युवकों और युवतियों, प्रौढ़ पुरुषों और प्रौढ़ स्त्रियों को शिक्षा प्राप्त करने के समान अधिकार, समान अवसर और समान सुविधाएँ प्रदान करने की व्यवस्था कर रही है। हमारी सरकार देश से अज्ञान और अशिक्षा को दूर करने के लिए वचनबद्ध है और वह इसके लिए सतत् प्रयत्नशील है। वह इस बात के लिए प्रयत्नशील है कि देश के सभी लोगों का बौद्धिक विकास हो, वे कर्तव्य और अधिकारों को समझें, अपने मत का उचित प्रयोग करें और अपने उत्तरदायित्व का निर्वहन उचित ढंग से करें।

यद्यपि भारत की प्रजातंत्रीय सरकार देश में प्रजातंत्र को सफल बनाने के लिए प्रयत्नशील है, लेकिन दुर्भाग्य से उसको अभी तक इस कार्य में पूर्ण सफलता नहीं मिली है। चूँकि हमारे देश में प्रजातंत्रीय आदर्शों, मूल्यों की जड़ें अभी तक जम नहीं पायी हैं, इसीलिए हमारे यहाँ प्रजातंत्र को जितना सफल होना चाहिए था, नहीं हो पा रहा है। भारत में जातीयता, साम्प्रदायिकता, प्रांतीयता, भाषावाद, सामाजिक विषमता, निर्धनता, अज्ञानता, भ्रष्टाचार, अनैतिकता आदि ऐसे अनेक कारण हैं, जो प्रजातंत्र की सफलता में बाधा डाल रहे हैं। अशिक्षित होने के कारण भारत की अधिकांश जनता मत के महत्त्व को नहीं समझ पाती और प्रजातंत्र के अर्थ को नहीं समझती। भारत के अधिकतर निवासी इतने गरीब हैं कि वे रोटी, कपड़ा और मकान की समस्याओं को हल करने में ही लगे रहते हैं, उनको राजनीतिक या दूसरी बातों पर विचार करने का समय ही नहीं मिलता। इसके अतिरिक्त हमारी शिक्षा प्रणाली इतनी दोषपूर्ण है कि वह भारत की प्रजातांत्रिक आवश्यकताओं को पूरा करने में पूर्णतया असमर्थ है। हमारे देश में प्रजातंत्रीय सिद्धांतों के अनुसार न पाठ्यक्रम का निर्धारण किया जाता है और न शिक्षण विधियों का प्रयोग किया जाता है। हमारे यहाँ न विद्यालय

प्रशासन को प्रजातांत्रिक आदर्शों और मूल्यों के अनुरूप बनाया जाता है। हमारे देश में शिक्षकों, अभिभावकों, विद्यार्थियों, प्रधानाचार्यों और प्रशासनिक अधिकारियों के संबंधों में प्रजातांत्रिक भावना का पूर्ण अभाव है। हमारे प्रजातंत्र में आए दिनों विद्यार्थियों द्वारा आंदोलन किए जाते हैं और शिक्षकों तथा अन्य कर्मचारियों द्वारा हड़तालें की जाती हैं। यदि हमें अपने प्रजातंत्र को, दुनिया के सबसे बड़े प्रजातंत्र को, सफल बनाना है तो हमें कम से कम दो महत्त्वपूर्ण कार्य अवश्य करने होंगे। एक देश के प्रत्येक बालक-बालिका और प्रौढ़ स्त्री-पुरुष को शिक्षित करना होगा और दूसरे वर्तमान शिक्षा प्रणाली में आमूलचूल परिवर्तन करना होगा। हमारी सरकार और समाज दोनों को इस ओर ध्यान देना होगा और इसके लिए अपेक्षित धन और अन्य साधनों को जुटाना होगा। यह उनका प्रथम और पवित्र कर्तव्य है। हमारी सरकार और हमारे समाज को इस ओर सक्रिय कार्य करना चाहिए और देशवासियों को ऐसी शिक्षा देनी चाहिए, जिससे उनमें प्रजातंत्रीय भावना का विकास हो सके और वे देश के आदर्श नागरिक बन सकें।

4.14 भारत में शैक्षिक अवसरों की समानता की प्राप्ति

शैक्षिक अवसरों की समानता का अर्थ है–सभी बालक-बालिकाओं को जाति, लिंग, धर्म, अर्थ किसी भी आधार पर भेद किए बिना अपनी-अपनी योग्यता और क्षमताओं के अनुसार विकास के स्वतंत्र एवं समान अवसर प्रदान करना। प्रजातांत्रिक भारत ने समाजवादी अर्थव्यवस्था को अपनाया है, इसीलिए यह आवश्यक है कि देश के सभी बालक-बालिकाओं के लिए समान शैक्षिक अवसर उपलब्ध कराए जाएँ, इसके लिए निम्नलिखित उपाय करने चाहिए–

1. शिक्षा की एक निश्चित राष्ट्रीय नीति बनायी जानी चाहिए, जिसका पालन करना सभी राज्य सरकारों के लिए अनिवार्य होना चाहिए।
2. संपूर्ण देश में एक निश्चित अवधि तक नि:शुल्क शिक्षा होनी चाहिए। नि:शुल्क शिक्षा का अर्थ केवल शुल्क से मुक्ति ही न हो, अपितु पुस्तकें, कापियाँ, मध्याह्न भोजन, खेल उपकरण आदि सभी कुछ नि:शुल्क होना चाहिए।
3. प्रत्येक क्षेत्र में जनसंख्या की दृष्टि से शिक्षा संस्थाओं की संख्या निर्धारित की जानी चाहिए जिससे सभी बालक-बालिकाएँ उनमें प्रवेश ले सकें।
4. सभी स्तर की शिक्षा संस्थाओं के लिए न्यूनतम संसाधन उपलब्ध कराए जाने चाहिए।
5. शिक्षा संस्थाओं में बालक-बालिकाओं को मात्र उनकी योग्यता के आधार पर प्रवेश दिया जाना चाहिए।
6. विकलांग और उपेक्षित बालकों के लिए अलग से विद्यालय होने चाहिए।
7. निर्धन बालकों के लिए छात्रवृत्ति की व्यवस्था होनी चाहिए।
8. प्रतिभाशाली और विभिन्न पाठ्यक्रम सहगामी क्रियाओं में विशेष दक्षता रखने वाले बालक-बालिकाओं के लिए अलग से छात्रवृत्तियाँ निश्चित की जानी चाहिए।
9. अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति और पिछड़ी जाति के बालकों के लिए भी छात्रवृत्तियों की व्यवस्था की जानी चाहिए, जिससे वे शिक्षा प्राप्त करने के अवसर प्राप्त कर सकें।
10. बालिकाओं की शिक्षा के लिए विशेष व्यवस्था की जानी चाहिए।
11. शिक्षा संस्थाओं में सभी छात्र-छात्राओं के साथ समान व्यवहार किया जाना चाहिए।

नोट

4.15 समाजवाद व शिक्षा

शिक्षा और समाज का घनिष्ठ संबंध है। सामाजिक दृष्टिकोण से शिक्षा का प्रयोजन व्यक्ति में सुधार लाना होता है। व्यक्ति का स्वभाव सामाजिक होता है इसलिए व्यक्ति के विभिन्न प्रकार के व्यवहारों से आन्तरिक रूप से यह संबंधित है। उसे लिखना, पढ़ना, बोलना, चलना तथा अन्य व्यक्तियों के साथ व्यवहार करना सभी कुछ समाज में रहते हुए सीखा है अत: वह अपने संपूर्ण विकार। के लिए समाज पर निर्भर है। जर्मन दार्शनिक कार्ल के अनुसार - व्यक्ति के सभी व्यवहार किसी न किसी राजनैतिक दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण माने जाते है। राजनैतिक दृष्टिकोण से हमारा अर्थ विभिन्न राजत्रतक विचारधाराओं से है। जो समाज में प्राचीन समय से लेकर वर्तमान तक विभिन्न राजनैतिक विचारधाराओं का प्रादुर्भाव रहा है। इन विभिन्न राजनैतिक विचारधाराओं में एक विचारधारा है - समाजवादी विचारधारा। जिसने भी व्यक्ति को प्रभावित किया है।

मानव स्वभाव से सामाजिक होता है, अत: मानव का सामाजिक होना शिक्षा ही एक प्रमुख कारण है। शिक्षा के अभाव में मानव समाज, सामाजिकता की कल्पना भी नहीं कर सकता। क्योंकि प्राचीनकाल का अध्ययन करने से या इतिहास के साक्ष्य यह ज्ञात कराते है कि प्रारम्भ में मानव एक समूह या समाज होने लगा तो स्वत: ही एक समूह, झुण्ड व कबीलों में रहनें लगा। और वर्तमान समय में सभी समाजवादी देशों में एक निश्चित आयु तक सभी स्तरों पर नि:शुल्क और सार्वजनिक रूप से शिक्षा लेनी चाहिए। यह शिक्षा बिना किसी भेदभाव के सभी को मिलनी चाहिए।

4.16 समाजवाद का अर्थ

जार्ज पेन को शैक्षिक समाजशास्त्र का पिता माना जाता है। उन्होंने अपनी पुस्तक 'दि प्रिनिरपिला अह्र एजुकेशनल सोशियोलह्रजी में इस बात पर प्रकाश डाला है कि शिक्षा का सामूहिक जीवन पर तथा सामूहिक जीवन का शिक्षा पर क्या प्रभाव पड़ता है। उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि व्यक्ति को पूर्णरूपेण विकसित करने के लिए उस पर पड़ने वाली सामाजिक शक्तियों के प्रभाव का अध्ययन करना आवश्यक है।

समाजवाद का उदय सन 1848 के पश्चात मुख्यत: कार्ल मार्क्स एवं एन्जिल्स के प्रयासो से विकसित हुआ। समाजवाद पूंजीवाद के विरूद्ध धारणा है। यह कुछ व्यक्तियों द्वारा पूंजी की जमाखोरी के विरूद्ध है और ऐसे समाज का विचार करता है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यता का स्वतन्त्रता से अपने निजी हित के लिए तथा समाज के हित के लिए उपयोग कर सके। समाजवाद श्रम के महत्व को बल देता है।

समाजवाद समाज की रचना करना उदयोन्मुख भारतीय समाज का एक प्रमुख धयेय है। इस ध्येय की पूर्ति के लिए जनता में एक नई चेतना तथा जागरूकता की आवश्यकता है। समाजवाद लाने में शिक्षा की अहम भूमिका है। यदि सही अर्थों में हमें जनता की सरकार बनानी है तो समाज में एक ऐसी आर्थिक व्यवस्था निर्प्सि करनी चाहिए जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को जीवन निर्वाह के लिए निम्नतम सुविधाएँ उपलब्ध हो। इस व्यवस्था से अमीर और गरीब की खाई को कम किया जा सकता है। समाज की यही अवधारणा समाजवाद कहलाती है।

समाजवाद की संकल्पना व्यक्ति के सामाजिक और आर्थिक न्याय पर आधारित है। वास्तव में जनतंत्र और समाजवाद एक ही सिक्के के दो पहलू है। लोकतंत्र सभी नागरिकों को प्रतिनिधित्व

का समान अधिकार प्रदत करता है और समाजवाद राज्य के सभी व्यक्तियों को समान आर्थिक अवसर प्रदान करता है। उत्पादन के सभी साधनों जैसे भूमि, श्रम, पूंजी और संगठन पर राज्य का स्वामित्व होता है और किसी भी एक व्यक्ति को लाभ अर्जित करने का अवसर नहीं दिया जाता। समाजवाद उत्पादन के सभी साधनों पर स्वामित्व का समर्थन करता है। समाजवाद पूंजीवाद समाज रचना को समाप्त करना चाहता है और समाज को वर्गहीन समाज की स्थापना करना चाहता है जो हर प्रकार के शोषण, दमन तथा असमानता से मुक्ता हो तथा जिसमें समाज के लोगों में आपसी सहयोग तथा बन्धुत्व हो। व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए स्वयं संघर्ष करता है। इस प्रकार समाजवाद एक जीवन पद्धति, एक विशिष्ट संस्कृति तथा सामूहिक ढंग से रहने की पद्धति है। सामाजिक न्याय और समानता समाजवाद के प्रमुख सिद्धान्त है। मध्ययुग में यूरोप में हुए दो आन्दोलनो, पहला पुनर्जागरण तथा दूसरा सुधार आन्दोलन के कारण समाजवाद का जन्म हुआ। समाजवाद का जन्म सामन्तवाद तथा अधिनायकवाद के विरूद्ध हुआ। कुछ विचारकों के अनुसार इस विचारधारा को अधिक बल तथा प्रेरणा फांस की राज्य क्रांति और यूरोप की औद्योगिक क्रांति से मिली। औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप पूंजीवाद का विकास हुआ और वर्गभेद अपने तीव्र रूप में उभरा। उत्पादन के सभी साधनों पर पूंजीपतियों का आधिपत्य हो गया। इसलिए श्रमिक वर्ग की आर्थिक स्थिति बहुत दयनीय हो गई। इसी विचारधारा से समाजवादी दर्शन का विकास हुआ। विभिन्न विचारकों में समाजवाद की जो परिभाषाएँ दी है, उनमें से मुख्य निम्नलिखित है–

एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका के अनुसार – समाजवाद वह नीति अथवा सिद्धान्त है जिसका उद्देश्य केन्द्रीय लोकतांत्रिक सत्ता के दवारा सम्पत्ति का आज से अधिक अच्छा वितरण और उत्पादन करना है।

जयप्रकाश नारायण के अनुसार – समाजवाद, आर्थिक और सामाजिक पुनर्निर्माण का सिद्धान्त है।

ह्यूबर्टब्लैण्ड के अनुसार – समाजताद का अर्थ उत्पादन और वितरण के साधनों पर समाज का स्वामित्व स्थापित करना है जिससे समाज के सभी सदस्य उसका लाभ उठा सके।

प्रो. लिटर के अनुसार – समाजवाद वह प्रेरणा है जो समाज के रूप में परिवर्तन करना चाहती है और जिसके लिए आर्थिक व्यवस्था का विचार एक सुन्दर पथ है तथा जिसका प्रचार श्रमिक वर्ग द्वारा किया जा रहा है।

कोकर के अनुसार – समाजवाद का अभिप्राय सम्पत्ति के सभी आधारभूत साधनों पर नियंत्रण से है। यह नियंत्रण समाज के किसी एक वर्ग द्वारा न होकर स्वयं समाज के द्वारा होगा जो धीरे-धीरे व्यवस्थित ढंग से स्थापित किया जायेगा।

प्रो. पीगू के अनुसार – उत्पादन के साधनों पर व्यक्तिगत अधिकारों को ही पूंजीवाद और सार्वजनिक अधिकार को समाजवाद कहते है।

उपर्युक्त परिभाषाओं का विश्लेषण करने पर समाजवाद के बारे में निम्नलिखित तथ्य सामने आते हैं–

1. उपर्युक्त परिभाषाओं में कुछ तो व्यापक अर्थ रखती है तो कुछ संकीर्ण अर्थ वाली है।
2. समाजवाद की कोई सर्वमान्य और सन्तोषजनक परिभाषा नहीं दी गई है। विचारों की विभिन्नता के कारण यह निश्चित रूप से प्रतिपादित नहीं किया गया है कि समाजवाद वास्तव में क्या है? समाजवाद इतनी विस्तृत विचारधारा है कि इसे पूर्णरूप से एक निश्चित परिभाषा की परिधि में नहीं लाया जा सकता है।

नोट

3. विभिन्न विद्वानों ने समाजवाद के विविध पक्षों पर प्रकाश डाला है। कुछ ने इसे राजनीति व्यवस्था के रूप में स्वीकार किया है, तो दूसरों ने इसे राजनीति दर्शन की संज्ञा दी है। कतिपय इसे जन आन्दोलन के रूप में परिभाषित करते है। कुछ ने इसे आर्थिक प्रणाली के रूप में भी विश्लेषित किया है।
4. इन सब परिभाषाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि समाजवाद पूंजीवाद विरोधी विचारधारा है।
5. इन परिभाषाओं में समाजवाद का उद्देश्य अथवा लक्ष्य भी स्पष्ट नहीं होता है। इसका लक्ष्य वर्गविहीन और शोषणरहित समाज की स्थापना करना है।

4.17 समाजवाद की विशेषताएँ

अनेक विचारकों ने समाजवाद को सैद्धान्तिक आधार प्रदान किया है। उन्हीं को दृष्टिगत रखकर समाजवाद की प्रमुख विशेषताओं को निम्नलिखित रूप में देखा जा सकता है–

- समाजवाद द्वारा व्यक्तिवाद का विरोध
- व्यक्ति हित पर सामाजिक हित को प्रधानता
- समाजवाद पूंजीवाद का विरोध
- वर्ग विहीन समाज की कल्पना
- प्रतिस्पर्धा के स्थान पर वर्ग-सहयोग पर बल
- निजी सम्पत्ति पर विरोध
- आंगिक एकता का पक्षधार
- उत्पादन के साधना पर सामाजिक नियंत्रण का समर्थक
- समानता पर बल
- सभी के लिए उत्पादक कार्य करना अनिवार्य
- व्यक्तिगत स्वतंत्रता का समर्थन
- स्वशासन का पक्षधार
- जनतांत्रिक विचारधारा
- लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना
- मानवीय आदर्शों का महत्व
- आर्थिक नियोजन

4.18 ज़िक्षा का अर्थ

शिक्षा शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में किया जाता है–

शिक्षा का शाब्दिक अर्थ

शिक्षा को आंग्ल भाषा में 'एजूकेशन कहते है। 'एजूकेशन' शब्द की व्युत्पत्ति लैटिन भाषा के 'एडुकेटम शब्द से हुई है। जिसका अर्थ हैं शिक्षित करना।

शिक्षा का संकुचित अर्थ

संकुचित रूप में स्कूली शिक्षा को ही शिक्षा कहते है। इस रूप में वयस्क वर्ग एक पूर्व निश्चित योजना के अनुसार बालक के सामने एक विशेष प्रकार के नियंत्रित वातावरण को प्रस्तुत करके

एक निश्चित ज्ञान को निश्चित विधि के दवारा निश्चित काल में समाप्त करने का प्रयास करता है जिससे उसका मानसिक विकास हो जाये।

शिक्षा का व्यापक अर्थ

नोट

शिक्षा के शाब्दिक अर्थ के रूप में दो मत आज शिक्षा समाज में प्रचलित है। प्रथम मत भारतीय मत तथा द्वितीय पाश्चात्य मत।

भारतीय मत– शिक्षा शब्द संस्कृत की शिक्ष धतु से बना है। इसका अर्थ है सीख या सीखना। इसी के समान्तर शिक्ष धतु से शिक्षण शब्द की व्युत्पति भी हुई। इसका अर्थ सीखना होता है। इस प्रकार शिक्षा और शिक्षण दोनों शिक्षा के अनिवार्य अंग है। इसलिए शिक्षा का तात्पर्य सीखने और सिखाने दोनों से है। भारतीय परम्परा में शिक्षा के लिए विद्या शब्द का भी प्रयोग किया जाता रहा है। विद्या शब्द संस्कृत भाषा के विद धतु से उत्पन्न माना जाता है। जिसका अर्थ है जानना। वेदों तथा उपनिषदों में कहा गया है कि विद्या वह ज्ञान है जिसे प्राप्त कर लेने के बाद और कुछ जानने को शेष नहीं रहता अर्थात् विद्या का अर्थ आत्मज्ञान समझा जाता था।

पाश्चात्य मत – पाश्चात्य मत के अनुसार Education शब्द की उत्पति के मूल लेटिन भाषा में तीन शब्द माने जाते हैं।

1. Education (एडुकेटम) प्रशिक्षण, शिक्षण
2. Educere (एडुसीयर) विकसित करना, बाहर निकालना
3. Educare (एडकेयर) शिक्षित करना, आगे बढ़ाना / बाहर निकालना, विकास करना।

- **शिक्षा का व्यापक अर्थ** – शिक्षा मानव विकास की प्रक्रिया है। मानव अपने विकास की ईस प्रक्रिया की में शिक्षा के लिए औपचारिक और अनौपचारिक दोनों ही साधनों को अपनाता है। संक्षेप में हम यह कह सकते है कि शिक्षा द्वारा मनुष्य का शारीरिक, मानसिक, भावात्मक, सामाजिक विकास होता है। इसके व्यापक अर्थ में शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य का सर्वांगीण विकास करना है।

व्यापक दृष्टि में शिक्षा का अर्थ बालक के उन सभी अनुभवों से है जिनका प्रभाव उसके उपर जन्म से लेकर मृत्यु तक पड़ता है अर्थात् शिक्षा वह अनियन्त्रित वातावरण है, जिसमें रहते हुए बालक अपनी प्रकृति के अनुसार स्वतन्त्रतापूर्वक नाना प्रकार के अनुभव प्राप्त करता है तथा विकसित करता है। दूसरे शब्दों में, शिक्षा जीवनपर्यन्त चलने वाली प्रक्रिया है। ऐसी शिक्षा किसी विशेष व्यक्ति समय, स्थान अथवा देश तक ही सीमित नहीं रहती अपितु जिन व्यक्तियों के सम्पर्क में आकर बालक जो कुछ भी सीखता है, वे राव उसके शिक्षक है, जिन्हें वह सिखाता है वे सब उसके शिष्य है तथा जिस स्थान पर सीखने अथवा सिखाने का कार्य चलता है, वह स्कूल है। इस प्रकार बालक का समस्त जीवन स्कूल भी है तथा शिक्षा का काल भी।

4.19 समाजवाद का सिद्धान्त

समाजवाद एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें निजी लाभ के स्थान पर सार्वजनिक हितों की प्रधनता होती है। आर्थिक स्थिति में अमीरी व गरीबी के मध्य अधिक दूरी न हो उत्पादन के साधनों पर सम्पूर्ण समाज का अधिकार हो। समाजवाद सिद्धान्त निम्न प्रकार से है–

1. समाजवादी व्यक्तिवादी सम्पत्ति का अन्त करने का पक्षपाती है।
2. समाजवादी राज्य के व्यक्तियों को सभ्य और सुखी बनाने के लिए राज्य को अधिकाधिक कार्य सौंपने के समर्थक है।

नोट

3. समाजवाद उत्पादन के साधनों का सामाजीकरण के पक्षपाती है।
4. समाजवाद समाज में उत्पादन को योजनाबद्ध करते है।
5. समाजवाद पूंजीवाद के घोर विरोधी है क्योंकि पूंजीवादी व्यवस्था सामाजिक एकता को नष्ट करती है।
6. समाजवाद समाज की आंगिक एकता पर बल देता है।
7. समाजवाद प्रतियोगिता के स्थान पर सहयोग को बल देता है।
8. समाजवाद लोकतांत्रिक और संवैधानिक साधनों के माध्म से समाजवादी व्यवस्था की स्थापना करता है।
9. समाजवाद समाज की बुराईयों का मूल आर्थिक विषमता को मानता है।
10. समाज के सी जरूरतमंद सदस्यों को पूर्णकालीन रोजगार दिलाना।
11. शान्तिपूर्ण, अहिंसात्मक एवं जनतंत्रात्मक विधि से समाजवादी परिवर्तन लाना और परिवर्तन लाने में संयम बरतना।
12. अन्त में इस प्रकार का सामाजिक प्रारूप बनाना जिससे समाजवाद की स्थापना स्वत: एवं क्रमिक रूप से हो सके।

4.20 समाजवादी समाज में शिक्षा की भूमिका

समाज में अपेक्षित परिवर्तन लाने में शिक्षा की अहम भूमिका है। समाजवादी समाज की स्थापना में शिक्षा के सहयोग की नितान्त आवश्यकता है। समाज परिवर्तन की पृष्ठभूमि तैयार करने का कार्य शिक्षा ही करती है। समाजवाद लाने के लिए एक लम्बी अवधि तथा धौर्य की आवश्यकता होती है तथा इसके लिए कठिन परिश्रम की भी आवश्यकता होती है। शिक्षकों, शिक्षा व्यवस्थापकों तथा शिक्षा प्रयास को इस बात का ज्ञान होना चाहिए कि समाजवाद समाज के क्या धयेय है, उसका क्या स्वरूप होना चाहिए तथा उन्हें किस प्रकार संगठित करना चाहिए। शिक्षकों के प्रयास तथा कार्यो से इस दिशा में अपेक्षित सफलता प्राप्त की जा सकती है। प्रसिद्ध गाधीवादी विकारक श्री मन्नारायण जे ने समाजवादी समाज के मूलभूत तत्वों पर गहन कथन किया है और शिक्षक की भूमिका की विस्तृत चर्चा की है। उनके अनुसार समाजवादी समाज में सबको रोजगार और काम का अधिकार मिलना चाहिए। इसमे पुस्तकीय शिक्षा सहायक नहीं हो सकती। श्रम की प्रतिष्ठा बढ़ना बहुत आवश्यक है।

समाजवादी समाज में शिक्षा की महत्वपूर्ण भूमिका समाज में व्याप्त बुराईयों को दूर करना है। पण्डित जवाहरलाल नेहरू, आचार्य विनोबा भावे, महात्मा गाधी आदि की समाजवादी प्रारूप में महत्वपूर्ण नीतियां रही है। समाज में समानता, स्वतंत्रता मातृत्व न्याय आदि की भावना का विकास करना है। इन सबके लिए शिक्षा महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

1. प्रजातंत्र और शिक्षा
2. रोजगार और शिक्षा
3. सामाजिक और आर्थिक न्याय और शिक्षा
4. उत्पादनों की आत्मनिर्भरता एवं शिक्षा
5. आर्थिक और राजनैतिक शक्तियों का विकेन्द्रीकरण एवं शिक्षा

संक्षेप में, समाजवादी समाज की स्थापना से नागरिकों के जीवन में नैतिक, सांस्कृतिक तथा आधयात्मिक मुख्य प्रतिबिम्बित होंगे। समाज परिवर्तन के लिए मुख्य संक्रमण का बहुत महत्व है। शिक्षा इसका प्रभावी साधन है। समाज में व्याप्त अनेक रूढ़ियों तथा अन्धाविश्वासों का निर्मूलन भी शिक्षा करती है। शिक्षा व्यक्ति को प्रबुद्ध, सबल, सबल तथा कार्यक्षम बनाती है और रचनात्मक कार्य के लिए प्रेरित करती है। शिक्षा के द्वारा व्यक्ति कुशलताएं प्राप्त करता है और विचारों के अनुसार आचरण करने की सामर्थ्य प्राप्त करता है। इस प्रकार समाजवादी समाज निर्मित तथा विकास में शिक्षा की महत्वपूर्ण भूमिका है।

समाजवाद के आधार पर शिक्षा के उद्देश्य

समाजवाद के दृष्टिकोण से शिक्षा सामाजिक समानता का अध्ययन है। वास्तव में सामाजिक प्रक्रिया का व्यक्ति पर जो प्रभाव पड़ता है, उसे ही हम 'शिक्षा' कहते है। प्रसिद्ध समाजशास्त्री जार्ज पेन के अनुसार समाजवाद के अनुसार शिक्षा के उद्देश्य निम्नलिखित है–

1. **परम्पराओं का समायोजन**–परम्पराओं का समायोजन परिवार से ही आरम्भ हो जाता है और विद्यालय, चर्च, समाज तथा राज्य के प्राविधिक साधनों द्वारा बराबर होता रहता है।
2. **नवीन समाजवाद ढाँचों का विकास**–वर्तमान काल में हमारे देश को नये समाजवाद ढांचों के विकास करने की अत्यन्त आवश्यकता है।
3. **रचनात्मक तथा सृजनात्मक कार्य**–शिक्षा का सबसे महत्वपूर्ण कार्य यह है कि वह अपने प्रमुख कार्यों में एकरूपता स्थापित करे। समाजवाद समानता पर अधिक बल देता है। इस कारण समाजवादी शिक्षा का उद्देश्य ऐसे नागरिकों का निर्माण जो आर्थिक एवं सामाजिक समानता के समर्थक हो। ऐसे नागरिकों का निर्माण तभी सम्भव है जब शिक्षा प्राप्त करने के अक्सर में समानता होगी।

समाजवाद व पाठ्यक्रम

पाठ्यक्रम का निर्धारण शिक्षा के सामाजिक उद्देश्यों की प्राप्ति के दृष्टिकोण से भलीभांति समझा जाता है। पाठ्यक्रम पर ही बहुत कुछ सामाजिक प्रगति निर्भर करती है। पाठ्यक्रम का चुनाव दो बातों को ध्यान में रखकर करना चाहिए - (1) पाठ्यक्रम ऐसा होना चाहिए जो शिक्षा के सामाजिक धयेय को प्राप्त करने में सहायता प्रदान करें और (2) पाठ्यक्रम का संगठन ऐसा हो कि शिक्षण-विधियों से इसका समन्वय इस प्रकार से हो कि वह समाज पर नियन्त्रण रखने का एक प्रभावशाली साधन बन जाये। समाजवादी व्यवस्था में पाठ्यक्रम व्यक्ति की क्षमताओं, सांस्कृतिक मूल्यों, रूचियों पर आधारित होना चाहिये। पाठ्यक्रम को परिवर्तनशील तथा प्रगतिशील होना चाहिए समाज में परिवर्तन होने से पाठ्यक्रम में भी परिवर्तन आ जाना चाहिए। शिक्षा आयोग के अनुसार शिक्षा का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य शिक्षा प्राप्त करने के अवसरों में समानता स्थापित करना जिससे कि पिछड़े हुए या कम विशेषाधिकार वाले वर्ग और व्यक्ति शिक्षा को अपनी दशा सुधारने के लिए साधन के रूप में कम कर सकते है।

पं. जवाहरलाल नेहरू के अनुसार - धर्म, भाषा, जाति, प्रान्तों के नाम से जो संकीर्ण संघर्ष आज चल रहा है उसे समाप्त होना चाहिए ताकि वर्गविहीन व जातिविहिन समाज का निर्माण, जिसमें व्यक्ति को अपने गुण और योग्यता के अनुसार उन्नति करने का पूरा अवसर मिल सके।

जान डयूवी के अनुसार - समाजवाद को सामाजिक कुशलता के रूप में लेते है शिक्षा के द्वारा अधिक से अधिक सामाजिक कुशलता को विकसित की जानी चाहिए उनके अनुसार विद्यालय को सामाजिक जीवन का अधिक से अधिक प्रतिनिधित्व करना चाहिए।

नोट

समाजवाद व शिक्षण विधियाँ

समाजवादी व्यवस्था में ऐसी शिक्षण विधियों को अपनाना चाहिए जो विद्यार्थियों को इस प्रकार का शान दे जो उनको विभिन्न सामाजिक परिस्थितियों में व्यवस्था करने में सहायता प्रदान करें। जो शिक्षण विधियाँ सामाजिक व्यवहार और सामाजिक मूल्यों को महत्व देंगी, वे सामूहिक योजनाओं, सामूहिक प्रतिक्रियाओं इत्यादि को समझने तथा व्यक्तित्व निर्माण करने में बालक को दक्ष बना देगी। वे शिक्षण विधियाँ अच्छी है जो बालकों में जनतन्त्रीय विचारधाराओं का विकास करती है। ऐसी शिक्षण-विधियों के उदाहरण है - प्रोजेक्ट प्रणाली, सामूहिक वादविवाद, सेमीनार, वर्कशहप इत्यादि।

समाजवाद व अनुशासन

समाजवादी विद्यार्थी को दण्ड देने के पक्ष में नहीं है। वे बालक को ऐसे वातावरण में रखना चाहतें है जिसमें रहकर वह सहयोग, स्वशासन की भावना, सामाजिकता का विकास आदि गुणों को प्राप्त कर सके तथा बालक स्वतन्त्र वातावरण में रहकर अपना सर्वागीण विकास कर सके। आचार्य नरेन्द्र देव के अनुसार - विद्यालयों में छात्रों की स्वशासन संस्थाएं स्थापित की जाये जिनके माध्म से छात्रों की स्वशासन भावना को पुष्ट किया जाये और उनमें सामाजिक प्रबन्ध की समता पैदा की जाये।

समाजवाद और शिक्षक

समाजवादी व्यवस्था में शिक्षक का कार्य चुनौतीपूर्ण है उनके कार्य पर ही समाजवादी आन्दोलन की सफलता की है। आचार्य नरेन्द्र देव के अनुसार - समाजवादी आन्दोलन को ऐसे विद्याचरण सम्पन्न कार्यकर्ताओं की आवश्यकता है जो समाजवाद को अपने जीवन का लक्ष्य बनाने को तैयार हो जो अपने जीवन को जनता के जीवन से आत्मसात करने को तैयार हो ओर निष्काम सेवा के द्वारा उन्नयन व उत्साह को ही समुचित पुरस्कार समझे। इस प्रकार प्रत्येक शिक्षक अपने जीवन में ज्ञान पिपासा, सत्य की अराधना, मौलिक सिद्धान्तों का स्पष्ट ज्ञान, नवीन संस्कृति और नये समाज में निष्ठा, चरित्र की दृढता तथा काम की लगन आदि गुणों का पोषण करे।

समाजवाद के आधार पर शिक्षा

1. प्रजातांत्रिक मूल्यों का विकास करना
2. व्यावसायिक दक्षता एवं रोजगारोन्मुखी समाज का निर्माण करना
3. आधयात्मिक, नैतिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों का विकास करना।
4. व्यक्तित्व का सर्वांगिण विकास करना।
5. मानवीय मूल्यों के साथ कल्याण की भावना विकसित करना।

समाजवाद व शिक्षण विधियाँ - सामाजिक और नैतिक मूल्यों की दृष्टि से सामाजिक विषयों का अध्ययन शिक्षण विधियों से प्रभावी एवं रूचिकर किया जा सकता है। विज्ञान तकनीकी दस्तकारी जिसमें कार्ड बोर्ड का कार्य. लकड़ी का कार्य, धतु का कार्य बागवानी आदि के अध्ययन को नवीन विधियों से प्रभावी अधिगम संभव है।

समाजवादी प्रारूप के अनुसार शिक्षण विधियों में भी परिवर्तन होना अपेक्षित है। प्रयोग विधि, प्रोजेक्ट विधि समस्या विधि, विचार-विमर्श और हटरिस्टिक विधियों का प्रयोग बालकों को शैक्षिक नियोजन करते समय प्रयुक्त किया जाना चाहिए। इसके साथ ही शैक्षिक यात्राएं उद्योगों का अवलोकन, प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रमों का संगठन कराया जाना चाहिए, जिससे प्रारम्भ से ही बालकों में उत्पादन के अवसरों की जानकारी हो। इससे निर्धानता के निराकरण की सम्भावनाये बढ़ेगी। सभी को न्याय मिलेगा और प्रजातांत्रिक आदर्शों का पोषण होगा। अत: समाजवादी प्रारूप का मुख्य लक्ष्य ही सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक विकास के समान अवसर उपलब्ध कराना, निर्धानता, पिछड़ापन व शोषण से मुक्ति और जनतंत्रात्मक प्रणाली व सत्ता का विकेन्द्रीकरण है।

4.21 समाजवाद का शिक्षा पर प्रभाव

समाजवाद के प्रभाव के कारण शिक्षा में अनेक परिवर्तन हुए है जो निम्न है–

1. समाजवाद के प्रभाव से जनहित शिक्षा आन्दोलन प्रारम्भ हुआ जिससे बालकों को शिक्षित करने के लिए चारों ओर सार्वजनिक स्कूल खोले जाने लगे। इन स्कूलों में निशुल्क शिक्षा, मुफ्त पुस्तकें भोजन और वस्त्र आदि की सुविधाएँ प्रदान की गई।
2. समाजवाद के व्यवहार से प्रौढ़ शिक्षा आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। इससे राज्यों ने प्रौढ़ व्यक्तियों की शिक्षा का उत्तरदायित्व स्वीकार किया साथ ही विकलांग तथा हीन बालकों को शिक्षित करने के लिए व्यवस्था की जाने लगी।
3. बालकों को फैक्ट्रियों में कार्य करने से रोकने के लिए शिशु शिक्षा आन्दोलन शुरू हुआ जिसके परिणाम स्वरूप यूरोप और अमेरिका आदि देशों में शिशु विद्यालय खोले गये। इस आन्दोलन का श्रेय श्री रार्बन ओवन को है। औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप बालकों को फैक्ट्रियों में कार्य करना पड़ता था जिससे वे अशिक्षित रह जाते थे इन विद्यालयों में इन बाल श्रमिकों को सहज शिक्षा मिलने लगी।
4. सार्वजनिक शिक्षा चर्च और धर्म के चंगुल से बाहर निकलकर राज्य द्वारा निर्देशित होने लगी।
5. राज्यों द्वारा व्यावसायिक शिक्षा की भी व्यवस्था की जाने लगी आधुनिक युग में विश्व के सभी प्रगतिशील देशों में तकनीकी तथा कृषि स्कूल भी समाजवाद के प्रभाव से खोले जा रहें है।
6. समाजवाद का प्रभाव शिक्षा के प्रत्येक अंग पर हुआ जिससे शिक्षा के सभी पक्षों में इसका प्रभाव देखने को मिला।
7. सार्वजनिक शिक्षा के लिए शिक्षकों की मांग बढ़ने लगी इसलिए शिक्षा अध्यापक प्रणाली का प्रयोग किया जाने लगा। इसके अन्तर्गत छोटे बालकों को पढ़ाने का जिम्मा बडे बालकों पर छोड़ दिया जाता है।

4.22 सारांश

जनसंख्या की दृष्टि से भारत दुनिया का सबसे बड़ा प्रजातंत्र है। दुनिया का यह महान प्रजातंत्र तभी सफल हो सकता है, जब राष्ट्र के सभी नागरिक शिक्षित हों और उनको शिक्षा प्राप्त करने के समान अवसर उपलब्ध हों। भारतीय संविधान ने सरकार को स्पष्ट रूप से यह आदेश दिया है कि 14 वर्ष तक के सभी बालक-बालिकाओं के लिए नि:शुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था करे।

सरकार उसके लिए प्रयत्नशील है और आठवीं पंचवर्षीय योजना में इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ है। इसके अतिरिक्त सरकार माध्यमिक शिक्षा और विश्वविद्यालयी शिक्षा के प्रसार के लिए भी प्रयत्नशील है।

नोट

समाजवाद के अनुसार समाज मानव जाति का ऐसा समुदाय है जिसका निर्माण इस उद्देश्य से किया जाता है कि उसके सदस्यो को सर्वांगीण विकास करने का अवसर मिले। समाजवाद की आन्तरिक भावना यह है कि लोग समाज के हित के लिए प्रसन्नता के साथ अधिक श्रम और त्याग करने के लिए उद्यत होते है, और यदि ऐसा मान लिया जाये कि व्यक्ति अपनी प्रकृति और स्वेच्छा से सामाजिक कल्याण नहीं कर सकता तो समाजवाद का सैद्धान्तिक आधार ही समाप्त हो जाता है, समाजवाद का यही औचित्य और महत्व कहा जा सकता है।

सन् 1947 में स्वतंत्रता के पश्चात् देश में प्रजातांत्रिक समाजवाद की स्थापना पर बल दिया गया। व्यक्ति और समाज दोनों का विकास ही समाजवाद का एक लक्ष्य है। समानता, स्वतंत्रता, बंधुत्वत्व और न्याय की प्रवृति को प्रोत्साहन किया गया। सम्पूर्ण समाज में आर्थिक समानता लाना भी समाजवाद की भूमिका है। तथा जनता में साधनों और सुविधाओं का समान बटवारा। प्रशासनिक दृष्टि से सजा स्वशासी इकाइयों के हाथ में। एवं अर्थोपार्जन के साधन सभी को उपलब्ध कराना और केन्द्रीकरण के स्थान पर प्रशासन और सत्ता का विकेन्द्रीकरण करना समाजवाद की प्रमुख धारणा थी।

4.23 अभ्यास-प्रश्न

1. शिक्षा में प्रजातंत्र से क्या तात्पर्य है? स्पष्ट कीजिए।
2. हैंडरसन के अनुसार प्रजातांत्रिक शिक्षा के उद्देश्य बताइए।
3. प्रजातंत्र और शिक्षण विधियों का उल्लेख कीजिए।
4. 'भारत के प्रजातंत्र और शिक्षा' पर टिप्पणी लिखिए।
5. समाजवाद का क्या अर्थ है? विस्तारपूर्वक विश्लेषण करते हुए उपयोगिता बताइये।
6. समाजवाद की विशेषताओं को स्पष्ट कीजिये।
7. समाजवादी समाज में शिक्षा की भूमिका बताइये।
8. समाजवाद के आधार पर शिक्षा के उद्देश्यों को समझाइये।
9. समाजवाद के अनुसार पाठ्यक्रम व अनुशासन की विवेचना कीजिये।
10. शिक्षा और समाजवाद के पारस्परिक संबंधों को स्पष्ट कीजिये।

4.24 संदर्भ पुस्तकें

- शिक्षा के दार्शनिक और सामाजिक आधार, माथुर, एस.एस., विनोद पुस्तक मंदिर।
- शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, योगेंद्र कुमार, मधुलिका शर्मा।
- शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, ओ.पी.।
- शिक्षा और मनोविज्ञान : मापन और मूल्यांकन, शशि प्रभा।
- शिक्षा के दार्शनिक आधार, पांडेय, रामशकल।
- शिक्षा का समाजशास्त्रीय आधार, चौबे, एस.पी., इंटरनेशनल बुक्स, मेरठ।
- शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, डॉ. एन.के.।

अध्याय-5

समाजिकरण और शिक्षा

नोट

(Structure)

5.1 उद्देश्य
5.2 प्रस्तावना
5.3 धर्म की अवधारणा
5.4 मानव जीवन में धर्म का महत्व
5.5 धर्म और शिक्षा का सम्बन्ध
5.6 धर्म शिक्षा की आवश्यकता
5.7 धर्म शिक्षा की चुनौतियाँ
5.8 धर्म शिक्षा के सम्भावित मूल उद्देश्य
5.9 शिक्षा में धर्म का सम्भावित रूप
5.10 धार्मिक शिक्षा की विषय सामग्री
5.11 शिक्षा की विधियां
5.12 भारतीय संस्कृति में लिंग का विचार
5.13 शिक्षा का संस्कृति पर प्रभाव
5.14 समाजीकरण एवं लिंग संरचना
5.15 परिवार की अवधारणा
5.16 शिक्षा के अभिकरण के रूप में परिवार के प्रकार्य
5.17 सम-समूह की परिभाषा
5.18 सम-समूह शिक्षा का अभिकरण
5.19 सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन
5.20 भारतीय संविधान तथा वंचित (निर्बल) वर्ग
5.21 वंचित (निर्बल) वर्गों की शिक्षा की वर्तमान स्थिति
5.22 अनुसूचित जातियों की शिक्षा
5.23 अनुसूचित जातियों के शैक्षिक पिछड़ेपन के कारण
5.24 अनुसूचित जाति की शिक्षा के लिए प्रयास
5.25 अनुसूचित जनजातियों की शिक्षा
5.26 अनुसूचित जनजातियों के शैक्षिक पिछड़ेपन के कारण
5.27 अनुसूचित जनजातियों की शिक्षा के लिए प्रयास

5.28 अनुसूचित जातियों को अन्यों के समकक्ष लाने के लिए निम्न उपाय तत्काल किये जायेंगे
5.29 पिछड़े वर्गों की शिक्षा
5.30 पिछड़े वर्ग के शैक्षिक पिछड़ेपन के कारण
5.31 पिछड़ी जाति की शिक्षा के लिए किए गए प्रयास
5.32 सारांश
5.33 अभ्यास प्रश्न
5.34 संदर्भ पुस्तकें

5.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- धर्म की अवधारणा को समझकर विविध रूपों में उसके अर्थ को बता सकेगें;
- मानव जीवन में धर्म के महत्व का वर्णन कर सकेगें;
- धर्म और शिक्षा के महत्व को बता सकेगें;
- धार्मिक शिक्षा की आवश्यकता की विवेचना कर सकेगें;
- धर्म शिक्षा के समक्ष चुनौतियों को समझा सकेगें;
- धर्म शिक्षा के लिये पाठ्यवस्तु एवं शिक्षण विधियों को वर्णित कर सकेगें.
- नातेदारी, गोत्र, विवाह परिवार सम-समूह की अवधारणाएँ स्पष्ट कर सकेंगे;
- परिवार के विभिन्न प्रकार्यों को स्पष्ट कर सकेंगे;
- परिवार और समूह की शिक्षा को अभिकरण के रूप में व्याख्या कर सकेंगे।

5.2 प्रस्तावना

धर्म मानव जीवन का आधार रहा है क्योंकि धर्म ने मानव जीवन को सार्थकता एवं पहचान दी है और इसी प्रकार से शिक्षा और जीवन का आपसी सम्बन्ध अटूट है। शिक्षा का समूचा लक्ष्य मानव जीवन को निरन्तर विकास की ओर ले जाना है और मानव जीवन के अनेक आयाम एवं पक्ष है और मनुष्य को उसकी संस्कृति स्वरूप देती है। धर्म और संस्कृति का अटूट अंग मानव जीवन को प्रभावित करने वाले अनेक तत्वों में से धर्म भी एक प्रमुख तत्व है। इसी प्रकार से शिक्षा और धर्म का सम्बन्ध आदि काल से है। आदि काल से ही शिक्षा का कार्य एक साधन के रूप में कार्य करते हुए धर्म विशेष का प्रचार प्रसार करना था। वर्तमान में शिक्षा और धर्म के सम्बन्ध को नये रूप में परिभाषित किया जा रहा है। इस इकाई में हम धर्म का सम्प्रत्यय, शिक्षा और धर्म का सम्बन्ध, धर्म के कार्य, धार्मिक शिक्षा की आवश्यकता आदि के विषय में अध्ययन करेंगे।

इसमें परिवार का शिक्षा के अभिकरण में महत्त्व दर्शाया गया है। यह इकाई सम-समूह का बच्चे के व्यक्तिगत विकास तथा सामाजीकरण पर प्रभाव का वर्णन करती है।

नोट

वंचित वर्ग में वे समस्त लोग आते है जो किसी न किसी कारण से समाज में हीन स्थिति में रहे हो वह सामाजिक भी हो सकते है तथा आर्थिक भी। ऐसे व्यक्ति समाज में आगे आने में असमर्थ रहे है। ये शिक्षा के अवसर भी नहीं पाते। परिणाम स्वरूप आर्थिक एवं सामाजिक दृष्टि से ऊपर नहीं उठ पाते हैं।

भारतीय संविधान की धारा 341-342 में अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजाति को पिछड़ी जातियों में रखा गया है। संविधान में यह भी प्रावधान है कि राज्य अपने क्षेत्रों में सामाजिक आधार पर जिन जातियों को वंचित वर्ग माने वह स्वीकार्य होगा। इनमें अनुसूचित जाति (Schedulecste), अनुसूचित जनजाति (Schedule Tribes), निर्दिष्ट जनजाति (Deprived Education of Schedule Tribes) एवं भ्रमणशील जनजाति (Numadic Tribes) को रखा गया है।

वंचन मूल रूप से आर्थिक सम्प्रत्यय है। जब एक परिवार को अधिकाधिक समय जीविका के लिए व्यय करने के बाद भी पर्याप्त भोजन एवं पोषक प्राप्त नही होता है तब उसे गरीब कहा जाता है। ऐसे परिवारों के बालक भी आर्थिक कचियाओ में जुट जाते है तथा शिक्षादीक्षा के अवसरों से वंचित रहने के कारण वंचित वर्ग में आते हैं।

इसी प्रकार सामाजिक मान्यताओं एवं रीति-रिवाजों के कारण महिलाओं को समाज में समान अवसर नहीं मिल पाते। भारत के ग्रामीण एवं सुदूरवर्ती इलाकों में अभी भी बालिकाओं को बालकों से भिन्न मानकर व्यवहार किया जाता है। उनके लिए शिक्षा अर्जन से अधिक घर की जिम्मेदारी का निर्वाह करना है। अत: पढ़ाने के अवसरों से वंचित रखा जाता है। कई बार सुरक्षा की दृष्टि से भी ऐसा किया जाता है।

शिक्षा समाज का मूल आधार है। शिक्षा का एक महत्वपूर्ण सामाजिक उद्देश्य है - अवसर की समता प्रदान करना, जिससे पिछड़े तथा दलित वर्ग और व्यक्ति शिक्षा के द्वारा अपनी स्थिति सुधार सके। जो भी समाज न्याय को अपना आदर्श मानता है और आम आदमी की दशा सुधारने तथा समस्त शिक्षा पाने योग्य व्यक्तियों को शिक्षा दे को उत्सुक है उसे यह व्याख्या करनी ही होगी कि जनता के समस्त वर्गों को अवसर की अधिकाधिक समता प्राप्त होती। एक समतामूलक तथा मानवतामूलक समाज जिसमें निर्बल का शोषण कम से कम हो. बनाने का यही एक सुनिश्चित साधन है।

किसी भी राष्ट्र अथवा समाज की प्रगति उसके सभी नागरिकों पर निर्भर करती है। नि:सन्देह मानव संसाधन ही राष्ट्र की प्रगति व विकास का मूल आधार होते हैं। मानव - संसाधनों के विकास। में शिक्षा को सदैव ही अत्यंत महत्वपूर्ण माना गया है। वस्तुत: शिक्षा किसी भी समुदाय के विकास का सर्वाधिक महत्वपूर्ण साधन होती है। यही कारण है कि भारतीय समाज में जनसामान्य के साथ-साथ निर्बल वर्गों की शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाता है। जिससे समाज के निर्बल वर्ग का भी चहुंमुखी विकास। हो सके तथा वह राष्ट्र -निर्माण में अपना अधिकतम योगदान दे सके।

भारत 'विविधता के एकता' के लिए सम्मानित देश है। इस आधयात्मिक दृष्टि से उच्चतम स्तर पर आत्मसंतुष्टि के स्त्रेत के रूप में देखने की परम्परा रही है। मुख्य रूप से कृषक समाज रहा। आर्थिक दृष्टि से विपन्नता के बावजूद आत्मनिर्भरता, संतोष और प्रत्येक गाँव में कार्य करने की स्वायत्तता पर जोर दिया जाता रहा। अतीत में सामाजिक सबंधों की पहचान भी वित्तीय भूमिकाओं की जमावट, रोजगार एवं शिक्षा से थी। त्यौहार समाज के आंतरिक संगठन के विभिन्न अंमरे रूप में अत्यन्त स्वाभाविक तरीके से मनाए जाते थे। धार्मिक व दार्शनिक लोकाचार आत्मा प्राप्ति के मुख्य उद्देश्य से उसके आप-पास केन्द्रित रहते थे।

5.3 धर्म की अवधारणा

नोट

ह्वाइट हैड ने धर्म को ''शिक्षा का सार'' माना है। शिक्षा के क्षेत्र में धर्म के महत्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है क्योंकि धर्म के अभाव में शिक्षा व्यक्ति को कठोर एवं स्वार्थी बना देती है और सामाजिक प्रगति की योजना में धर्म को स्थान नहीं दिया जाता है तो उस शक्ति की अवहेलना की जाती है जो सामाजिक संगठन को दृढ! बनाती है। **रॉस** का कहना है कि ''शिक्षा का आधार यदि धार्मिक हो तो यह हमारा पथ प्रदर्शन ठीक से कर सकती है और नवयुवकों को ठीक मार्ग पर ला सकती है।'' इसी प्रकार रायबर्न ने भी भारत के सम्बन्ध में लिखा है कि ''यहाँ के जनतन्त्र के विद्यालयों का कार्य धर्म के कारण सरलतापूर्वक चल सकता है। इसका अभिप्राय यह है कि मानव जीवन में धर्म का महत्व अत्यधिक है।'' आज विद्यालयों में धार्मिक शिक्षा दी जाने की माँग देश-विदेश सभी जगह की जा रही है। तब यह जाना जाये की धर्म क्या है?

भारतीय परिप्रेक्ष्य में - व्यास का कथन है कि ''आरणात् धर्म इत्याहु:'' अर्थात् यह कहा जाता है कि धर्म वही है जिसे धारण किया जाता है। समाज में व्यक्ति जीवन प्रति जो धारणा बनाता है या धारणा करता है वही धर्म है। धर्म संस्कृत के ''धृ'' धातु से बना है जिसका अर्थ है जो धारण किया जाये। जब क्या धारण किया जाये स्पष्ट हो जाये तो वह धर्म बन जाता है। धर्म एक प्रकार से कर्तव्य के द्वारा कुछ समाजोपयोगी तथा आत्मोपयोगी बातों या गुणों को धारण करना कहा जा सकता है। **जेम्स** ने कहा है -''धार्मिक जीवन में आत्म समर्पण और त्याग को प्रोत्साहित किया जाता है और अनावश्यक बातों को इसलिये त्यागा जाता है, जिससे सुख की वृद्धि हो सके। इस प्रकार उन बातों को सरल और सुविधा जनक बनाता है, जो जीवन की प्रत्येक दशा में आवश्यक है।''

धृति क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रह।

धी विद्या सत्यमक्रोधो दशकम् धर्म लक्षणम्।

धर्म के दस लक्षण धृति, क्षमा, दम, स्तेय, शुचिता, इन्द्रिय निग्रह, धीर, विज्ञा (ज्ञान), सत्य, अक्रोध (भावनात्मक असंतुलन) है।

अंग्रेजी में 'रिलीजन' शब्द की उत्पति लैटिन के दो शब्दों से हुयी - री और लीगर । इसका अर्थ है टू बाइन्ड बैक'' अर्थात् ''सम्बन्ध स्थापित करना''। इस प्रकार, धर्म वह है जो सम्बन्ध स्थापित करता है। **गिस्बर्ट** ने लिखा है- ''धर्म दोहरा सम्बन्ध स्थापित करता है: पहला मनुष्य और ईश्वर के बीच दूसरा - ईश्वर की संतान होने के कारण मनुष्य और मनुष्य के बीच''। धर्म के दो पक्ष आन्तरिक पक्ष में ईश्वर से सम्बन्धित मनुष्य के विचार, विश्वास और भावनायें आती है। बाह्य पक्ष में प्रार्थनायें और धार्मिक रीति रिवाज आते हैं।

डासन ने स्पष्ट किया है - ''जब कभी और जहाँ कही मनुष्य ऐसी बाह्य शक्तियों पर निर्भरता अनुभव करता है, जो रहस्यपूर्ण और मनुष्य की शक्तियों से कहीं अधिक उच्चतम मानी जाती है वहीं धर्म होता है।''

गिस्बर्ट के अनुसार - ''धर्म ईश्वर या सेवाओं के प्रति उसके ऊपर मनुष्य अपने को निर्भर अनुभव करता है, गतिशील, विश्वास एवं आत्म समर्पण है।

आध्यात्मिक पक्ष से - हीगले के अनुसार- 'धर्म एक प्रकार का सार्वजनिक दर्शन है।'' टेलर का मत है कि - ''धर्म आध्यात्मिक जीवों में विश्वास है।'' इस प्रकार का विचार ह्वाइटहैड ने व्यक्त करते हुये लिखा है कि ''धर्म एक ऐसे तत्व का दर्शन है, जो हमारे परे पीछे और भीतर

है - जो वास्तविक (सत्य) है और जिसकी अनुभूति की प्रतीक्षा होती है - जो ऐसा तत्व है, जिसकी अन्तिम आदर्श रूप से आशा रहित खोज होती है।'' आध्यात्मिक दृष्टि से धर्म मूल्यों की खोज और धारण करना है।

नोट

नीति के रूप में धर्म - **कान्ट** ने कहा है -''धर्म हमारे सामने कर्त्तव्यों को देवी आदेशों के रूप में मान्यता देने को कहता है।'' इस प्रकार धर्म कर्तव्यपालन है रामचरितमानस में कई प्रसंगों में कर्तव्य पालन को धर्म की संज्ञा दी गयी है। अभिप्रेतार्थ यह निकालना चाहिये कि ''धर्म नैतिकता का श्रोत है। वहीं व्यक्ति नैतिक है, जिसमे धर्म की भावना है । परन्तु नैतिकता धर्म का एक अंग है।''

भावना के रूप में धर्म - धर्म का पोषण मनुष्य की भावनाओं से होता है। **हाकिंग** ने धर्म की ''वह अन्तभाविना या प्रकृति कहा है जो अतः प्रेरणा के साथ होती है।'' सालोमन रीनास ने लिखा है कि-''धर्म इच्छाओं का योग है जो हमारी बौद्धिक शक्तियों के स्वतंत्र प्रयोग में बाधा डालती है।'' जबकी फ्रायड ने कहा है - ''धर्म को मानवता की दबी हुई भावनाओं से प्रेरित विश्वव्यापी मानस विकार माना जाना चाहिये।'' भावना ने ही धर्म में कट्टरता उत्पन्न की जो वर्तमान में विश्व समाज के समक्ष अनसुलझी उलझन है और इसने कई बार विश्व की मानव जाती को संकट में डाला ।

धर्म एक संस्था के रूप में - धर्म को एक संस्था के रूप में भी देखा जा सकता है क्योंकि इसका निर्माण सम्वेत रूप से समाज ने ही किया है और उनके वैचारिक भावनात्मक, परम्परात्मक एवं व्यवहारात्मक एकता पाई जाती है जिसका पालन उस धर्म के मानने वाले या संस्था के सदस्य करते हैं।

धर्म को सदैव व्यापक अर्थ में स्वीकार करना चाहिए क्योंकि वह मानवता के प्रति व्यक्तिगण और सामाजिक, नैतिक, आध्यात्मिक तथा सांसारिक लौकिक तथा पारलौकिक दोनों रूपों में विभिन्न कर्तव्यों के पालन में होता है। धर्म को धारण कर व्यक्ति का अस्तित्व एवं व्यक्तित्व दोनों पुरा हो जाता है। धर्म जीवन के प्रति सर्वव्यापक सर्वदेशीय, सर्वकालिक दृष्टिकोण बनाता है। **ग्रैण्डमाइसन** लिखते है कि -''धर्म व्यक्तित्व और सामाजिक विश्वासों, स्थायी भावों और अभ्यासों का कुल योग है, जिसका अपना एक उदेश्य होता है, एक शक्ति जिसे मनुष्य सबसे बड़ा मानता है, जिस पर निर्भर रहता है और जिसके साथ वह सम्बन्ध स्थापित कर सकता है अथवा सम्बन्ध स्थपित कर लिया है।''

5.4 मानव जीवन में धर्म का महत्व

1933 में महात्मा गाँधी ने मानव जीवन में धर्म को एक महान शक्ति बताया है और कहा-''धर्म वह शक्ति है जो व्यक्ति का बड़े-बड़े संकट में ईमानदार बनाये रखती है और यह इस संसार में दूसरे में भी व्यक्ति की आशा का अन्तिम सहारा है।'' मानव जीवन में धर्म के निम्न कार्य बताये जा सकते हैं-

- धर्म व्यक्ति का व्यक्तित्व एव अस्तित्व को सुनिश्चित करता है।
- धर्म जीवन को आधार प्रदान करता है।
- यह मानव मस्तिष्क को शान्ति देता है और हृदय में आशा का संचार करता है।
- धर्म मानव जीवन को मानसिक दृढ़ता प्रदान कर नैतिक रखता है।
- यह मानव समूह को व्यवहारात्मक, विचारात्मक, परम्परात्मक एवं भावात्मक रूप से जोडें रहता है।

नोट

- धर्म मनुष्य को संस्कृति एवंव सभ्यता के निर्माण एवं निर्वाह का आधार प्रदान करता है।
- यह व्यक्ति को परिवार, समाज एवं देश से जोड़ता रहता है।
- धर्म ने मानव जीवन के सम्पूर्ण इतिहास को नया रूप देकर संजोया।
- धर्म मनुष्य को अध्यात्मिकता एव नैतिकता का मार्ग दिखाता है।
- धर्म मनुष्य को वास्तविक जीवन की परिस्थितियों से संघर्ष करने की शक्ति का संचार करता है।
- जीवन के अन्तिम सत्य (मोक्ष) को प्राप्त करने हेतु प्रथम सीढ़ी धर्म का ही है।
- धर्म व्यक्ति की भौतिक एंव आध्यात्मिक उन्नति को आधार प्रदान करता है। कहा भी गया है- यतो अभ्युदय-निश्श्रेयस सिद्धिः स धर्मः। (जिससे व्यक्ति की शारीरिक और आध्यात्मिक उन्नति हो वही धर्म है)
- मानव के सम्पूर्ण इतिहास पर धर्म की छाप है इसकी पुष्टि करते हुये गिर्स्बट ने लिखा है-''अमरीकी और फ्रान्सीसी क्रांन्तियों पर धर्म की छाप थी और 09 जनवरी 1905 तक रूसी क्रान्तियों पर भी प्रबल धार्मिक प्रभाव था। आधुनिक समय में महात्मा गाँधी और आचार्य विनोबा भावे के नेतृत्व में होने वाले महान सामाजिक और आर्थिक आन्दोलनों का आधार धर्म है।'' हम संक्षेप में कह सकते हैं की धर्म एक सर्वव्यापक शक्ति है जो व्यक्ति और समाज को अनेक प्रकार से प्रभावित करती है। **हुमायुँ कबीर** ने सत्य लिखा -''धर्म अनेक संघर्षों का अन्त करता है। यह उन शक्तियों का संचार करता है जो कठिनाइयों और पराजयों को स्वीकार नहीं करती है।''

5.5 धर्म और शिक्षा का सम्बन्ध

प्राचीन काल से ही धर्म शिक्षा का प्रेरणा श्रोत रहा है और शिक्षा जीवन भर चलने वाली प्रक्रिया है, जिससे व्यक्ति के व्यवहारों, प्रवृतियों एव संवेगों में परिवर्तन और सुधार होता है। यही कारण है कि यही कारण है कि धर्म और शिक्षा का सम्बन्ध व्यक्ति के जीवन के आरम्भ के साथ ही हुआ। ऐतिहासिक दृष्टि से भी शिक्षा का धर्म से संम्बन्ध है। प्राचीन काल में भी अगर हम दृष्टिपात करें तो पायेंगे कि शिक्षा का जन्म धर्म के आगोश में हुआ अपने प्रारम्भिक दौर में शिक्षा का लक्ष्य धर्म -उपदेशों का प्रचार-प्रसार करना था और धार्मिक पुस्तकें और धर्म कि बातें ही मुख्यतः शिक्षा का पाठ्यक्रम थी। भारत में वैदिक शिक्षा, बौद्ध शिक्षा, जैन शिक्षा, मुस्लिम शिक्षा आदि शब्द जहाँ धार्मिक शिक्षा के द्योतक है तो इसाई मिशनरियों ने धर्म का सहारा लिया। उस समय भी शिक्षा और घर्म का सम्बन्ध साधन और साध्य के रूप में था और शिक्षा का अर्थ था एक साधन के रूप में कार्य करते हुये धर्म विशेष का प्रचार प्रसार करना। शिक्षा की पाठ्यसामग्री धार्मिक शिक्षायें सिद्धान्त व उपदेश थे। आश्रम मठ मदरसे आदि शिक्षा के प्रमुख स्थल थे। शिक्षक का कार्य धर्म विचारक, धर्म गुरू, बौद्ध भिक्षु, पादरी, मौलवी आदि करते थे। निकोलस हैंस ने धर्म को शिक्षा का एक प्रमुख आधार माना और यह माना कि धर्म शिक्षा को अध्यात्मिक आधार प्रदान करता है और आध्यात्मिक अवयव व्यक्तित्व के भौतिक पक्ष के विरोधी नहीं वरन पूरक है। जब दोनों मिलकर काम करते है तो वे राष्ट्रीय संस्कृति का उन्नतशील युग प्रस्तुत करते है। हमारे देश में ही नहीं विदेशों में भी शिक्षा एवं धर्म की अन्योन्याश्रितता बताई गयी है। इस सम्बन्ध में बटलर का कथन है-''यदि शिक्षा को केवल निर्देश नहीं कहा जा सकता तो वह क्या है। अपनी शक्तियों को अनुभव करने उसके जटिल

नोट

विचारों कार्यों और संस्थाओं को आगे बढने में सहायता करने के विचार से जाति के आध्यात्मिक स्वतत्वों के साथ क्रमिक व्यवस्थापन शिक्षा का अर्थ होना चाहिए। वे आध्यात्मिक स्वतत्व कई प्रकार के है। लेकिन निश्चित रूप में वे पाँच प्रकार के हैं। बालक अपने वैज्ञानिक दाय, साहित्यिक दाय, सौन्दर्यात्मिक दाय, संस्थागत दाय व धार्मिक दाय का अधिकारी होता है। धर्म का शिक्षा में महत्व है क्योंकि धर्म-

- शिक्षा को मजबूत आधार प्रदान करता है।
- शिक्षा को विचारात्मक सहयोग देता है।
- दर्शन के निर्माण में सहायक होता है।
- धर्म शिक्षा को आध्यात्मिकता व नैतिकता का पुट देता है।
- शिक्षा में शिक्षक, शिक्षार्थी व शिक्षालय तीनों पर विचारात्मक प्रभाव डालता है।
- शिक्षा में संस्कृति व सभ्यता को संरक्षण देता है।
- यह शिक्षा का साध्य है और जीवन मूल्यों का सम्वाहक है।

सही मायने में धर्म शिक्षा के गुणों की मान्यता आज भी है। इसीलिये विदेश एवं भारत में अनेक आयोगों ने धार्मिक व नैतिक शिक्षा की जोरदार सिफारिश की। इग्लैण्ड के एक समाचार पत्र टाइम्स ने लिखा कि ''किसी शिक्षा को शिक्षा कहलाने के लिये धर्म को अपना आधार बनाना चाहिये।'' अमेरिका, इग्लैण्ड, यूरोप एवं भारत तथा अन्य देश जहाँ विविध प्रकार की राजनैतिक व्यवस्था है, सभी धर्म की आवश्यकता को समझ रहे है। धर्म और शिक्षा को अलग नहीं किया जा सकता क्योंकि-

- शिक्षा और धर्म दोनों का लक्ष्य मानव जीवन का उत्थान है।
- शिक्षा और धर्म का सम्बन्ध साधन और साध्य का है।
- शिक्षा और धर्म दोनों एक-दूसरे के क्षेत्र, उद्देश्य एवं लक्ष्य को प्रभावित करते है और दूर होने पर संकुचित होकर व्यापकता छोड़ देगें।
- शिक्षा और धर्म दोनों मानवीय गुणों के विकास के लिये है।

जार्ज डब्लू फिस्के ने लिखा है -''शिक्षा की अगणित परिभाषाओं में से कोई भी ऐसी नहीं है जो धर्म की शिक्षा की सम्भावना और आवश्यकता को सीखने की तहान प्रक्रिया का अंग मानने का सुझाव न देती हो। भौतिकवादी दृष्टिकोण के सिवाय सभी दृष्टिकोण से शिक्षा में धार्मिक पहलू और धार्मिक विषय वस्तु दिखाई देती है।

5.6 धर्म शिक्षा की आवश्यकता

मानव व समाज में धर्म शिक्षा का स्थान सदैव सर्वोपरि रहा हैं परन्तु शिक्षा में धर्म का दृष्टिकोण व्यापक एवं उदार होना चाहिए। धर्म आधारित जड़ता वैमनस्य को जन्म देती है। शायद इसी बात को ध्यान में रखकर भारत जैसे लोकतन्त्रात्मक देश में महात्मा गाँधी ने वर्धा शिक्षा योजना में धर्म को कोई स्थान नहीं दिया और कहा- ''हमने वर्धा शिक्षा योजना में धर्मों की शिक्षा को इसलिये स्थान नहीं दिया है, क्योंकि हमें विश्वास है कि आजकल जिस प्रकार धर्मों की शिक्षा दी जाती है और उसका अनुसरण किया जाता है उससे एकता के बजाय संघर्ष उत्पन्न होता है।'' अत: धार्मिक शिक्षा संर्कीणता से उठकर व्यापक धर्म पर आधारित होनी चाहिये। इसके महत्व को नीचे दिया जा रहा है -

- व्यक्ति का सर्वांगीण विकास को शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक विकास पर निर्भर न होकर आध्यात्मिक विकास की आवश्यकता होती है जो कि धर्म प्रदान करता है।
- धर्म के आदर व पालन से मनोवृत्ति पर प्रभाव पड़ता है और व्यक्तिगत तथा सामाजिक बुराईयों का अन्त होता है।
- भौतिकवादी युग में मनुष्य भग्नाशा, दुश्चिन्ता एवं तनाव में जीता है। धार्मिक शिक्षा मष्तिष्क को पोषण देकर स्वस्थ व संघर्षशील बनाता है।
- सभी धर्मों के आवश्यक तथ्यों को पढाने से सभी धर्मों के प्रति सहिष्णुता की भावना उत्पन्न होगी।
- धर्म आधारित शिक्षा भौतिकवादी युग एवं वैज्ञानिक प्रयोगों एवं विश्व पर बढ़ते तनाव से विश्व को बचाने एवं एक नई दृष्टिकोण देने में समर्थ होगी।
- धर्म शिक्षा व्यक्ति में सत्य सदाचार ईमानदारी आदि उत्तम गुणों का विकास करती है।
- धार्मिक शिक्षा बालकों के मूल प्रवृत्ति को शोधन कर स्वच्छ व्यक्तित्व के निर्माण में सहायक होगी।
- इससे संवेगों, भावना एवं वृत्तियों का परिष्कार कर सकते हैं।
- धर्म असभ्यता, पाशविकता एवं बर्बरता को दूर करने का साधन है।
- धार्मिक शिक्षा मन की स्थिरता, इच्छा शक्ति एवं एकाग्रता को विकसित करने में योग देती है।
- धार्मिक शिक्षा उचित आदर्शों का निर्माण कर मानव को सदाचारी बना सकती है। धार्मिक शिक्षा सामाजिक नियन्त्रण एवं एकता की उन्नति कर वसुधैवकुटुम्बकम् की भावना उत्पन्न करती है।
- धर्म शिक्षा संस्कृति एवं सभ्यता को संरक्षण प्रदान कर हस्तान्तरण में योगदान देती है।

उपर्युक्त के आधार पर हम कह सकते है कि मानव एवं समाज के जीवन में धर्म का स्थान अति महत्वपूर्ण है।

5.7 धर्म शिक्षा की चुनौतियाँ

धर्म शिक्षा अतिशीघ्र संकुचित दृष्टिकोण में आ जाती है, क्योंकि इस शिक्षा को देने के लिए अति उदार दृष्टिकोणचाहिये। धर्म आधारित शिक्षा के समक्ष ये चुनौतियां होंगी –

- एक ही संस्था में कई धर्मों की शिक्षा देना असम्भव है, क्योंकि विद्यार्थी विविध धर्मों से सम्बन्धित होते हैं।
- धार्मिक कर्मकाण्ड विद्यालय पाठ्यक्रम में सम्मिलित करना कठिन है।
- धार्मिक शिक्षा को प्राप्त करने हेतु उदार दृष्टिकोण चाहिये। संकुचित दृष्टिकोण कट्टरता को जन्म देती है।
- अध्यापक के पास धार्मिक शिक्षा देने हेतु धर्म आधारित ज्ञान की आवश्यकता होगी।
- धर्म का वैज्ञानिक ण्व तार्किक आधार को जानकर उसके अनुसार शिक्षा देना कठिन होता है।
- प्राचीन काल में भी जब शिक्षा का आधार धर्म था तब धार्मिक कट्टरता चरम सीमा पर पहुँची और धर्म के प्रचार प्रसार हेतु शिक्षा को ही हथियार बनाकर कमजोर वर्ग एवं देशों पर दबाव डाला गया जो कि दुर्भाग्यपूर्ण है।

- ''आत्मानुभूति'' द्वारा ही धर्म के प्रति आस्था उत्पन्न होती है और यह काफी दूरूह और वैयक्तिक योग्यता पर निर्भर करता है जो की कठिन है।

धर्म शिक्षा का मार्ग कठिन है और इसे शिक्षा व्यवस्था का अंग बनाने से पूर्व व्यवस्थित नियोजन करना पड़ेगा।

नोट

5.8 धर्म शिक्षा के सम्भावित मूल उद्देश्य

धर्म शिक्षा आदि काल से कई लक्ष्यों को लेकर दी जाती है पर शिक्षा के उद्देश्य निश्चित ही रहे होंगे-

- जीवन में उत्तम गुणें के विकास के लिये धर्म शिक्षा द्वारा आध्यात्मिक नैतिक एवं चारित्रिक विकास करना।
- भावनाओं का उदात्तीकरण करना। धर्म की शिक्षा द्वारा व्यक्ति में श्रद्धा, भक्ति, आदर, सम्भाव, एवं कर्तव्य निष्ठा की भावना विकसित करने का प्रयास किया जाना है।
- धर्म शिक्षा का एक प्रमुख उद्देश्य व्यक्तित्व का सन्तुलित विकास करना है और सन्तुलित विकास में चारित्रिक एवं भावनात्मक विकास भी आता है।
- धर्म शिक्षा बालक के आचरण, आदत, ज्ञान, कौशल आदि की सुरक्षा करने का उद्देश्य भी रखता है।
- संस्कृति व सभ्यता का संरक्षण करना।
- जनतान्त्रिक मूल्यों को धार्मिक सहिष्णुता द्वारा जीवित रखना व उत्पन्न करना।
- बालकों में वसुधैवकुटुम्बकम् की भावना उत्पन्न करना।
- शिक्षा व्यवस्था को सम्पूर्णता प्रदान करना। सामाजिक पतन से मानव प्रजाति की रक्षा करना।
- नैतिक उत्थान द्वारा आत्मानुशासन की भावना विकसित करना।

5.9 शिक्षा में धर्म का सम्भावित रूप

शिक्षा में धार्मिक पुट की व्यवस्था आदिकाल से रही है। परन्तु जनतन्त्र के दौर में विश्व के विभिन्न देश धर्म को शिक्षा व्यवस्था में सम्मिलित करने में सतर्क हो गये है। भारत प्रभुत्व सम्पन्न, लोकतन्त्रात्मक, धर्म निरपेक्ष और समाजवादी राष्ट्र है। धर्म निरपेक्ष शब्द 42वें संशोधन (1976) द्वारा जोड़ा गया। राज्य का किसी भी विशेष धर्म से कोई लगाव नहीं होता बल्कि सभी धर्मों को वह समान रूप से महत्व देता है। हमारे संविधान की 29वीं अनुच्छेद में हमें धार्मिक स्वतंत्रता दी है पर हमारा शासन धर्म निरपेक्ष है। अत: घोषित किया गया कि किसी भी प्रकार की धार्मिक शिक्षा पूर्णतया सहायता प्राप्त विद्यालयों में नहीं दी जायेगी। इस प्रकार भारत जैसे अधिकांश देश अपनी शिक्षा व्यवस्था में धर्म को सम्मिलित करने में निहितार्थ तलाशते रहे। यूरोप का इतिहास भी धार्मिक कट्टरता के रंग से रंगा है तो भारत में भी आदिकाल से ही धार्मिक संघर्ष होते आये हैं। परन्तु संविधान में धर्म और शिक्षा के आपसी सम्बंध की दृष्टि से अनुच्छेद 28 में कहा गया-

- राज्य निधि से पूरी तरह से पोषित शिक्षा संस्थान में कोई धार्मिक शिक्षा नहीं दी जायेगी।
- खण्ड (1) की कोई बात ऐसी शिक्षा संस्था पर लागू नहीं होगी। जिसका प्रशासन राज्य करता है, किन्तु जो किसी ऐसे विन्यास या न्यास के अधीन स्थापित हुयी है, जिसके अनुसार उस संस्था में धार्मिक शिक्षा देना आवश्यक है।

नोट

- राज्य से मान्यता प्राप्त या राज्य निधि से सहायता पाने वाली शिक्षा संस्था में उपस्थित होने वाले किसी व्यक्ति को ऐसी संस्था में दी जाने वाली धार्मिक शिक्षा में भाग लेने के लिये या किसी ऐसी संस्था में या उससे संलग्न संस्था में की जाने वाली धार्मिक उपासना में उपस्थित होने के लिये तब तक बाधय नहीं किया जायेगा जब कि उस व्यक्ति ने अनुमति न दे दी हो।
- अनुच्छेद 29(2) राज्य द्वारा पोषित या राज्य निधि से सहायता पाने वाली किसी संस्था में किसी भी नागरिक को केवल धर्म, मूलवंश, जाति, भाषा या इसमें से किसी के आधार पर वंचित नहीं किया जायेगा।
- अनुच्छेद 30(1) धर्म या भाषा पर आधारित सभी अल्पसंख्यक वर्गों को अपनी रुचि की शिक्षा संस्थाओं की स्थापना और प्रशासन का अधिकार होगा।
- अनुच्छेद 30(2) शक्षा संस्थाओं में सहायता देने में राज्य धर्म आधारित विभेद नहीं करेगा।

इन सभी से स्पष्ट होता है कि राज्य की कोई नीति व्यक्ति और उसका धार्मिक अधिकार के बीच बाधा नहीं बन सकती, परन्तु शिक्षा व्यवस्था के पुनव्यवस्थापन के लिये धर्म शिक्षा की व्यवस्था की बात सभी आयोग करते रहे है। राज्य की तटस्थ नीति का अभिप्राय साम्प्रदायिक दृष्टि से सब में सद्भाव मेल मिलाप बनाये रखना है। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् 1948-49 में डा. राधाकृष्णन की अध्यक्षता में राधाकृष्णन आयोग गठित हुआ। इस आयोग ने साफ शब्दों में धार्मिक व नैतिक शिक्षा की जरूरत को समझते हुये अनेक सुझाव दिये।

- **राधाकृष्णन आयाग के विचार हिन्दु और मुस्लिम**- काल में धर्म का शिक्षण शिक्षा के लिये आवश्यक अंग था और यह सामाजिक जीवन के लिये उपयोगी माना जाता था। अंग्रेजों नें तटस्थता की नीति अपनाकर धार्मिक शिक्षा को कोई स्थान नहीं दिया यद्यपि भारत धर्म निरपेक्ष राज्य है पर धर्म की उपेक्षा नहीं करता और इन विचारों को व्यक्त कर आयोग ने धार्मिक शिक्षा के बारे में निम्न सुझाव दिये-
- सब शिक्षा संस्थाओं को अपना काम कुछ मिनट का मौन ध्यान के बाद प्रारम्भ करना चाहिये।
- बी.ए. से पहले वर्ष में बुद्ध, कन्फ्यूशियस, जोरेस्टर, सुकरात, ईसा, शंकराचार्य, रामानुज, माधावाचार्य, मुहम्मद, कबीर, नानक, गांधी आदि महान धार्मिक नेताओं की जीवनियां पढ़ी जाए।
- दूसरे वर्ष में संसार की धार्मिक पुस्तकों से कुछ मानवतावादी चरित्रों के आदर्शों का अध्ययन किया जाना चाहिये।
- तीसरे वर्ष में धर्म के दर्शन की मुख्य समस्याओं का अध्ययन किया जाना चाहिये।
- **कोठारी आयोग के विचार**- भारत ने धर्म निरपेक्ष नीति को ग्रहण किया है। इस नीति को अपनाने का अर्थ है राजनैतिक आर्थिक और सामाजिक मामलों के सभी नागरिकों को वह चाहे किसी भी धर्म के मानने वाले हो समान अधिकार प्राप्त होगा, किसी भी सम्प्रदाय के साथ न तो कोई पक्षपात किया जायेगा और उसके साथ कोई भेदभाव नहीं किया जायेगा, और राज्य के विद्यालयों में धार्मिक सिद्धान्तों की शिक्षा नहीं दी जायेगी। परन्तु इस प्रकार में समाज में धार्मिक शिक्षा और धर्मों के बारे में शिक्षा में भेदभाव करना पड़ता है। शिक्षा आत्मा की अनन्त खोज से सम्बन्धित है जिसकी विभिन्न धर्मों द्वारा खोज की जाती है। अत: भारत जैसे अनेक धर्म वाले देश में किसी एक धर्म की शिक्षा नहीं

दी जा सकती वरन् सभी धर्मों के सहिष्णुतापूर्ण अध्ययन को बढ़ावा दे वरन् सहिष्णुतापूर्ण सभी धर्मों के अध्ययन को प्रश्रय दे। आयोग ने अपनी रिपोर्ट में लिखा-

- हमारा यह सुझाव है कि प्रत्येक प्रमुख धर्म से सम्बंधित चुनी हुयी जानकारी देने वाला एक पाठ्यक्रम स्कूलों एवं कालेजों में प्रथम उपाधि तक प्रारम्भ किये जाये और नागरिकता सम्बंधी पाठ्यक्रम में या सामान्य शिक्षा के एक भाग के रूप में सम्मिलित किया जाना चाहिये। यह विषय के महान धर्मों पायी जाने वाली मूलभूत समानताओं को भी स्पष्ट करे और यह देश के सभी भागों में एक जैसा हो।
- **हीथ कोट ने स्पष्ट कहा है**- ''सिद्धान्त में धर्म और शिक्षा को भले ही एक-दूसरे से अलग कर दिया जाये पर वास्तव में ऐसा विचार असम्भव है। शिक्षा और धर्म का उद्देश्य और लक्ष्य वास्तव में एक ही है। सच्ची शिक्षा का आधार धर्म है और शिक्षा को धर्म से अलग करने का प्रयास उसके क्षेत्र, उद्देश्य और लक्ष्य को सीमित करना है।'' इसी तथ्य को स्पेंस ने भी स्पष्ट किया- ''यदि किसी बालक या बालिका को इस तथ्य का ज्ञान नहीं कराया कि जीवन के बारे में एक धार्मिक दृष्टिकोण भी मौजूद है, तो उसे ठीक तरह से शिक्षित नहीं कहा जा सकता है।''

नोट

इस सम्बंध मे रॉस के ये शब्द सारगर्भित है-'आज अधिकाधिक विचारशील लोगों का विश्वास यह हो गया है कि यदि हम शिक्षा के द्वारा उच्च कोटि की सभ्यता का निर्माण करना और उसको बनाये रखना चाहते है, एवं कुछ समय के बाद होने वाले पशुता के प्रदर्शन से उसकी रक्षा करना चाहते हैं, तो शिक्षा को धर्म पर आधारित किया जाना आवश्यक है।''

5.10 धार्मिक शिक्षा की विषय सामग्री

भारत जैसे विविध धर्मों के देश में विद्यार्थियों की धार्मिक शिक्षा में क्या पढ़ाया जाये इसका समाधान गांधी जी ने यह कहकर किया कि- ''मेरे लिये नैतिकता, सदाचार और धर्म पर्यायवाची शब्द है। नैतिकता के आधारभूत सिद्धान्त सब धर्मों के समान है। इनको बालकों को निश्चित रूप से पढ़ाया जाना चाहिये और इसको प्र्याप्त धार्मिक शिक्षा समझा जाना चाहिये।'' आयोगों व समितियों ने निम्नलिखित सुझाव दिये-

धार्मिक शिक्षा समिति 1944 के सुझाव- इस समिति के अध्यक्ष लाहौर के विशप बार्ने थे, और 1946 में समिति ने सुझाव दिया।

- धार्मिक व नैतिक व आध्यात्मिक मूल्यों को स्थान व पाठ्यक्रम का अभिन्न अंग बनाया जाये।
- धर्मों की सम्मति से सामान्य नैतिक व आध्यात्मिक सिद्धान्तों का शैक्षिक कार्यक्रम तैयार करें।

विश्वविद्यालय आयोगेग 1950 के सुझाव

- विद्यालय स्तर पर - श्रेष्ठ कहानियों व धार्मिक सिद्धान्तों को समावेशित करें।
- महान व्यक्तियों की श्रेष्ठ भावनाओं व जीवनी को समावेशित किया जाये।

धार्मिक व नैतिक शिक्षा समिति 1959 का सुझाव - 1960 में प्रस्तुत इस रिपोर्ट में यह सुझाव दिये-

- शिक्षा के सब स्तर में धर्मों के आधारभूत विचारों की शिक्षा तुलनात्मक विधि से दी जाये।
- मानसिक विकास के अनुसार आध्यात्मिक सिद्धान्तों का शिक्षण।

नोट

- धार्मिक व नैतिक पुस्तकों को तैयार करें।
- प्राथमिक स्तर पर सेवा भावना की उत्पत्ति सप्ताह के दो घण्टे नैतिक शिक्षा दी जाये।
- मुख्य धर्मों के उपदेशों व कला को पढ़ाया जाये।
- माध्यमिक स्तर पर - सभी धर्मों के सिद्धान्तों का शिक्षण किया जाये।
- सेवा भावना विद्यार्थियों में जाग्रत की जाये।
- विश्वविद्यालय स्तर पर डिग्री कोर्स के लिये- विभिन्न धर्मों के सामान्य अध्ययन को अनिवार्य बनाया जाये।
- पवित्र ग्रन्थों को पढ़ाया जाये।
- स्नात्कोत्तर स्तर पर तुलनात्मक अध्ययन कराया जाये।

शिक्षा आयोग 1964 के सुझाव

- छात्रों को मूल्यों की शिक्षा दी जाये।
- विद्यालय के कार्यक्रम का अभिन्न अंग बनाया जाये।
- सब धर्मों को उचित स्थान देकर सबके आदर्श सम्मिलित किये जाये। मूल्य सम्बन्धित शिक्षण के साथ महान धर्मों का सिद्धान्त पढाया जायें।
- विश्व विद्यालय स्तर पर विद्यार्थियों को कुशल नागरिक बनाने के साथ मानसिक विकास के अनुसार आध्यात्मिक सिद्धान्तों का शिक्षण किया जाये। मुख्य धर्मों के उपदेशों व कला को पढ़ाया जाये।

विश्वविद्यालय स्तर पर डिग्री कोर्स के लिये- विभिन्न धर्मों के सामान्य अध्ययन को अनिवार्य बनाया जाये। पवित्र ग्रन्थों को पढ़ाया जाये। स्नात्कोत्तर स्तर पर तुलनात्मक अध्ययन कराया जाये।

प्रथम वर्ष में महान धार्मिक नेताओं की जीवनियां पढ़ायी जाये द्वितीय वर्ष में धार्मिक ग्रन्थों में से सार्वभौमिक महत्व के चुने भागों को पढ़ाया जाये। तुलनात्मक धर्म विभागों द्वारा उपयुक्त धार्मिक साहित्य पढ़ाया जाये।

5.11 शिक्षा की विधियां

धार्मिक व नैतिक शिक्षा की विधियों के बारे में अपना मत व्यक्त करते हुये शिक्षा आयोग ने लिखा है- ''हमारा विश्वास है कि यह शिक्षा प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों विधियों से दी जानी चाहिये हम अप्रत्यक्ष प्रभाव के कार्यों को अधिक महत्व देते है। ''

प्रत्यक्ष विधियाँ

शिक्षा आयोग के अनुसार- समय तालिका में निर्धारित घण्टे- मोहियुद्दीन के अनुसार-''धार्मिक नैतिक व पौराणिक कहानियां एवं महान धार्मिक व सामाजिक कथाओं का समावेश।''

शिक्षा अयोग के अनुसार-''नैतिक पुस्तकों, धर्म ग्रन्थों व धार्मिक समस्याओं व तुलनात्मक धर्म का अध्ययन। ''

मोहियुद्दीन के अनुसार -''शिक्षक द्वारा धार्मिक व नैतिक सिद्धान्तों पर विचार-विमर्श करवाना व शिक्षक द्वारा इन समस्याओं का निवारण।''

- राधाकृष्णन आयोग के अनुसार- ''प्रात:कालीन मौन चिन्तन मौन प्रार्थना, धार्मिक संगीत व धार्मिक गीतका गायन।''
- प्रात:कालीन सभा- हुमायूँ कबीर ने लिखा है- ''दैनिक सभा सम्मिलित उपासना या महान ग्रन्थों के वाचन के द्वारा छात्रों को जीवन के कुछ उच्चतम मूल्यों के सम्पर्क में आने और मानवीय आदर्शों एव महत्वाकांक्षाओं की मूलभूत एकता को समझने का अवसर देती है।
- धार्मिक समारोह- सभी विद्यालयों में महान प्रवर्तक के जन्मोत्सव और सभी धर्मों के धार्मिक उत्सव गुणात्मक वातावरण का निर्माण करने में सहायता करती है। सुल्तान मुहीउद्दीन ने लिखा-''ये उत्सव धार्मिक मावना को प्रोत्साहित करने और जीवित रखने में एवं धार्मिक वातावरण का निर्माण करने में सहायता देते है।''
- विद्यालय में सामुदायिक वातावरण – विद्यालय में सामुदायिक क्रिया कलाप कराये जाने चाहिये जिससे कि परस्पर समझ व प्रेम पनपे खेल का मैदान उत्तम वातावरण दे सकता है। **रॉस** के अनुसार 'ऐसा विद्यालय पर्वत के शिखर पर मौजूद प्रकाश की तरह होगा, जिसे छिपाया नहीं जा सकता है।''
- **सामूहिक कार्यों को बढ़ावा**- शिक्षा आयोग ने विभिन्न प्रकार के समहू कार्य समाज सेवा कार्य अनुभव, सामूहिक खेलकूद का आयोजन की विद्यालयों से सिफारिश की। **रोसेक** ने लिखा है- ''अध्ययनों से सिद्ध होता है कि समूह में ही हमारे धार्मिक मूल्यों दृष्टिकोणों और आदर्शो का सर्वोत्तम प्रकार से विकास होता है।''
- **विद्यालय का गुणात्मक वातावरण**- धार्मिक व नैतिक सहिष्णुता की उत्पत्ति के लिये विद्यालय का वातावरण महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। यह तभी सम्भव है, जबकि विद्यालय में ऐसा वातावरण बने। महायोगी श्री अरविन्द ने स्पष्ट किया कि ''चाहे धर्म की किसी रूप में स्पष्ट शिक्षा दी जाये या नहीं पर ईश्वर की मानवता के लिये देश के लिये और इन सबमें अपने जीवित रहने के लिये धर्म के इस सार को प्रत्येक विद्यालय का आदर्श माना जाना आवश्यक है।'' विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग ने स्पष्ट कहा है कि ''यदि हमारी शिक्षा संस्थायें छात्रों को धार्मिक बल प्रदान करना चाहती है, तो उनमें सादगी और पवित्रता का वातावरण होना चाहिये, जो जीवन पर स्थायी प्रभाव डालता है।''

नोट

5.12 भारतीय संस्कृति में लिंग का विचार

भारतीय संस्कृति

भारतीय साहित्य एवं संस्कति में ''शिक्षक'' का एक विशिष्ट स्थान हैं। इसलिए उसे आचार्य या गुरू की संज्ञा दी गई है। जन्मदात्री माता तथा पालन पोषण करने वाले पिता के समकक्ष ही शिक्षक को आचार्य देवोभव कह कर मन किया गया है। ''आचार्य'' ही आचार व्यवहार की समुचित शिक्षा देकर बालक को संस्कारिता बनाता है।

शिक्षा के क्षेत्र में संस्कृति से अभिप्राय किसी समाज में विास करने वाले व्यक्तियों की जीवन पद्धति से है। यह जीवन का श्रृंगारात्मक पक्ष है, जिसमें समस्त भौतिक वातावरण एवं अभौतिक मूल्यों, विचारों मान्यताओं आदि को सम्मिलित किया जाता है। यह मनुष्य के सामाजिक और शारीरिक

नोट

आवश्यकताओं का विशेष समंजन है। संस्कृति मनुष्य का वह व्यवहार है, जो उसके द्वारा सीखा जाता है तथा शेष लोगों द्वारा स्वीकार किया जाता है। संस्कृति के अधिगम की प्रक्रिया में शिक्षा का गहन योगदान है। शिक्षा के आभाव में कोई भी समाज अपनी संस्कृति का हस्तान्तरण एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक नहीं कर पाता है। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि संस्कृति को शिक्षा ही प्रभावित करती है, बल्कि शिक्षा को संस्कृति भी प्रभावित करती है।

संस्कृति का अर्थ

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह समाज से पृथक रहकर अपना अस्तित्व नहीं बनाए रख पाता है। इसके लिए उसे समाज की धारा से जुड़ना पड़ता है, जो कि समाज को निश्चितता एवं स्थायित्व प्रदान करती है। इसी पूर्ण, स्थायी एवं निश्चित व्यवस्था को संस्कृति कहते हैं। इससे समाज के आधारभूत विचार यथा-रीति रिवाज, परम्पराएँ, मशीन, उपकरण, नैतिकता कला, विज्ञान, धर्म विश्वास, सामाजिक संगठन, आर्थिक और राजनैतिक व्यवस्था आदि को सम्मिलित किया जाता है।

संस्कृति शब्द का अंग्रेजी रूपान्तरण "Culture" है, जो कि लैटिन शब्द ''कल्बुरा'' से बना है, जिसका अर्थ है - ''सुधारी हुई दशा'' अर्थात् संस्कृति मनुष्य के सीखे गए अच्छे अनुभवों की परिणति है। आदिमकाल में आज तक मनुष्य अपने अस्तित्व एवं सामंजस्य के लिए प्रकृति के साथ निरंतर संघर्ष करता आया है, जिसके ऱलस्वरूप प्राप्त सुखानुभूतियों का योग संस्कृति है। जिसे एक पढ़ी अगली पीढ़ी तक हस्तांतरित करती रहती है। सामाजिक जीवन की इस हस्तांतरण प्रणाली में मनुष्य मूर्त एवं अमूर्त दोनों ही प्रकार के व्यवहार को हस्तांतरित करता हैं तथा अपने जीवन-यापन के लिए एक कृत्रिम वातावरण का सृजन करता है।

संस्कृति की परिभाषा

टैक्लर के अनुसार ''संस्कृति मनुष्य द्वारा समाज के सदस्य के रूप में ज्ञान विश्वास कला, नैतिकता, कानून, रिवाज तथा अन्य योग्यताओं को अर्जित करने की एक जटिल प्रक्रिया है।''

वाल्टर के अनुसार ''संस्कृति का कार्य तथा विचार सीखी गयी एक पद्धति है। जो कि समूह के सदस्यों को प्रदान की जाती है और जिससे व्यक्ति के जीवन की महत्वपूर्ण समस्याओं का एक परीक्षित समाधान प्राप्त होता है। इस प्रकार संस्कृति मनुष्य का एक महत्वपूर्ण तथा विशिष्ट लक्षण है।''

वुडवर्थ के अनुसार ''संस्कृति एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित की जाने वाली प्रक्रिया है, जिसमें कानून, नैतिकताएँ, ज्ञान, विश्वास तथा संचार की कला को सम्मिलित किया जा सकता है।''

इस प्रकार स्पष्ट है कि संस्कृति उन सभी भौतिक एवं अभौतिक वस्तुओं से संबंधित प्रत्यय हैं, जो समाज के पास उपलब्ध है। दूसरे शब्दों में जीवन-यापन के विशिष्ट ढंग जिसमें बौद्धिक एवं भौतिक दोनों प्रकार के तथ्यों का समावेश करता है संस्कृति के माध्यम से ही एक समाज की दूसरे समाज से अलग पहचान की जाती है। यद्यपि प्रत्येक समाज की अपनी संस्कृति होती है तथापि कुछ सामान्य कारक सभी समाजों की संस्कृति में एक समान होते है।

भारतीय संस्कृति

प्रत्येक देश की अलग पहचान उसकी संस्कृति के कारण होती है। चूँकि प्रत्येक देश के नागरिकों का व्यवहार उनकी संस्कृति द्वारा निर्धारित मूल्यों के अनुरूप होता है, जो कि सम्पूर्ण राष्ट्र के व्यक्तित्व का प्रदर्शन करते है। संसार में भारतीय संस्कृति को सबसे उच्च स्तर का होना स्वीकार किया गया है, जिसका

मूलाधार यहाँ की संस्कृति के शाश्वत एवं चिरस्थायी मूल्य है। भारतीय संस्कृति मनुष्य और समाज के मध्य संबंध का एक सुव्यवस्थित आदर्श है, जिसमें परिवर्तनों को स्वीकार करने की अदम्य क्षमता है।

प्राचीन भारतीय संस्कृति का निर्माण राजनैतिक, आर्थिक आधार की बजाए धार्मिक आधार पर हुआ है। इसी कारण जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में धर्म की प्रावधान रही है, जिसमें वृहत्तर आध्यात्म ज्ञान की ओर संकेत है। यही कारण है कि भारतीय संस्कृति कर्तव्यनिष्ठा के भाव से सदैव ओत-प्रोत रही है। इसका अभिप्राय है कि फल की अपेक्षा कर्तव्यभाव से कार्य करना, जिसमें त्याग, तपस्या और बलिदान का महत्व है। हमारी प्राचीन वर्ण-व्यवस्था और आश्रम व्यवस्था का आधार कर्तव्य ही रहा है। भारतीय इतिहास का सूक्ष्म अवलोकन करने से निष्कर्ष प्रस्तुत होता कि भारत का इतिहास आक्रमण और विजय-पतन तथा उत्थान व सुषप्ति जागरण का अद्वितीय इतिहास है। भारत का इतिहास विश्व-परिदृश्य प्रस्तुत करता है, क्योंकि सोने की चिड़िया के नाम से प्रसिद्ध भारत अनेक धान-लोलप विदेशी आक्रमणकारियों से जुड़ा रहा है। सामान्यत: इन आक्रमणकारियों की तीन मांगों में विभाजित किया जा सकता है - प्रथम भाग में - उन आक्रमणकारियों का समावेश होता है, जिन्होंने यहाँ के मूल निवासियों को हराकर यही राज्य किया और धीरे-धीरे अपनी संस्कृति व स्वतंत्रता खोकर यहाँ की संस्कृति में ही घुल मिल गए। द्वितीय प्रकार के - आक्रमणकारी वे थे, जिन्होंने विश्व विजय की अभिलाषा के वशीभूत होकर भारत पर आक्रमण किया और उद्देश्य पूर्ति हो जाने पर यहाँ से स्वदेश वापस चले गए। तृतीय प्रकार के आक्रमणकारी वे थे जिन्होंने यहाँ पर राज्य करते हुए भारत की संस्कृति तथा उस पर आधारित मूल्यों, शिक्षा व्यवस्था तथा सामाजिक स्वरूप में आमूल-चूल परिवर्तन किया एवं अपनी स्वतंत्रता बनाए रखी ये आक्रमणकारियों की संस्कृति का भी भारत की संस्कृति पर प्रभाव पड़ा तथा एक नवीन मूल्य लेकर संस्कृति सृजित हुई। यह न तो आक्रमणकारियों की संस्कृति की हू-ब-हू नकल ही थी और न ही भारतीय संस्कृति, बल्कि दोनों संस्कृतियों का एक समन्वित रूप प्रस्तुत हुआ। इससे आध्यात्मवादी दर्शन के स्थान पर भौतिकवाद या यर्थाथवाद का प्रादुर्भाव हुआ। विज्ञान के कारण ईश्वर के अस्तित्व पर संदेह किया जाने लगा।

भारतीय संस्कृति सदैव से ही संचयशील और सहिष्णु बनी रही है। इसके मूल में भारतीय समाज की आध्यात्मिकता दृष्टिगोचर होती है, जिससे भारतीय सांस्कृति विश्व की श्रेष्ठतम संस्कृति बनी हुई है। प्राचीन भारतीय संस्कृति का प्रतिदर्श आधुनिक भारतीय समाज में भी मिलता है। यद्यपि विज्ञान के अविष्कारों तथा पश्चिम के अंधानुकरण से यह संस्कृति भी अपना स्वरूप परिवर्तित कर रही है। तथापि हमारे प्रचलित संवैधानिक मूल्य-समानता, सामाजिक न्याय, भ्रातत्वभाव, धर्मनिरपेक्षता इस संस्कृति की विशाल हृदयता की ही परिणति हैं, जिसमें विश्व मानवता का गहरा भाव जुड़ा हुआ है।

नोट

5.13 शिक्षा का संस्कृति पर प्रभाव

बालक की शिक्षा में परिवार उसकी प्रथम पाठ्शाला है तथा अभिभावक प्रथम शिक्षक/बालक को अपने जीवनयापन के लिए तथा संचार के युग में संकुचित होते विश्व से संबंध बनाए रखने के लिए परिवार से बाहर भी व्यवहार करना पड़ता है। सभ्यता के विकास के साथ-साथ श्रम-विभाजन की प्रक्रिया और अधिक जटिल होती गयी, परिणामत: सीखने की प्रक्रिया में ''विद्यालय'' व्यवस्था की शुरूआत हुई। इससे परिवार तथा परिवार के बाहर की व्यवस्था प्रक्रियाओं तथा संबंध निर्धारण की प्रक्रिया की जानकारी दी जाने लगी। यही मुख्य कारण है जिससे संस्कृति का प्रसार अधिक तीव्र हुआ है। इस हेतु शिक्षा का मूल उद्देश्य बालक को सामुदायिक जीवन के लिए तैयार करना जिसे व्यक्तित्व के विकास की संज्ञा दी जा सकती है। सामुदायिक जीवन की शैली, जिसे बालक शिक्षा द्वारा ग्रहण करता है, उसे समाज-शास्त्र की भाषा में ''संस्कृति का हस्तान्तरण'' कहा जाता है।

नोट

संस्कृति और शिक्षा, दोनों ही घटक एक-दूसरे के पूरक हैं, जिनकी सम्बद्धता मूलत: तीन स्तरों पर है - प्रथम, शिक्षा संस्कृति की वाहक है अर्थात् शिक्षा के माध्यम से ही संस्कृति का हस्तांतरण एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी के लिए संभव हो पाता है। द्वितीय, शिक्षा संस्कृति की प्रसारक है अर्थात् शिक्षा के द्वारा ही संस्कृति का विस्तार एवं प्रसार समाज के सदस्यों में हो पाता है। तृतीय, शिक्षा संस्कृति की निर्धारक है। यही सांस्कृतिक परिवर्तनों आदि की दृष्टि से महत्ती भूमिका निभाती है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि शिक्षा द्वारा संस्कृति को जीवित रखा जा सकता है तथा संस्कृति का विकास किया जाना संभव हो पाता है। इसका आशय है कि शिक्षा और संस्कृति एक-दूसरे के पूरक है और दोनों एक-दूसरे को प्रभावित करते है।

शिक्षा व्यवस्था का संस्कृति पर प्रभाव निम्नलिखित विवेचन से स्पष्ट है–

शिक्षा संस्कृति की निरन्तरता में सहायक - संस्कृति किसी भी मानव जाति के इतिहास का विशुद्ध सार है। यह उन नीतियों और परम्पराओं से मिलकर बनती है, जिनमें उस जाति के दीर्घ समय के अनुभवों का परिणाम निहित होता है। अत: किसी जाति का अपनी संस्कृति से संबंध समाप्त होना विनाशकारी होता है। ऐसी स्थिति में समाज में ठहराया आ जाता है तथा वह जंगलीपन की ओर बढ़ने लगता है। इस स्थिति में शिक्षा ही एक मात्र उपाय है जो संस्कृति को निरन्तरता प्रदान करता है तथा संस्कृति के वर्तमान स्वरूप का अस्तित्व बनाए रखकर उसे विकास की ओर अग्रसर करता है।

संस्कृति के हस्तांतरण में सहायक - व्यक्ति समाज के सदस्य के रूप में संस्कृति को सीखता है और उसे आगामी पीढ़ी को हस्तान्तरित करता है। इस कार्य में शिक्षा, संस्कृति को अपूर्व सहायता करती है। यह सत्य है कि व्यक्ति अज्ञात रूप से संस्कृति की अनेक बातें सीखता है, किन्तु अधिकांश भाग अपने अध्यापकों से विद्यालयी व्यवस्था में जानता है।

संस्कृति के परिवर्तन में सहायक - बालक अपनी वृद्धि के साथ-साथ संस्कृति के प्रचलित रीति-रिवाजों, आदतों, नियमों आदि को सीखता रहता है। वह इसके लिए अपने अभिभावकों, परिवार के सदस्यों और विद्यालय के अध्यापकों पर निर्भर रहता है। इन सभी से सीखे गये व्यवहार से ही वह अपने व्यवहार का निर्धारण करता है अर्थात् अधिगम (शिक्षा) द्वारा ही संस्कृति में आने वाले परिवर्तनों को बालक अपने व्यवहार में उतारता है।

व्यक्तित्व के विकास में सहायक - बालक के व्यक्तित्व के सम्पूर्ण विकास का कार्य शिक्षा संस्कृति की सहायता से ही करती है। इसका कारण शिक्षा को संस्कृति से अधिगम उपकरण प्राप्त होना है, जिन्हें बालक के बौद्धिक, चारित्रिक, संवेगात्मक और आध्यात्मिक विकास के लिए प्रयुक्त करती है।

व्यक्ति के सांस्कृति कवासि में सहायक - बालक जन्म के समय न तो सामातजिक होता है और नहीं असामाजिक। उसके व्यक्तिव में वह सीखने के आधार पर संस्कृति का ज्ञानार्जन कर अपने व्यवहार का निर्धारण करता है। वह शिक्षा के माध्यम से संस्कृति का अधिकाधिक अधिगम करता है, जिससे उसके व्यक्तित्व के सांस्कृतिक विकास में सहायता मिलती है।

शिक्षा पर संस्कृति का प्रभाव - यह पूर्व में ही विवेचित कर चुके हैं कि शिक्षा और संस्कृति एक-दूसरे के लिए पूरक के रूप में है। शिक्षा जिस प्रकार संस्कृति के संरक्षण एवं प्रोत्साहन में अपना योगदान देती है, उसी भाँति संस्कृति भी शिक्षा के स्वरूप के निर्धारण में अपना योग प्रदान करती हैं, जो निम्नलिखित प्रकार से स्पष्ट है–

नोट

शिक्षा के अर्थ एवं उद्देश्यों पर प्रभाव – यह सत्य है कि शिक्षा द्वारा व्यक्ति के विवकास की प्रक्रिया निर्धारित होती है। इसका अभिप्राय प्रचलित व्यवस्थाओं के अनुरूप लगाया जाता है। समाज की आवश्यकताएँ, आकांक्षाएँ, शिक्षा के अर्थ को प्रभावित करती है। जिस समाज में संस्कृति का जो स्वरूप अस्तित्व में होगा, वहाँ शिक्षा का अर्थ भी उसी भाँति ही प्रचलित रहेगा। जिस समाज में आध्यात्मिकता पर अधिक बल होगा, वहाँ शिक्षा का प्रमुख कार्य बालक में आध्यात्मिक शक्तियों का विकास करना होगा तथा जिस समाज में भौतिकता का अधिक प्रचलन होगा, वहाँ उत्पादकता का विकास करना शिक्षा का प्रमुख कार्य होगा।

पाठ्यक्रम पर प्रभाव – संस्कृति शिक्षा के लिए प्रचलित पाठ्यक्रम को भी प्रभावित करती है, इसका कारण समाज के उद्देश्यानुकूल ही पाठ्यक्रम का निर्धारण किया जाना है। पाठ्यक्रम के आधार तत्व शिक्षा के उद्देश्यों को ध्यान में रखकर ही निर्धारित किए जाते है। इसका तात्पर्य है कि विद्यालय में बालकों को पढ़ायी जाने वाली विषय-वस्तु समाज की आवश्यकतानुकूल एवं संस्कृति के अनुसार होती है।

शिक्षण विधियों पर प्रभाव – शिक्षण विधि अध्यापक तथा छात्र के मध्य संबंध स्थापित करने की प्रक्रिया है। प्रत्येक विद्यालय में छात्र और अध्यापक के मध्य संबंध वहाँ प्रचलित सांस्कृतिक परिस्थितियों के अनुसार ही होते हैं। यह सर्वविदित तथ्य है कि प्रत्येक संस्कृति समयानुकूल अपने स्वरूप में परिवर्तन करती रहती है। इस परिवर्तन को आधार स्वीकार करके ही अध्यापक अपने छात्रों के साथ तथा छात्र अपने अध्यापक केन्द्र बिन्दु हुआ करता था, वहीं आज जनतांत्रिक सामाजिक व्यवस्था के प्रचलन के कारण बालक और अध्यापक दोनों ही महत्वपूर्ण पक्ष बन गए है।

विद्यालय पर प्रभाव – विद्यालय को समाज का लघु रूप माना जा सकता है। किसी स्थान विशेष के समाज और संस्कृति के अध्ययन के लिए विद्यालय सर्वोपयुक्त स्थान है। विद्यालय वहाँ की संस्कृति का केन्द्र होता है। स्थान-विशेष की प्रचलित संस्कृति अर्थात् रहन-सहन, आचार-व्यवहार, खान-पान आदि का प्रत्यक्षीकरण विद्यालय में अवश्य होता है। इसका अभिप्राय है कि संस्कृति के अनुरूप ही विद्यालय में वातावरण का सृजन होता है। इसे एक सामाजिक संस्था के रूप में जाना जा सकता है।

अध्यापक और संस्कृति – विद्यालय में अध्यापक सम्पूर्ण समाज की संस्कृति का प्रतिनिधि होता है। वह संस्कृति को सजीव बनाए रखता है तथा महत्व के अुसार हस्तांतरण करता रहता है। अध्यापक का व्यवहार, उसके द्वारा दिया जाने वाला ज्ञान, स्थान विशेष की संस्कृति के अनुरूप ही निर्धारित होता है।

छात्र और संस्कृति – सांस्कृतिक व्यवस्थाओं के अनुरूप ही बालक को विद्यालय में ज्ञानार्जन एवं अध्यापकों का व्यवहार प्राप्त होता है, जिससे वह अपने व्यक्तित्व का विकास करता है। शिक्षा के उद्देश्य, प्रचलित पाठ्यक्रम, शिक्षण-विधि, अध्यापक का व्यवहार, विद्यालय का वातावरण बालक के व्यक्तित्व के परिष्करण के प्रमुख आधार हैं, जिनका निर्धारण संस्कृति से ही होता है।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि किसी भी समाज की संस्कृति, समाज के सम्पूर्ण जीवन को प्रभावित करती है तथा वह अपने अनुसार ढालने का प्रयास करती है। विज्ञान के आविष्कारों तथा तकनीकी प्रसारण ने संस्कृति में परिवर्तन की गति को तीव्र बना दिया है जिसको समाज के सदस्यों तक पहुँचाने का सबसे सफल साधन शिक्षा है। प्रत्येक समाज की शिक्षा का स्वरूप उस समाज की संस्कृति पर निर्भर करता है। शिक्षा के अभाव में कोई भी समाज न तो संस्कृति को सुरक्षित रख सकता है और न ही उसका विकास कर सकता है। शिक्षा का स्वरूप समाज की

आवश्यकताओं के अनुरूप होता है जो कि संस्कृति द्वारा निर्धारण होती हैं, अर्थात् शिक्षा और संस्कृति एक दूसरे के पूरक है।

भारतीय समाज की परम्पराएँ

नोट

व्यक्ति द्वारा प्राकृति से संघर्ष किए जाने में, वह तर्काधारित मान्य मार्ग की तलाश करता है, जिसे वह अपने जीवन को सरल एवं सरस बनाने के लिए प्रयुक्त करता है। इस प्रकार जीवन की सरलता की तलाश के ढंग को अपनाते हुए व्यक्ति धीरे-धीरे उसे अपने जीवन की स्वभाविकता में उतार लेता है तथा सामान्यत: उसे यह भान नहीं रहता कि वह एक निश्चित प्रकार का स्वाभाविक व्यवहार क्यों प्रस्तुत कर रहा है ? अर्थात् वह उस व्यवहार के तार्किक पक्ष से अनभिज्ञ रहता है। इस प्रकार अनभिज्ञ रूप से प्रस्तुत किया जाने वाला मानवीय व्यवहार ही 'परम्परा' कहलाता है।

यद्यपि 'परम्परा' शब्द को परिभाषा की सीमा में बाँधाना प्राय: कठिन है फिर भी, सामान्य रूप से उसका क्षेत्र अवश्य ही बताया जा सकता है। इसमें विचारों, मूल्यों, संस्थाओं की एक निश्चित व्यवस्था रहती है। परम्परा की अवधारणा को आधुनिकता की अवधारणा से मात्र सैद्धन्तिक आधार पर ही अलग किया जा सकता है, व्यवहारिक जीवन में दोनों सम्मिलित स्वरूप में प्रस्तुत होती हैं। **डॉ. योगेन्द्रसिंह** के अनुसार - ''परम्परा समाज की एक सामूहिक विरासत है, जो कि सामाजिक संगठन के सभी स्तरों पर व्याप्त होती है। उदाहरण के लिए मूल्य व्यवस्था, सामाजिक संरचना और व्यक्तित्व की संरचना।

इस प्रकार परम्परा सामाजिक विरासत को कहा जाता है, जिसके तीन मूलाधार हैं - मूल्यों की व्यवस्था, सामाजिक संरचना और उसके परिणामस्वरूप व्यक्तित्व की संरचना। परम्परा का समाजशास्त्रीय अर्थ सामाजिक, सांस्कृतिक और कार्यात्मक होता है। आध्यात्मशास्त्रीय दृष्टि से परम्परा का अभिप्राय उन सत्यों से है, जो अति प्राचीनकाल में अभिव्यक्त हुए थे और जो शाश्वत सत्य है। इन सत्यों में आध्यात्मिक एकता पायी जाती है। ऐतिहासिक दृष्टि से प्रत्येक परम्परा उद्विकास के बाद पतन की सीढ़ी पर पहुँचती है। परम्परा आध्यात्मिक शक्तियों में निहित होती है एवं मानव शक्तियों स परे होती है, इसलिए उनका विकास भी दैवी शक्ति पर निर्भर है। समाजशास्त्र में परम्परा का सामाजिक, सांस्कृतिक अथवा कार्यात्मक दृष्टिकोण अपनाया जाता है। परम्परा का यह अर्थ अपेक्षाकृत आधुनिक काल में विकसित हुआ है।

भारत में प्रचलित परम्परागत सांस्कृतिक प्रतिमान - परम्परा के दिये गये अर्थ के अनुसार, भारतीय परम्परा के सांस्कृतिक प्रतिमान में निम्नलिखित पहलुओं का वर्णन किया जा सकता है -

सामाजिक व्यवस्था - भारतीय सामाजिक व्यवस्था के मुख्य लक्षण जाति व्यवस्था, संयुक्त परिवार, ग्रामीण पंचायतें तथा ग्रामीण जनतंत्रीय संस्थायें हैं। परम्परागत सामाजिक व्यवस्था में सामाजिक संबंधों, स्थिति व कार्यों को निर्धारित करने के लिए अत्यन्त प्रभावशाली संरचना बनायी गयी थी, जिससे एक स्थायी सामाजिक व्यवस्था की स्थापना हुई।

अर्थव्यवस्था - भारत में आर्थिक दृष्टि से परम्परागत आय अर्जन के साधनों पर निर्भर है। यहाँ वस्तु-विनिमय का अधिक प्रचलन था। इसका प्रभाव औद्योगिकीकरण के प्रकार को अल्प करने के रूप में हुआ है।

कार्य प्रेरणा व मान्यताएँ - भारत में व्यक्ति अपने सभी कार्यों और प्रेरणाओं के लिए मान्यताएँ बनाये हुए हैं। इसमें प्राचीन भारतीय मूल्यों, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष को प्रधानता दी गयी है तथा प्रत्येक कार्य के परिणाम को पूर्व-निर्धारित परिणाम के रूप में मानते है। यह परिवर्तन की गति को कम करता है तथा नवीन साहस की ओर उन्मुखता अल्प होती है।

दैवीय शक्ति में विश्वास - यहाँ प्रचलित मूल्यों क अनुरूप प्रत्येक स्थिति को दैवीय शक्ति की अवधारणा में परिभाषित किया जाता है। व्यक्ति मूल्यों, नैतिकताओं, धार्मिकता या आध्यात्मिकता का अनुसरण दैवीय शक्ति के भय से ही करता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि भारतीय समाज में प्रचलित परम्पराएँ व्यक्ति के मानस को पूरी तरह बंधित रखती हैं तथा व्यक्ति इनसे बाहर निकलकर कार्य करने के लिए तत्पर नहीं रहता है।

नोट

परम्पराओं की महत्ता

यद्यपि 'परम्परा' शब्द हमें पौराणिकता के पर्याय के रूप में लगता है तथापि यह अपे उत्पादक स्वरूप में भी प्रस्तुत होता है तथा समाज को एक सुर्शिचत एवं स्थायित्व प्रदान करता है। समाज की संरचना को मजबूत आधार प्रदान करता है। शैक्षणिक दृष्टि से परम्पराओं की महत्ता इस प्रकार स्पष्ट है -

(1) परम्पराओं से समाज के विकास की दिशा और गति का निर्धारण होता है तथा व्यक्ति सफलतम ढंग से आगे बढ़ता है।

(2) परम्पराओं से सामाजिक नियंत्रण स्थापित होता है, जो कि अुशासन को आधार प्रदान करता है।

(3) परम्पराओं से व्यक्ति को समाज में प्रस्तुत करने वाली भूमिकाओं की जानकारी मिलती है।

(4) संस्कृति के संरक्षण को परम्पराएँ सफलतम आधार प्रदान करती हैं।

(5) परम्पराएँ मानव विकास की मानक है, जिन्हें परिस्थितियों के अनुरूप परिवर्तित कर उपयोगी बनाया जा सकता है।

शिक्षा की भूमिका - परम्पराओं के संबंध में शिक्षा को अपनी भूमिका का निर्वहन निम्नलिखित प्रकार से करना चाहिए -

(1) अध्यापकों को समाज में प्रचलित परम्पराओं की पूर्ण जानकारी रखनी चाहिए ताकि उन्हें आगे की पीढ़ी (बालकों) तक हस्तांतरित किया जा सके।

(2) शिक्षा के क्षेत्र में संलग्न व्यक्तियों को प्रचलित परम्पराओं का समय-समय पर विश्लेषण करते रहना चाहिए, ताकि परम्पराओं के नकारात्मक पक्षों के बारे में जानकारी प्राप्त कर उन्हें समाज क विकास के अनुकूल बनाया जा सके।

(3) अध्यापकों को अपने मार्ग-दर्शन में छात्रों को परम्पराओं का प्रशिक्षण प्रदान करना चाहिए।

(4) वद्यालय के वातावरण में सकारात्मक एवं आदर्श परम्पराओं को स्थापित किया जाना चाहिए, ताकि विद्यार्थी स्व-संचालित हो सकें।

(5) परम्पराओं के अनुसार विद्यालय में अनुशासन की स्थापना करनी चाहिए, जिससे विद्यार्थी स्व-संचालित हो सकें।

इस प्रकार स्पष्ट है कि शिक्षा के क्षेत्र में स्वस्थ परम्पराओं की अपनी महत्ता है, जिसके लिए संवेदनशील भाव से बालकों को उचित प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए।

5.14 समाजीकरण एवं लिंग संरचना

समाज तथा समाजीकरण में लिंग की भूमिका प्रचलित संस्कृति तथा संस्कृति के संदर्भ में

समाज तथा समाजीकरण की प्रक्रिया में स्त्री-पुरूष दोनों की ही प्रभाविता होनी चाहिए, परन्तु लिंगाधारित भेदभावों के कारण स्त्रियों को समाज में उचित स्थान प्रदान नहीं किया जाता है, जिससे

नोट

वे समाजीकरण में भी स्त्रियों से पीछे रह जाती है। परिवार, जाति तथा धर्म के साथ-साथ लिंगीय सुदृढ़ीकरण तथा समाज और समाजीकरण की प्रक्रिया में संस्कृति की भूमिका अत्यधिक महत्वपूर्ण है। संस्कृति शब्द जटिल है। इसकी अलग-अलग प्रकार से व्याख्या तथा अर्थ करने की चेष्टा की गयी हैं। संस्कृति के विषय में विवेचन निम्नांकित है -

शाब्दिक अर्थ

संस्कृति शब्द का विच्छेद निम्न प्रकार है -

+ + त्र शोधन या परिष्कृत करना

भारतीय शास्त्रों में षोडश संस्कारों का उल्लेख प्राप्त होता है जो जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त सम्पादित किये जाते है। प्रत्येक संस्कार के द्वारा मान्यता है कि व्यवहार का शोधन होता है। संस्कृति शब्द से तात्पर्य संस्कारों से है और जैस-जैसे संस्कारों की ओर बालक अग्रसर होता है वैसे-वैसे उसका समाजीकरण (Socialization) भी सम्पन्न होता है।

अंग्रेजी में संस्कृति की व्युत्पत्ति निम्न प्रकार है -

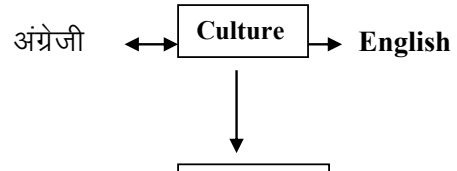

इस प्रकार आंग्ल भाषा में संस्कृति के लिए 'कल्चर' शब्द जो लैटिन के 'कल्ट्रा' से बना है, जिससे तात्पर्य है - नवीन सृजन, संवर्द्धन तथा व्यवहार के प्रतिमान का विकास।

परिभाषीय अर्थ

संस्कृति के अर्थ के स्पष्टीकरण हेतु परिभाषायें निम्न प्रकार है -

जे.एफ. ब्राउन के अनुसार - ''संस्कृति किसी समुदाय के व्यवहार का एक समग्र ढाँचा है जो अंशत: भौतिक पर्यावरण से अुकूलित होता है। यह पर्यावरण प्राकृतिक एवं मानव निर्मित दोनों प्रकार का हो सकता है, किन्तु प्रमुख रूप से यह ढाँचा सुनिश्चित विचारधाराओं, प्रकृतियों, मूल्यों तथा आदेर्शों द्वारा अनुकूलित होता है, जिसका विकास समूह द्वारा अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किया जाता है।''

टायलर के शब्दानुसार - ''संस्कृति एक जटिल सम्पूर्ण है, जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला, नीति, विधि, रीति-रिवाज और समाज के सदस्य होकर मनुष्य द्वारा अर्जित अन्य योग्यतायें तथा आदतें सम्मिलित है।''

"Culture is that complese whole which includes knowledge, beliefs, art, morals, law, customs and any other capabilites and habits acquired by man as a member of society".

रेडफील्ड के अनुसार - ''संस्कृति कला और उपकरणों से अभिव्यक्त परम्परागत ज्ञान का वह संगठित रूप है जो परम्परा के द्वारा संगठित होकर मानव समूह की विशेषता बन जाता है।''

"Culture is the organised body of conventional understanding manifest in art and artifects, which persisting througha traditions, characteristics human group".

जोसेफ पीयर के अनुसार - ''संस्कृति प्राणी की सभी प्राकृतिक वस्तुओं और उन उपहारों तथा गुणों का सार है जो मनुष्य से संबंध रखते हुए भी उनकी आवश्यकताओं के तात्कालिक क्षेत्र के परे है।''

नोट

ह्वाइट के अुसार -''संस्कृति एक प्रतीकात्मक, निरन्तर, संचयी और गतिशील प्रक्रिया है।''

मैकाइवर तथा पेज के अनुसार - ''यह मूल्यों, शैलियों, भावात्मक लगावों तथा बौद्धिक अभियानों का क्षेत्र है। इस प्रकार संस्कृति सभ्यता का बिल्कुल प्रतिवाद है। वह हमारे रहने और सोचने के ढंगों में, दैनिक क्रियाकलापों में, कला में, साहित्य में, धर्म में, मनोरंजन और सुखोपभोग में हमारी प्रकृति की अभिव्यक्ति है।''

संस्कृति की उपर्युक्त परिभाषाओं तथा अर्थ के स्पष्टीकरण के पश्चात् इसकी विशेषतायें निम्न प्रकार दिखती हैं -

1. संस्कृतिक एक अल्प प्रक्रिया है क्योंकि इसमें ज्ञान, विश्वास, कला, नैतिकता, नियम, रीति-रिवाज, समाज के सक्रिय सदस्य के रूप में अर्जित की जाती है। यह जटिल इसलिए है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति तथा समाज की योग्यतायें और आदतें भिन्न-भिन्न होती हैं।
2. संस्कृति सामाजिक वस्तु है, यह व्यक्तिगत नहीं है।
3. संस्कृति का हस्तान्तरण तथा विकास होता है।
4. संस्कति मानवीय आवश्यकताओं की पूरक है।
5. संस्कृति माव समाजों में पायी जाती है।
6. संस्कृति स्थायी न होकर चलायमान तथा गतिशील है।
7. संस्कृति धरोहर है।
8. संस्कृति व्यक्तित्व विकास तथा समाजीकरण में सहायक होती है।

संस्कृति की प्रकृति

संस्कृति की उपर्युक्त विशेषताओं के पश्चात् संस्कृति की प्रकृति अग्र प्रकार परिलक्षित होती है :-

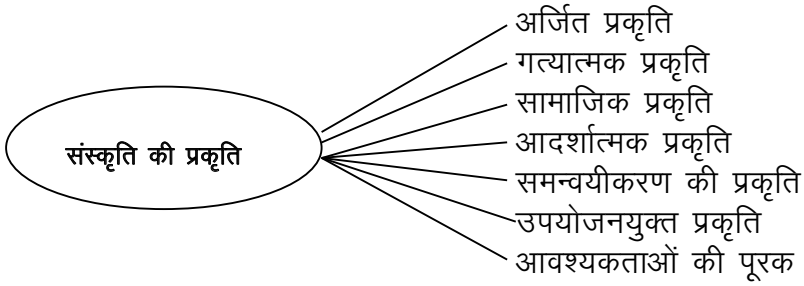

संस्कृति के तत्व

संस्कृति का निर्माण किन तत्वों से हुआ है, इस विषय में विद्वानों के अलग-अलग मत तथा विचार हैं, जो दृष्टव्य है -

अलेक्जेण्डर एवं गोल्डन वाइजर के अनुसार - ''संस्कृति के तत्व हैं - हमारी प्रवृत्तियाँ, विश्वास और विचार, हमारे निर्णय और मूल्य, हमारी संस्थायें-राजनैतिक और कानूनी, धार्मिक और

आर्थिक, हमारी नैतिक संहितायें तथा शिष्टाचार के नियम, हमारी पुस्तकें और मशीनें, हमारे विज्ञान, दर्श और दार्शनिक- ये सब और दूसरी बहुत-सी चीजें तथा प्राणी स्वयं भी अपने और विविध सम्बन्धों में भी।''

नोट

बोगार्डस के अनुसार - ''संस्कृति एक समूह के समस्त रीति-रिवाजों, परम्पराओं और चालू व्यवहार प्रतिमानों से बनती है। संस्कृति एक समूह का मूलधान है। वह मूल्यों की एक ऐसी पूर्ववर्ती समष्टि है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति पैदा होता है। वह एक माध्यम है जिसमें व्यक्ति पैदा और विकसित होता है।''

जे.एल. गिलिन तथा जे.पी. ने एक सामाजिक समूह के सीखे हुए व्यवहार को संस्कृति कहा है। इस प्रकार संस्कृति के अन्तर्गत वह सब कुछ सम्मिलित है जो कुछ मनुष्य समाज में सीखता है, जैसे-ज्ञान-धार्मिक, विश्वास, कला, कानून, नैतिकता, रीति-रिवाज, व्यवहार के तौर-तरीके, साहित्य, संगीत तथा भाषा आदि। सहज व्यवहार जैसे साँस लेना इत्यादि संस्कृति के अन्तर्गत नहीं आते है।

ए.डब्ल्यू. ग्रीन के अनुसार - ''संस्कृति, ज्ञान, व्यवहार, विश्वास की इन आदर्श पद्धतियों को तथा ज्ञान और व्यवहार से उत्पन्न हुए साधनों की व्यवस्था को कहते हैं, जो सामाजिक रूप से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को दी जाती है।''

संस्कृति के सार्वभौम तत्व

संस्कृति के सार्वभौम तत्व सभी संस्कृतियों में पाये जाते हैं, परन्तु इनके रूप अलग-अलग होते हैं। क्लार्क विजलर ने मानव जाति के प्रत्येक समूह की संस्कृति के सार्वभौम तत्व अग्र प्रकार माने है -

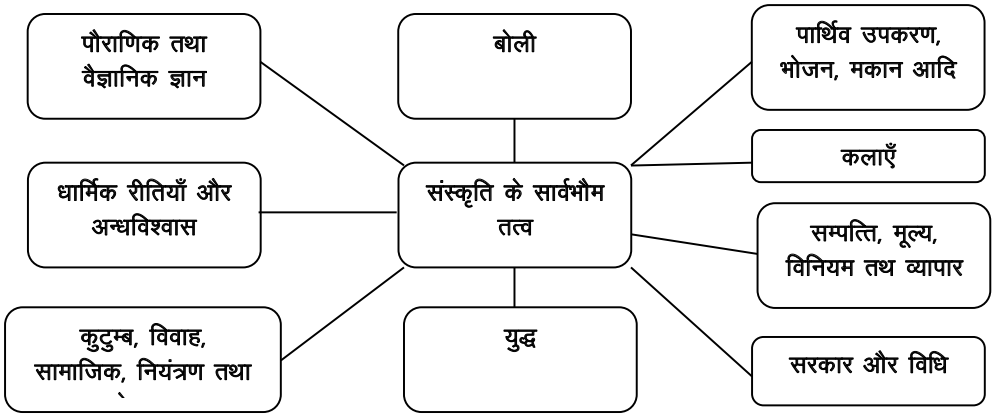

संस्कृति के प्रकार

संस्कृति का सम्प्रत्यय अत्याधिक व्यापक है तथा इसके अन्तर्गत मनुष्य का समग्र जीवन और प्रत्येक अंग आ जाता है। संस्कृति के प्रकार निम्न प्रकार हैं -

- संस्कृति के प्रकार
- भौतिक संस्कृति
- अभौतिक संस्कृति
- मूर्त संस्कृति
- अमूर्त संस्कृति

- पार्थिव वस्तुयें, जैसे–घर, उपकरण, औजार, हथियार बर्तन तथा आवागमन के साधन
- रीति–रिवाज, रूढ़ियाँ, कलायें, ज्ञान तथा धर्म आदि

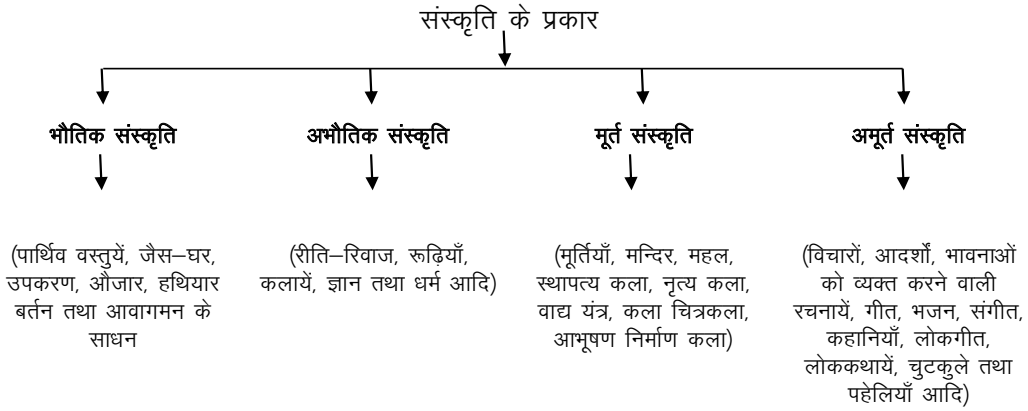

- मूर्तियाँ, मन्दिर, महल, स्थापत्य कला, नृत्य कला, वाद्य यंत्र, कला चित्रकला, आभूषण निर्माण कला

(विचारों, आदर्शों, भावनाओं को व्यक्त करने वाली रचनायें, गीत, भजन, संगीत, कहानियाँ, लोकगीत, लोककथायें, चुटकुले तथा पहेलियाँ आदि)

नोट

परिवार के मूल तत्व

परिवार मानव का प्रमुख प्राथमिक समूह है। इसके मूलाधार विवाह, नातेदारी और गोत्र हैं। विवाह एक व्यापक सामाजिक संस्था है। सामाजिक जीवन के अन्य विभिन्न पक्ष की भाँति विभिन्न संस्कृतियों में विवाह और परिवार के प्रतिरूप में भिन्नताएँ व्याप्त हैं। परिवार में सम्मिलित व्यक्ति, परिवार के नातेदारी संबंध, किससे विवाह की स्वीकृति है? पति/पत्नी की चयन प्रक्रिया, विवाह और यौन-संबंध, इन सबमें पर्याप्त भिन्नताएँ पाई जाती हैं। विवाह और नातेदारी परिवार के महत्त्वपूर्ण तत्व परिवार व्यक्तियों का समूह है जिसमें वे रिश्ते/नाते से सीधे एक-दूसरे से जुड़े होते हैं। परिवार के प्रौढ़ सदस्यों का दायित्व बच्चों की देखभाल और भरण-पोषण करना है। रिश्ते - संबंध से व्यक्ति या तो विवाह संबंध से जुड़ते हैं अथवा वंशक्रम में रक्त संबंध से जुड़ते हैं। विवाह दो प्रौढ़ के मध्य यौन-मिलन को सामाजिक स्वीकृति एवं मान्यता देता है। विवाहोपरांत दो व्यक्ति परस्पर रिश्ते में बंध जाते हैं। विवाह दोनों परिवार के लोगों और उनके नाते या रिश्ते के लोगों को भी परस्पर नातेदारी संबंध में बाँध देता है। इस प्रकार विवाह-संबंध से नातेदारी में पर्याप्त प्रसार हो जाता है। कुल/गोत्र परिवारों का ऐसा समूह है जो यह मानता है कि वे सभी किसी एक ही पूर्वज की संतान हैं।

विवाह द्वारा नातेदारी के प्रसार पर **मैलिनोवस्की** विवाह को नातेदारी के फव्वारे का अग्रभाग कहते हैं। **लूसी मेयर** के अनुसार 'परिवार का कानूनी आधार विवाह हैं। प्रत्येक समाज अपने सदस्यों के यौन-व्यवहार की सीमा निर्धारित करता है। परिवार में व्यक्ति विवाहोपरांत मात्र अपनी यौन-तुप्ति ही नहीं करता अपितु वह संतित को जन्म देकर मानव समाज को निरंतरता प्रदान करने में अपना सृजनात्मक योगदान करता है। भारतीय संस्कृति में तो यह मान्यता है कि व्यक्ति तीन ऋण का बोझ लेकर धरती पर जन्म लेता है - पितृ ऋण, गुरु ऋण, और देव ऋण। संन्तोत्पत्ति के द्वारा व्यक्ति पितृ ऋण से मुक्त हो जाता है। **बोहनन** के शब्दों में, "लगभग सभी जगह परिवार यौन क्रियाओं के नियंत्रण और समाज के नए सदस्यों की भर्ती के लिए उत्तरदायी हैं।

नोट

5.15 परिवार की अवधारणा

परिवार एक संस्थानित सामाजिक समूह है। इसका मुख्य कर्त्तव्य जनसंख्या की पुनर्स्थापना करना है। परिवार में कम-से-कम दो व्यक्ति विवाह बंधन से जुड़े होते हैं। **दुबे** के अनुसार "परिवार में स्त्री और पुरुष दोनों को सदस्यता प्रात रहती है। उनमें कम-से-कम दो विपरित यौन व्यक्तियों को यौन-संबंध की सामाजिक स्वीकृति रहती है, उनके संसर्ग से उत्पन्न संतानों के जुडे जाने से परिवार निर्मित होता है। इस "प्रकार प्राथमिक या मूल परिवार के लिए माता-पिता और उनकी संतति का होना आवश्यक है।" **लूसी मेयर** के शब्दों में, "परिवार एक ग्रहस्थ समूह है इसमें माता-पिता और संतान साथ रहते हैं। इसके मूल रूप में दंपित और उनकी संतान रहते हैं।"

इसी प्रकार **डब्ल्यू.एच.आर.** रिवर्स परिवार को माता-पिता और उनके द्वारा निर्मित एक छोटा सामाजिक समहू मानते हैं। **मैकाइवर** और **पेज** परिवार को निश्चित यौन संबंध और जनित संतति तथा उनके लालन पालन की निश्चित सामाजिक व्यवस्था मानते हैं।

परिवार ऐसे पुरुष-स्त्रियों के समूह को कहते हैं जो विवाह रूधिर, गोद लेने के संस्कार से संबद्ध गृहस्थी स्थापित करते हैं। इसके सदस्य अंतक्रिया या और अंत: संचार से अपने-अपने नियत कार्य करते हैं। वे एक सामान्य संस्कृति की सृष्टि करते हैं। परिवार का मनो-सामाजिक पक्ष उसके साथियों का साथीपन और सहज भागीदारी है। माता-पिता और संतान पारस्परिक प्रेम, सौहार्द्रता, सम्मान और सहयोगिता के आधार पर समस्याओं के समाधान में भाग लेते हैं। **बर्जेस** और लॉक द्वारा की गई परिभाषा इस दृष्टि से अधिक पूर्ण और सुस्पष्ट है।

चैपिन परिवार के पंरचनात्मक प्रतिरूप के निम्नलिखित चार पहलू मानते हैं –

- मनोवृत्तियाँ और व्यवहार प्रतिमान
- प्रतीकात्मक सांस्कृतिक उपकरण
- उपयोगी सांस्कृतिक विशेषक
- मौखिक अथवा लिखित विशिट नियम

मेरिल और **एडरिज** परिवार को एक संस्था के रूप में निम्नलिखित अभिलक्षणित गुण बतलाते हैं—

- सार्वभौमिकता
- सवेगात्मकता
- प्राथमिकता
- उत्तरदायित्व
- छोटा आकार

परिवार के कार्यों को निम्नलिखित तीन संवेगों में बाँटा गया है–

(i) जैविक : सन्तोनात्पत्ति और जनसंख्या की पुनर्स्थापना।

(ii) भावनात्मक : घनिष्ठता, अपनापन, प्यार आत्मीयता, श्रद्धा आदि।

(iii) सामाजीकरण : सामाजिक गुणों और कौशलों में प्रशिक्षण।

प्रथम संदर्भ के अंतर्गत परिवार प्रमुखत: मानव जाति को शाश्वतता प्रदान करने के लिए संतानोत्पत्ति के द्वारा नवीन संतित की सृष्टि करता है। साथ ही वह अपने सदस्यों के लिए काम सृष्टि का स्थायी प्रबंध करता है। इससे उसकी नातेदारी में प्रसार होता है। साथ ही परिवार अपने सदस्यों की मूल आवश्यकताओं - पोषण, सुरक्षा, संरक्षण, आत्मीयता, लाड प्यार आदि की संपूर्ति करता है।

5.16 शिक्षा के अभिकरण के रूप में परिवार के प्रकार्य

नोट

विलेषण के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि शिक्षा के प्रमुख कार्य इस प्रकार हैं –

सामाजीकरण, सामाजिक नियंत्रण, शैक्षणिक अनुभव उपलब्ध करना, मनोरंजन की व्यवस्था, सामाजिक प्रस्थिति निश्चित करना, सांस्कृतिक संरक्षण एवं पारेषण, संतुलित व्यक्तित्व का निर्माण। यहाँ यह स्पष्ट करने का प्रयास है कि परिवार एक प्राथमिक सामाजिक समूह के रूप में इन सभी कार्यों को सम्पन्न करता है। इस प्रकार यह शिक्षा का एक प्रमुख अभिकरण है। परिवार इन दायित्वों का निर्वाह नेसिर्गक ढंग से करता आ रहा है। यदि कहा जाए कि परिवार के इन कार्यों में बढ़ती हुई सामाजिक जटिलताओं के कारण दूसरी संस्थाएँ अस्तित्व में आकर भागीदारी निभा रही हैं तो अतिश्योक्ति नहीं होगी।

सामाजीकरण : जन्म लेते ही बालक सर्वप्रथम माँ के सम्पर्क में आता है जोकि समाज का प्रतिनिधित्व करते हुए अपने दायित्व और कर्तव्यों का निर्वाह करती है। फिर वह परिवार के अन्य सदस्यों के संसर्ग में आता है। परिवार में सामाजीकरण के अंतर्गत उसको प्रमुख रूप से निम्न चार भूमिकाओं में प्रशिक्षण प्रात होता है - (i) पति-पिता, (ii) पत्नी-माता, (iii) पुत्र -भाई, (iv) पुत्री-बहिन। परिवार सार्वभौमिक संस्था होने के कारण सामाजीकरण के लिए आधारभूत संस्था है।

जेल्डिच ने 56 समाजों के मानवशास्त्रीय अध्ययन के आधार पर माता-पिता की भूमिकाएँ निश्चित की। उन्होंने पिता की साधन नेतृत्व तथा माता की भावात्मक नेतृत्व का पिता लगाया। साधक नेता के रूप में पिता अपने व्यावसायिक उद्यम का मालिक होता है। वह बच्चों के पारस्परिक विवादों में निर्णायक होता है। दण्डात्मक आदेश भी पिता का ही होता है। परिवार को अनुशासित और नियन्त्रित रखना पिता का ही दायित्व है। दूसरी ओर माँ की भावात्मक भूमिका बिल्कुल अलग है। वह बाल-विवादों को शांति से निपटाती है। स्नेह घनिष्ठता, अपनापन, हितैषी, उदारता से परिवार को सजाती और संवारती है। उसका अनुशासन का तरका दण्डात्मक न होकर पुनर्बलन पर अधिक निर्भर करता है। बच्चे माता-पिता के प्रभाव से एक सामाजिक इकाई के रूप में विकसित होते हैं। परिवार के अन्य सदस्य - भाई-बहन, चाचा-चाची, ताई-ताऊ, दादा-दादी बच्चों के सामाजीकरण पर नैसर्गिक स्व में प्रभाव डालते हैं। पारस्परिक प्रेम, सहयोग, सहकारिता, त्याग, सहानुभूति, सेवा, समर्पण, कृतज्ञता जैसे गुणों का अवशोषण परिवार में अंतक्रिया के द्वारा ही उदविकसित होते हैं। छोटों और बड़ों के साथ व्यवहार के प्रतिमान परिवार में ही सीखे जाते हैं। परिवार में आय, लिंग, रिश्ते के अनुसार व्यवहार प्रतिरूप परिवार में निर्मित होते हैं। परिवार में अधिकार और दायित्व का सुंदर समन्वय होता है। आाकारिता, दया, क्षमता, परोपकार सहिष्णुता के गुणों का विकास परिवार में अनुकरण और संसर्ग के द्वारा होता है। परिवार भिन्न-भिन्न स्वभावों, अभिरुचियों, अभिवृत्तियों के व्यक्तियों के साथ रहते हुए बच्चे सामाजिक अनुकूलन के लिए आवश्यक कौशलों में प्रशिक्षित होते हैं।

परिवार का पड़ोस और पड़ोसियों तथा अन्य रिश्तेदारे के साथ संबंध-निर्वाह का पाठ बच्चों को परिवार से ही मिलता है। इस प्रकार वह सामाजिक संबंध के निर्वाह की क्षमता का विकास परिवार में ही होता है।

सामाजिक नियंत्रण

सामाजिक नियंत्रण के परिप्रेक्ष्य में परिवार की भूमिका महत्त्वपूर्ण है। इसके लिए परिवार अपने सदस्यों को रतिरिवाज, परंपराओं, आदर्श, मूल्यों के अनुरूप आचरण करने के लिए अभिविन्यासित करता है। परिणामस्वरूप एक प्रौढ़ के रूप परिवार का यह सदस्य व्यापक सामाजिक नियंत्रण में प्रभावी भूमिका निभाने में समर्थ होता है। परिवार सामाजीकरण, शिक्षा. विवाह संबंधी परंपराओं, आर्थिक व्यवस्था, सुरक्षा साधनों से सामाजिक नियंत्रण का दायित्व पूरा करता है। इसके परिणामस्वरूप परिवार में

नोट

(i) हर सदस्य व्यवहार प्रतिमानों के अनुरूप आचरण करता है।

(ii) पारिवारिक संगठनात्मक एकरूपता बनी रहती है।

(iii) सामूहिक और व्यक्ति-व्यक्ति नियंत्रण होता है।

(iv) पारस्परिक संबंध में स्थिरता एवं एकरूपता आती है।

(v) सहयोग स्थापित होता है।

(vi) तनाव एवं संघर्ष कम किए जाते हैं।

(vii) सभी सदस्यों के व्यवहारों को निश्चित ढाँचे में ढाला जाता है।

(viii) विपथगामी प्रवृत्तियों पर अंकुश लगता है।

(ix) दण्ड एवं पुरस्कार की नैसर्गिक व्यवस्था कायम है।

शैक्षणिक अनुभव

प्रत्यक्ष अनुभव के लिए संस्थियों के निर्माण को ही शिक्षण कहा जाता है। परिवार बच्चे की प्रथम पाठशाला है परिवार में अधिक परिपक्व सदस्य कम परिपक्व सदस्य को नए-नए अनुभव प्रात करने के लिए अवसर प्रदान कराता है जिससे उसकी परिपक्वता में वांछनीय वृद्धि होती है। परिवार में विभिन्न प्रथाओं के अनुसार कर्मकाण्ड संबंधी कार्यों के द्वारा बच्चे को सांस्कृतिक प्रशिक्षण के लिए प्रत्यक्ष अनुभव प्रात करने के अवसर दिए जाते हैं। कहानियों, कहावतों, मुहावरों, उपदेशों, अनुदेशों के द्वारा बच्चों को परिवार के बड़े-बढ़े शिक्षा प्रदान करते हैं। स्पष्ट रूप में ये शिक्षण की ही तकनीकें हैं। बच्चों को अक्षर ज्ञान एवं गिनती का कौशल परिवार में ही उपलब्ध होते हैं। प्रचलित कलेण्डर का ज्ञान भी बच्चों को परिवार में ही उपलब्ध होता है। इस संदर्भ में चीनी कहावत - 'संतान की अज्ञानता माता-पिता का दोष 'और 'माता-पिता ही बच्चों की प्रथम पुस्तक' स्थिति को स्पष्ट करती हैं। परिवार की शैक्षिक भूमिका के संदर्भ में मूर कहते हैं "शिक्षा देने वाली संस्था के रूप में परिवार की कार्य कुशलता पर ही संपूर्ण समाज की सुरक्षा और अच्छी गुणवत्ता आधारित है। "परिवार व्यक्ति में देशभक्ति, ईमानदारी आदि मनोवृत्तियों का विकास करता है। यह व्यक्ति को उचित-अनुचित, पाप-पुण्य, अच्छाई-बुराई, सत्य-असत्य का ज्ञान देता है।

मनोरंजन की व्यवस्था-अवकाश के समय को अच्छे ढंग से व्यतीत करने की दृष्टि से परिवार चुटकले, कहानियों, लोक संगीत, लोक-कथाओं आदि की व्यवस्था करता है। साथ ही विभिन्न अंत:शाल खेल और बहिर्शाल की व्यवस्था करता है। व्यायामों व अन्य परंपरागत खेल के लिए भी बच्चों को परिवार से ही प्ररेणा मिलती है।

सामाजिक प्रस्थिति

शिक्षा का एक मुख्य लक्ष्य भावी जीवन की तैयारी है। व्यक्ति भविय में क्या बनेगा, इसके निर्धारण में परिवार की प्रमुख भूमिका है। अनुसंधानों से निष्कर्ष निकलता है कि व्यक्ति अपनी भावी प्रस्थिति के लिए व्यवसाय और पद का निर्धारण माता-पिता और अन्य बड़ों की प्रेरणा, सुझाव व प्रतिरूप के अनुसार करता है। इस दिशा में आगे बढ़ने के लिए आर्थिक और अन्य संसाधन भी परिवार ही जुटाता है।

सांस्कृतिक संरक्षण एवं पारेषण

परिवार अपनी परंपरागत मान्यताओं, विश्वासों, कर्मकांडों, नियमों, आदतों (खान-पान, रहन-सहन, वस्त्राभूषण, बोलचाल) तथा भौतिक साधनों का संरक्षण करता है। वह इनको अक्षुण रखता है। सामाजिक नियमों, कुल-गोत्र की मान्यताओं, रिश्तेदारी के निर्वाह को परिवार निरंतरता प्रदान करता है। वह अपनी धार्मिक आस्थाओं को

भी बनाए रखता है। सभ्यता के परम तत्व को परिवार अपनी संस्कृति में व्यावहारिक रूप प्रदान करते हुए सांस्कृतिक विकास में योगदान करता है तथा अपनी संपूर्ण परम्पराओं को परिवार व्यक्तिगत और सामुदायिक जीवनचर्या के रूप में भावी पीढ़ी में हस्तांतरित करता है। इस दिशा में उसका प्रशिक्षण क्रियात्मक होता है। विवाह-नियम एवं अगम्यगमन निवेश के नियमों की कठोरता प्रत्यक्ष उदाहरण है।

नोट

संतुलित व्यक्तित्व का निर्माण

व्यक्तित्व किसी व्यक्ति के सभी शाररिक, मानिसक, सामाजिक, आध्यात्मिक, व्यवहारगत आंतरिक और बाय अभिलाक्षणिक गुणों का एकीकृत प्रतिरूप है। यह विषय प्रधान और विषयी-प्रधान दोनों ही है। **बिसन्ज** और **बिसन्ज** के शब्दों में, व्यक्तित्व मनुष्य की आदतों, अभिवृत्तियों, विशेषकों का संगठन है और कि शरीर क्रियात्मक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक कारकों की अंत:क्रीडा से उदित होता है। यही स्पष्ट है कि शरीर क्रियात्मक आधार पर वशांनुक्रम में शिशु को मनुष्य रूप प्रदान किया है। किन्तु उसको मानव समाज और संस्कृति ही बनाती है। ये वातावरण नवजात शिशु को परिवार ही उपलब्ध करता है। भेड़िया बालक रामू का विवरण व्यक्तित्व के विकास में परिवार की भूमिका स्पष्ट करता है।

इस संदर्भ में **रूथ बेनीडिक्ट** का कथन भी महत्त्वपूर्ण है - 'उसके जन्म के क्षण से, जिस रिवाज में वह उत्पन्न होता है, उसके अनुभव एवं व्यवहार ढाले जाते हैं। जिस समय से वह होता है वह अपनी संस्कृति का छोटा प्राणी है, और जिस समय से वह बढ़ता है, एवं अपने कार्यों में हिस्सा लेता है, इसकी आदत उसकी आदत, इसके विश्वास उसके विश्वास, इसके असंभव उसके असंभव बन जाते हैं।

पारिवारिक संदर्भ में यह कथन व्यक्तित्व के निर्माण में इसकी भूमिका स्पष्ट करता है।

सिगमण्ड फ्रायड के अनुसार बच्चा एक स्वयतशासी व्यक्ति के रूप में एक जटिल प्रक्रिया द्वारा विकसित होता है। ऐसा वह केवल अचेतन से प्रवाहित होने वाली बलवती इच्छाओं और पर्यावरण की माँग में संतुलन स्थापित करने की दिशा में अधिगम से बन सकता है। हमारी आत्माभिज्ञता की क्षमता, दुखद रूप से, अचेतन चालनों के दमन पर निर्मित होती है।

जी.एच. मीड के अनुसार बच्चा एक भिन्न इकाई होने का बोध नियिमत रूप से इस बात को देखकर विकसित करता है कि दूसरे लोग उसके साथ कैसा व्यवहार करते हैं। इसके आधार पर वह आगे चलकर सामान्य सांस्कृतिक मूल्यों और नियमों में अभिविन्यासित होता है।

जीन प्याजे संज्ञानात्मक पक्ष को व्यक्तित्व में प्रमुखता प्रदान करते हैं। विभिन्न सोपानों में यह विकास प्रक्रिया चलती है। प्रत्येक सोपान विशिट संज्ञानात्मक कौशलों के उपार्जन में सहायक होता है। किन्तु प्रत्येक सोपान पूर्वगामी सोपान पर आश्रित होता है। प्यजे संज्ञानात्मक विकास को सामाजीकरण का सार्वभौम गुण मानते हैं।

उपरोक्त तीनों मत प्रत्यक्ष रूप में परिवार की महत्ता को स्वयंसिद्ध रूप में दशाते हैं। परिवार में बच्चे को लिंग-भेद का ज्ञान प्रात होता है। वह परिवार की परंपराओं के आधार पर कई निषेधों यथा अगम्य गमन का निर्वाह स्वाभाविक स्व में करने लगता है। वह परिवार के सभी आयु स्तरों, दोनों लिंगों, विभिन्न रिश्तों एवं परिवार के सम्पर्क में आने वाले परिजन, कुल-मित्र एवं संबंधियों के स्वभावों, व्यवहारों, रूचियों, आदतों आदि के साथ समायोजन करता है। वह न केवल एक व्यक्ति के रूप में बल्कि समूह के रूप में जीने वाला एक सदस्य बन जाता है। परिवार का सहयोगपूर्ण और भावनात्मक पर्यावरण बच्चे के व्यक्तित्व के निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। अधिकारों और कर्त्तव्यों का सुंदर समन्वय उसके व्यवहार और स्वभाव को संतुलित बनाता है। **टरमैन** का मत है "केवल वे ही बच्चे विवाह को सुख सम्पन्न बना सकते हैं जिनके माता--पिता का पारिवारिक जीवन सुखी रहा हो।"

नोट

5.17 सम-समूह की परिभाषा

सम-समूह शिक्षा का एक प्रमुख अभिकरण है। इसका प्रमुख प्रकार्य सामाजीकरण है। बाल-समूह के रूप में सम-समूह अस्तित्व में आते हैं। कुछ सांस्कृतिक इकाइयों में इनका संगठन आयु - स्तर के आधार पर होता है। प्रारंभिक चरण में सम-समूह में किसी समुदाय के लड़के - लड़कियाँ दोनों ही सम्मिलित होते हैं। उनके संगठनात्मक नियमों का पालन प्रत्येक सदस्य के लिए अनिवार्य होता है। नए सदस्य दूसरे के संसर्ग द्वारा इसके नियमों को सीख लेते हैं। परिवार के प्रति अपनी प्रतिबद्धता बनाए रखते हुए राम-समूह के सदस्य समूह की गतिविधियों, नियमों, कार्यक्रमों आदि की गोपनीयता बनाए रखते हैं। वे किसी भी कीमत पर गोपनीयता भंग नहीं करते। ये समहू स्वत: ही बनते हैं और इनमें स्वक्रिया द्वारा सदस्यों का आना-जाना लगा रहता है। उनका स्वरूप लगभग स्थायी होता है। इनके नेता भी स्वत: ही बनते हैं और स्वत: ही प्रतिस्थापित होते रहते हैं। कृष्णा लीलाओं में ग्वाल बाल-समूह इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। इन समूह में समानता, गोपनीयता, प्रतिबद्धता, एकता, सहयोगिता, पारंपरिक सेवा, संप्रेषण. स्वानुशासन, प्रमुख व्यावहारिक प्रतिमान हैं। इनकी एकता के अनूठे उदाहरण गाँवों, मोहल्लों, प्रदेशों में लोक चर्चाओं में मिलते हैं।

5.18 सम-समूह शिक्षा का अभिकरण

4-5 वर्ष की आयु पर बच्चे सम-समूह के सदस्य स्वत: ही बन जाते हैं। गाँव में तो इनका बनना सांस्कृतिक परंपराओं का एक हिस्सा है। किंतु आजकल आधुनिकतम समाजों में भी इनकी उत्पत्ति और विकास स्वत: होने लगे हैं। विशेष रूप से कार्यशील महिलाओं के बच्चे या तो घरे में रहते हैं या उनकी देखभाल के लिए बने केन्द्रों में रहते हैं। दोनों ही स्थितयों में सम-समूह बन जाते हैं। प्याजे और **मीड** दोनों ही सामाजीकरण और व्यक्तित्व के विकास में सम-समूह को बहुत महत्त्व देते हैं। प्याजे सम-समूह को परिवार की अपेक्षा अधिक लोकतान्त्रिक मानते है। पिअर शब्द का अर्थ ही समान है। सम-समूह स्थापित बाल मैत्री संबंध समतावादी धरातल पर निर्मित होते हैं। यहाँ पर नेतृत्व का कोई औपचारिक चुनाव या घोषणा नहीं होती, बुद्धि चातुर्य और समूह के लिए सबसे अधिक उपयोगी को संपूर्ण समूह स्वत: रूप में स्वीकार करता है।

सम-समूह में व्यक्ति स्वानुशासन, सामाजिक सहिष्णुता, त्याग, गोपनीयता, छोटों के प्रति दायित्व और कर्त्तव्यों तथा समूह से प्रतिबद्धता तथा पारस्परिक विश्वास और सद्भावना के पाठ सीखता है। यह सब व्यावहारिक क्रियाओं के द्वारा सम्पन्न होता है। सम-समूह संबंध किसी व्यक्ति के जीवन में स्थायी छाप छोड़ते हैं। सम-समूह का व्यक्ति सहकालिक रूप में दो या दो से अधिक समूह का सदस्य हो सकते हैं। वह कम-से-कम अपने परिवार का सदस्य तो रहता ही है। किन्तु वह सभी समूह के प्रति अपने कर्तव्यों और दायित्व का निर्वाह (बिना एक-दूसरे को प्रभावित किए हुए), करना सीखता है। सम-समूह की मैत्री प्राय: जीवन भर चलती रहती है। लिंग भेद का खुलावा ज्ञान भी सम-समूह में ही होता है। परिपक्वता के आने पर बालक-बालिकाओं के सम-समूह स्वत: ही अलग-अलग हो जाते हैं। यौन संबंधी ज्ञान भी सम-समूह में स्वतंत्रतापूर्वक प्रात होता है। यौन संबंधी सूचनाओं एवं शिक्षा के लिए सम-समूह सक्षम साधन है।

5.19 सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन

वर्तमान भारतीय समाज में एक बड़ा वर्ग इस धार्मिक और दार्शनिक लोकाचार, सामाजिक रचना की चेतना और अतीत की विरासत की समझ से दूर चला गया है। आधुनिक प्रौद्योगिकी से प्रभावित होकर माता-पिता तथा शैक्षिक संस्थाएं केवल सूचना प्रौद्योगिकी जैसे ज्ञान अर्जित करने पर जोर देने

लगी है। किन्तु गाँवों में रहने वाले तथा सामाजिक-आर्थिक रूप से वंचित वर्ग इन विकासों के प्रति आज भी अनभिज्ञ सा है। इस प्रकार एक नये प्रकार का विभाजन पैदा हो गया है जो ग्रामीण-शहरी, कृषक-औद्योगिक, समृद्ध-निर्धान, साक्षर-निरक्षर के रूप में तेजी से दिखाई दे रहा है।

नोट

कृषि प्रधान समाज के परिदृश्य के बाद की पीढ़ियों अपने पारम्परिक धान्धों और पारिवारिक लक्ष्यों या मोटे तौर पर जातीय लक्ष्यों का ही अनुसरण करती थी। आगे चल कर प्रौद्योगिक विकास के नये व्यवसाय शुरू हुए और परिणामस्वरूप नये लक्ष्य बिन्दुओं का उदय हुआ। संयुक्त एवं विस्तृत परिवार प्रणाली के विपरीत अब समाज में लघु परिवारों का चलन, माता-पिता दोनो के बजाय केवल 'माँ या केवल 'पिता, अविवाहित सम्बन्ध और ऐसी अनेक बातें दिख रही है। आधुनिक औपचारिक श्रम या कार्य रोजगार संगठनों से सह-समूहों का जन्म हुआ। ब्रिटिश शिक्षा प्रणाली जो इरा देश में आजादी के बाद तक भी जारी रही, ने इस प्रकार के तौर-तरीको के विकास में काफी योगदान दिया। यह हमारे कृषि प्रधान समाज की कार्य-रचना के एकदम विपरीत था।

इस प्रकार पूर्व में स्थित जातिगत भेद के साथ ही साथ आर्थिक वर्ग व्यवस्था ने भी समाज में असमानताओं उत्पन्न कर दी है। एक बड़ा वर्ग है जो इस दृष्टि से वंचित वर्ग में समाहित है। इस वंचित वर्ग को शिक्षा के द्वारा ऊपर उठाया जाना आवश्यक है। जिससे सामाजिक समरूपता स्थापित की जा सके।

अर्थ

निर्बल वर्ग से तात्पर्य समाज के उन व्यक्तियों के समूह से है जो अपनी सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक या अन्य किसी परिस्थिति के कारण पर्याप्त उन्नति नहीं कर सकें है। वर्तमान में हमारे देश का समाजिक ढाँचा जन्मप्रदत जातियों पर आधारित है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र की उच्चोच (Hierarchy) क्रम की वर्णव्यवस्था में शूद्र सदियों से साधनहीन, शकिहीन, शिक्षाहीन, धनहीन तथा प्रतिष्ठाहीन थे।

अन्य वर्गों ने इन्हें अस्पृश्य घोषित कर दिया तथा सदियों से इनका शोषण करते रहे। शूद्रों को शिक्षा के अधिकार से भी वंचित कर दिया गया।

शिक्षा सामाजिक संतुलन लाने का एक महत्वपूर्ण साधन है इसलिए निर्बल वर्ग के उत्थान के लिए शैक्षिक कार्यक्रमों के निर्माण तथा विशेष व्यवस्था को अधिक महत्व दिया गया। प्रस्तुत अध्याय में निर्बल वर्गों की शिक्षा का वर्णन किया गया है।

समाज में कोई भी वंचित वर्ग न रहे। सभी को समान अवसर मिलें इसलिए भारतीय संविधान की प्रस्तावना में कहा गया है कि - न्याय-सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक, विचारों, अभिव्यक्ति, विश्वास आस्था तथा पूजा की स्वतन्त्रता, स्तर तथा अवसर की समानता तथा इनको सबसे प्रोत्साहित करेंगे। (To Constitute India in to a so vereign, socitical; secular and democratic republic and to secure to all its citizens: Justicesocial, economic and political; liberty and thought, expression, faith, belief and worship, equality of status and opportuniry, and to promote among them all fraternity assuring and the dignity of individual and the intergrity of the nation.')

बन्धुत्व, व्यक्ति की गरिमा तथा की एकता का विश्वास दिलाते हुए अपनी संविधान सभी में सन् 1949 नवम्बर के छब्बीसवे दिन अब अपनाते हैं, अधिनियम बनाते है अपने आपको यह संविधान देते है।

नोट

हमारे संविधान में चार आदर्श - न्याय, स्वतन्त्रता, समता एवं बंधुत्व सम्मिलित करने का उद्देश्य यह रहा कि सामाजिक असमानताएं, आर्थिक-विभेद तथा राजनैतिक विशेषाधिकार समाप्त किये जा सके। कानून की दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति का स्तर बराबर है। प्रत्येक की आत्म-प्रतिष्ठा को मान्यता दी गई है। इन चारों आदर्शों का शैक्षिक महत्व है। इन्हें तभी प्राप्त किया जा सकता है जब कि शिक्षा के द्वारा समाज के वंचित वर्ग को उसके महत्व को समझाया जाये। सामाजिक वर्गभेद को दर करने के लिए ये चार अधिकार दिये गये हैं। ये वो मूल अधिकार हैं जो उन सब बातों का प्रतिनिधित्व करते है। जो कि भारतीय समाज के लिए मूल्यवान हैं। यह निर्देशन सिद्धान्त है, आचरण के नियम है जिन पर भविष्य के कानून एवं विधान निर्माण किये जाने चाहिए।

संवैधानिक मूल्यों के शैक्षिक निहितार्थो

न्याय

मूल अधिकारों के संदर्भ में न्याय शब्द की अवधारणा से अभिप्राय है - सबको बराबरी का स्थान व अवसर। इसके अन्तर्गत राज्य नागरिकों में भेद-भाव धर्म, प्रजाति, जाति, लिंग भेद या जन्म स्थान के आधार पर नहीं करेगा। इसलिए शिक्षा व्यवस्था में शैक्षिक संस्थाओं का संगठन इस प्रकार करना चाहिए कि उनके दरवाजे देश के किसी भी नागरिक के लिए सदैव खुले रहे। कोई भी शैक्षिक विशेष, धर्म जाति या प्रजाति या क्षेत्र के लिए ही केवल आरक्षित नहीं की जा सकती। हमारे विद्यालयों में किसी प्रकार का भेदभाव समाज के विभिन्न वर्गों या जातियों में नहीं किया जा सकता है। सभी को अपने आत्म विकास तथा ज्ञान अर्जन के लिए अवसर अवरूद्ध न हों। यदि किसी भी योग्य विद्यार्थी को साधनों के अभाव में शिक्षा के अवसर प्रदान नहीं किये जाते है तो यह सामाजिक अन्याय होगा तथा संविधान के विरूद्ध होगा।

स्वतन्त्रता

हमारे संविधान के अन्तर्गत कोई भी नागरिक अपना निवास स्थान चयन करने, भ्रमण करने, अभिव्यक्ति करने, संगठन निर्मित करने, रोजगार करने, सम्पत्ति अर्जित करने हेतु स्वतंत्र है। इसलिये किसी भी व्यवसाय, धर्म, जाति, क्षेत्र, भाषा के आधार पर शाला में प्रवेश में वंचित नहीं किया जा सकता। इस अधिकार के उचित उपयोग की शिक्षा देना अत्यधिक आवश्यक है। उच्च अधिकारी, उच्च जाति, उच्च स्तर वाले व्यक्ति को प्रत्येक प्रकार की स्वतंत्रता एवं अधिकार प्राप्त हों। राज्य या कानून उनके इस स्वतंत्रता अधिकारों के उपयोग करते समय यह न देखे कि इससे किसी व्यक्ति, वर्ग, समुदाय या जाति की स्वतन्त्रता या अधिकारों का हनन हो रहा है, उनका शोषण किया जा रहा है - तो यह संविधान की अतहेलना होगी। अतः संविधान ने इस अधिकार को देने की भावना को समझना होगा। स्वयं की स्वतन्त्रता का अधिकार दूसरों के लिए शोषण नही बनाना चाहिए। इस भावना को शिक्षा व्यवस्था के द्वारा ही विकसित किया जा सकता है।

समता

पूर्वोक्त सामाजिक न्याय की अवधारणा में समता का अधिकार समाहित है। यह अधिकार देश के कानून के सम्मुख सबको मानने का है। प्रत्येक नागरिक को कानून का संरक्षण प्राप्त करने का अधिकार है। कानून किसी भी नागरिक के साथ जाति, वर्ग या धर्म के आधार पर भेद-भाव नहीं कर सकता

है। कानून सब के लिए चाहे हिन्दू हो, मूसलमान हो, युवा हो, वृद्ध हो, स्त्री या पुरुषएक समान है। इसके अन्तर्गत शिक्षा व्यवस्था में प्रवेश, चयन, मूल्याकंन, व्यवहार आदि में समानता का ध्यान रखा जाये। सामाजिक एवं आर्थिक रूप से वंचित वर्ग के साथ भेदभाव किया जाना, गैर संवैधानिक होगा।

नोट

बन्धुत्व

राष्ट्रीय एकता एवं सद्भावना बनाए रखने के लिए बन्धुत्व की भावना अत्यधिक आवश्यक है। उक्त तीनों मूल अधिकार-न्याय, स्वतंत्रता एवं समानता का विवेकपूर्ण उपयोग न किया जाये तो समाज में कई व्यक्ति शोषित होते रहेगें। जबकि इन अधिकारों को समाविष्ट करने का उद्देश्य यह था कि राष्ट्रीय एकता व सद्भावना बनी रहे। इसीलिए बन्धुत्व का अधिकार सम्मिलित किया गया है। क्योंकि मूल अधिकारों के प्रयोग से दूसरे व्यक्तियों का स्वतन्त्रता में रूकावट पड़ती है या वह समाज विरोधी है या वह अनैतिक है तो उन्हे व्यवहार में लाने की अनुमति नहीं दी जा सकती है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि हमारे संविधान में व्यक्ति की मान-मर्यादा को बहुत ऊँचा स्थान दिया गया है किन्तु यह राष्ट्र की एकता के बीच में रूकावट नहीं बन सकती है। अत: राष्ट्रीय सद्भावना हेतु बन्धुत्व के अधिकारों की पालना आवश्यक है। शिक्षा व्यवस्था में वंचित वर्ग के प्रति सद्भाव तथा सहयोग की भावना को पोषित किया जाना आवश्यक है।

उपरोक्त संवैधानिक प्रावधानों के अन्तर्गत सामाजिक विकास के लक्ष्यों को प्राप्त करने तथा सामाजिक समरूपता स्थापित करने की दृष्टि से यथेष्ट गुणात्मक तथा व्यापक शिक्षा एक बहुत ही शक्तिशाली साधना है। कुछ महत्वपूर्ण राष्ट्रीय लक्ष्य है पंथ निरपेक्षता, लोकतन्त्र, समानता, स्वतन्त्रता, बन्धुत्व, न्याय, राष्ट्रीय एकता और देशभक्ति। शिक्षा का दायित्व है कि वह बच्चों में मानव अधिकारों, और कर्तव्यों के प्रति सम्मान की भावना विकसित करें। निर्बल समुदाय जिनमें अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, महिलाएं, विकलांग बच्चे और अल्पसंख्यक आते है अब और देर तक सुविधा वंचित नहीं रखे जा सकते।

5.20 भारतीय संविधान तथा वंचित (निर्बल) वर्ग

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 15(4 व 5) 46, 335, 338, 339, 340, 341 तथा 342 में निर्बल वर्गों अर्थात् अनुसूचित जातियों, जनजातियों तथा पिछड़े वर्ग के कल्याण के विशेष प्रावधान किए गए है। अनुच्छेद 15(4 व 5) में कहा गया है कि धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग अथवा जन्म-स्थान के आधार पर नागरिकों के विरुद्ध विभेद करने का निषेध होते हुए भी राज्य को सामाजिक और शैक्षिक दृष्टि से पिछड़े हुए नागरिकों के किन्हीं वर्गों की उन्नति के लिए या अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लिए विशेष उपलब्ध बनाने का अधिकार होगा। अनुच्छेद 46 में कहा गया है कि राज्य जनता के दुर्बल वर्गों विशेषकर अनुसूचित जातियों के शैक्षिक और आर्थिक हितों की विषेश सावधानी से अभिवृद्धि करेगा एवं सामाजिक अन्याय और सभी प्रकार के शोषण से उनकी सुरक्षा करेगा अनुच्छेद 335 में अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के लिए सरकारी पदों पर नियुक्तियों के दावों का प्रशासन की दक्षता बनाए रखने की संगति के अनुसार ध्यान रखने का प्रावधान किया गया है। अनुच्छेद 338 में अनुसूचित जातियों और जनजातियों, के लिए राष्ट्रीय आयोग के गठन का प्रावधान किया गया है जो अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के संरक्षण, कल्याण, विकास एवं उत्थान से सम्बन्धित कृत्यों का निर्वहन करे। अनुच्छेद 339 में राज्यों के अनुसूचित क्षेत्रों के प्रशासन

नोट

और अनुसूचित जनजातियों के कल्याण के बारे में प्रतिवेदन देने के लिए अयोग की नियुक्ति का अधिकार राष्ट्रपति को दिया गया है। अनुच्छेद 340 में सामाजिक और शैक्षिक दृष्टि से पिछड़े वर्गों की दशाओं तथा कठिनाइयों को सुधारने के लिए उपाय सुझाने हेतु आयोग गठित करने का अधिकार राष्ट्रपति को दिया गया है। अनुच्छेद 341 तथा 342 में क्रमशः अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों को विनिर्दिष्ट करने का प्रावधान किया गया है। निर्बल वर्ग के हितों की रक्षा के लिए संविधान के विभिन्न अनुच्छेदों में किये गये प्रावधानों का मूलपाठ अग्रांकित प्रस्तुत है।

अनुच्छेद धर्म, मूलवश, जाति, लिंग या जन्म स्थान के आधार पर विभेद का प्रतिषेध

राज्य किसी नागरिक के विरूद्ध केवल धर्म, मूलवश, जाति, लिंग, जन्म-स्थान इसमें से किसी के आधार पर विभेद नहीं करेगा।

कोई नागरिक केवल धर्म, मूलवश, जाति, लिंग, जन्म-स्थान या इनमें से किसी के आधार पर

(क) दुकानों, सार्वजनिक भोजनालयों, हस्टेलों और सार्वजनिक मनोरंजन के स्थानों में प्रवेश या

(ख) पूर्णतः या भागतः राज्य निधि से पोषित या साधारण जनता के लिए समर्पित कुंओं, तालाबों के सम्बन्ध में किसी भी नियोग्यता, दायित्व, निर्बधन या शर्त के अधीन नहीं होगा।

इस अनुच्छेद की कोई बात राज्य की स्त्रियों और बालकों के लिए कोई विशेष उपलब्ध करने से निवारित नहीं करेगी।

इस अन अनुच्छेद की या अनच्छेद 29 के खण्ड (2) की कोई बात राज्य को सामाजिक और शैक्षिक दृष्टि से पिछड़े हुए नागरिकों के किन्ही वर्गों की उन्नति के लिए अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए कोई विशेष उपलब्ध करने से निवारित नहीं करेगी।

इस अनुच्छेद या अनुच्छेद 19 के खण्ड (1) के उपखण्ड (छ) की कोई बात राज्य को नागरिकों के किसी सामाजिक रूप से और शैक्षणिक रूप से पिछड़े वर्गों की प्रगति के लिए या अनुसूचित जातियों या अनुसूचित जनजातियों के लिए विधि द्वारा किसी विशेष प्रावधान को करने से निवारित नहीं करेगी, जहाँ तक ऐसा विशेष प्रावधान अनुच्छेद 30 के खण्ड (1) में निर्दिष्ट अल्पसंख्यक संस्थान के अतिरिक्त अन्य शैक्षणिक संस्थानों में, जिसमें गैर सरकारी शैक्षणिक संस्थान शामिल हैं, चाहे सरकार द्वारा सहायता प्राप्त हो या असहायताप्राप्त हो, उनके प्रवेश से सम्बन्धित है।

अनुच्छेद 46 - अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और अन्य दुर्बल वर्गों के शिक्षा और अर्थ संबंधी हितों की अभिवृद्धि- राज्य, जनता के दुर्बल वर्गो, विशिष्टतया, अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के शिक्षा और अर्थ - संबंधी हितों की विशेष सावधानी से अभिवृद्धि करेगा और सामाजिक अन्याय और सभी प्रकार के शोषण से उनकी सुरक्षा करेगा।

परन्तु इस अनुच्छेद की कोई बात अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति के सदस्यो के पक्ष में संघ के या राज्य के मामलों के संबंध में सेवा या पदों के किसी वर्ग या वर्गों में पदोन्नति के मामलों में आरक्षण के लिए किसी परीक्षा में अर्हता अंको या मूल्यांकन के मानक को कम करने में शिथिलीकरण के लिए कोई प्रावधान करने में निवारित नहीं करेगी।

अनुच्छेद 335 सेवाओं और पदों के लिए अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के दावे- संघ या किसी राज्य के कार्यकलाप से सम्बधित सेवाओं और पदों के लिए नियुक्तियाँ करने मे, अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के सदस्यों के दावों का, प्रशासन की दक्षता बनाये रखने की संगति के अनुसार ध्यान रखा जायेगा।

अनुच्छेद 338 अनुसूचित जाति के लिए राष्ट्रीय आयोग

अनुसूचित जातियों के लिए एक आयोग होगा जिसे 'राष्ट्रीय अनुसूचित जाति आयोग' के नाम से जाना जायेगा।

नोट

संसद द्वारा इस निमित्त बनाई किसी विधि के उपबन्धों के अधीन रहते हुए, आयोग एक अध्यक्ष और उपाध्यक्ष तीन अन्य सदस्यों से मिलकर बनेगा और इस प्रकार नियुक्त किए गए उपाध्यक्ष, उपाध्यक्ष और सदस्यों की सेवा की शर्तों, और पदावधि ऐसी होगी, जो राष्ट्रपति नियम द्वारा अवधारित करें।

राष्ट्रपति अपने हस्ताक्षर और मुद्रा सहित अधिपत्र द्वारा आयोग के अध्यक्ष, उपाध्यक्ष और अन्य सदस्यों को नियुक्त करेगा।

आयोग को अपनी प्रकिया स्वयं विनियमित करने की शक्ति होगी।

आयोग का यह कर्तव्य होगा कि वह -

(क) इस आयोग के अधीन अथवा तत्समय प्रवृत किसी विधि के अधीन अथवा सरकार के किसी आदेश के अधीन अनुसूचित जातियों के लिए उपलब्धि संरक्षण (सुरक्षोपाय) से संबधित सभी विषयों की जाँच एवं अन्वीक्षा करे और ऐसे सुरक्षोपाय के क्रियान्वयन की समीक्षा करें

(ख) अनुसूचित जातियों के सुरक्षोपाय एवं अधिकारों से वंचित करने से सम्बंधित विनिर्दिष्ट शिकायतों की जांच करे।

(ग) अनुसूचित जातियों के सामाजिक - आर्थिक विकास की योजना - प्रकिया में भाग लें तथा राय दे और संघ एवं राज्यों में उनके विकास की प्रगति की समीक्षा करे।

(घ) सुरक्षोपाय के क्रियान्वयन के संबंध में राष्ट्रपति को वार्षिक अथवा अन्य समुचित समय पर प्रतिवेदन प्रस्तुत करे।

(ङ) प्रतिवेदनों में ऐसे उपाय सुझायें जिन्हें अनुसूचित जातियों के उपर्युक्त सुरक्षोपायों तथा उनके संरक्षण कल्याण एवं सामाजिक-आर्थिक विकास के प्रभावी क्रियान्व्यन हेतु संघ अथवा राज्यों द्वारा लागु किया जा सके,

(च) अनुसूचित जातियों के संरक्षण, कल्याण, विकास एवं उत्थान से सम्बंधित ऐसे कृत्यों का निर्वहन करे जो राष्ट्रपति द्वारा (संसद द्वारा निर्मित विधि के प्रावधानों के अधीन रहते हुए) नियमों के अधीन विनिर्दिष्ट किये जाये।

राष्ट्रपति ऐसे सभी प्रतिवेदनों को संसद के प्रत्येक सदन के समक्ष रखवाएगा और उसके साथ संघ से सम्बधित सिफारिशों पर की गई या किए जाने के लिए प्रस्थापित कार्यवाही तथा यदि कोई ऐसी सिफारिश अस्वीकृत की गई तो अस्वीकृतो के कारणों को स्पष्ट करने वाला ज्ञापन भी होगा।

जहां कोई ऐसा प्रतिवेदन या उसका कोई भाग किसी ऐसे विषय से सम्बन्धित है जिसका किसी राज्य सरकार से सम्बन्ध है, तो ऐसे प्रतिवेदन की एक प्रति उस राज्य के राज्यपाल को भेजी जाएगी, जो उसे राज्य के विधान मंडल के समक्ष -रखवाएगा और उसके साथ राज्य से संबन्धित सिफारिशों पर की गई या किए जाने के लिए प्रस्थापित कार्यवाही तथा यदि कोई ऐसी सिफारिश अस्वीकृत की गई है, तो अस्वीकृति के कारणों को स्पष्ट करने वाला ज्ञापन भी होगा।

योग को खण्ड (5) के उपखण्ड (क) में निर्दिष्ट किसी विषय पर अन्वेषण करते समय या उपखण्ड (ख) में निर्दिष्ट किसी परिवाद के बारे में जांच करते समय, विशिष्टतया निम्नलिखित विषयों के संबंध में वे सभी शक्तियां होंगी जो वाद का विचारण करते समय सिविल न्यायालय

नोट

को हैं, अर्थात्

(क) भारत के किसी भी भाग से किसी भी व्यक्ति को समन करना और हाजिर कराना तथा शपथ पर उसकी परीक्षा करना,

(ख) किसी दस्तावेज को प्रकट और पेश करने की अपेक्षा करना

(ग) शपथ -पत्रों पर साक्ष्य ग्रहण करना

(घ) किसी न्यायालय या कार्यालय से किसी लोक अभिलेख या उसकी प्रति की अपेक्षा करना

(ङ) साक्षियों और दस्तावेजों की परीक्षा के लिए कमीशन निकालना,

(च) कोई अन्य विषय, जो राष्ट्रपति नियम द्वारा अवधारित करे

संघ और प्रत्येक राज्य सरकार अनुसूचित जातियों को प्रभावित करने वाले सभी महत्वपूर्ण नीतिगत विषयों पर आयोग से परामर्श करेगी।

इस अनुच्छेद में अनुसूचित जातियों के प्रति निर्देश का यह अर्थ लगाया जाएगा कि इसके अन्तर्गत ऐसे अन्य पिछड़े वर्गों के प्रति भी निर्देश है, जिनको राष्ट्रपति अनुच्छेद 340 के खण्ड (1) के अधीन नियुक्त आयोग के प्रतिवेदन की प्राप्ति पर आदेश द्वारा विनिर्दिष्ट करे, और आंग्ल-भारतीय समुदाय के प्रति निर्देश भी है।

अनुच्छेद 339- अनुसूचित क्षेत्रों के प्रशासन और अनुसूचित जनजातियों के कल्याण के बारे में संघ का नियंत्रण

राष्ट्रपति राज्यों के अनुसूचित क्षेत्रों के प्रशासन और अनुसूचित जनजातियों के कल्याण के बारे में प्रतिवेदन देने के लिए आयोग की नियुक्ति, आदेश द्वारा, किसी भी समय कर सकेगा और इस संविधान के प्रारम्भ से दस वर्ष की समाप्ति पर करेगा।

संघ की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार किसी राज्य को ऐसे निर्देश देने तक होगा जो उस राज्य की अनुसूचित जनजातियों के कल्याण के लिए निर्देश में आवश्यक बताई गई स्कीमों के बनाने और निष्पादन के बारे में है।

अनुच्छेद 341 अनुसूचित जातियाँ

राष्ट्रपति, किसी राज्य या संघ- राज्यक्षेत्र के सम्बन्ध में और जहाँ वह राज्य है वहां उसके राज्यपाल से परामर्श करने के पश्चात् लोक अधिसूचना द्वारा, उन जातियों, मूलवंशो या जनजातियों अथवा जातियों, मूलवंशो या जनजातियों के भागों या उनमें के यूथो को विनिर्दिष्ट कर सकेगा, जिन्हें इस संविधान के प्रयोजनों के लिए यथास्थिति, उस राज्य या संघ राज्यक्षेत्र में अनुसूचित जातियां समझा जायेगा।

संसद, विधि द्वारा किसी जाति, मूलवंश या जनजाति को अथवा जाति, मूलवंश या जनजाति के भाग या उसमें के यूथ को खंड (1) के अधीन निकाली गई अधिसूचना में विनिर्दिष्ट अनुसूचित जातियों की सूची में सम्मिलित कर सकेगी या उसमें से अपवर्जित कर सकेगी, किन्तु जैसा ऊपर कहा गया है। उसके सिवाय उक्त खंड के अधीन निकाली गई अधिसूबना में किसी पश्चातवर्ती अधिसूचना द्वारा परिवर्तन नही किया जायगा।

अनुच्छेद 342 अनुसूचित जनजातियाँ

राष्ट्रपति किसी राज्य या संघ-राज्यक्षेत्र के सम्बंध में और जहां वह राज्य है वहाँ उसके राज्यपाल से परामर्श करने के पश्चात, लोक अधिसूचना द्वारा, उन जनजातियों या जनजातिसमुदायो के भागों या

उनमें के यूथों को विनिर्दिष्ट कर सकेगा, जिन्हें इस संविधान के प्रयोजनों के लिए यथास्थिति, उस राज्य या संघ-राज्यक्षेत्र के सम्बंध में अनुसूचित जनजातियाँ समझा जायेगा।

संसद, विधि द्वारा, किसी जनजाति या जनजाति समुदाय को अथवा किसी जनजाति या जनजाति समुदाय के भाग या उसमें के यूथ को खंड (1) के अधीन निकाली गई अधिसूचना में विनिर्दिष्ट अनुसूचित जनजातियों की सूची में सम्मिलित कर सकेगी या उसमें से अपवर्जित कर सकेगी, किन्तु जैसा उक्त खंड के अधीन निकाली गई अधिसूचना में किसी पश्चातवर्ती अधिसूचना दवारा परिर्वतन नहीं किया जायेगा।

नोट

वंचित वर्ग की शिक्षा

सर्वप्रथम सन् 1882 में दादा भाई नारोजी ने भारतीय शिक्षा आयोग के समक्ष शिक्षा को अनिवार्य करने का प्रस्ताव किया था। किन्तु अंग्रेजों ने इसे- अस्वीकार कर दिया। 1910 - 12 में गोपाल कृष्ण गोखले ने पुनः यह प्रस्ताव रखा। इस पर भी ध्यान नहीं दिया गया। 1937 में गाँधीजी ने बुनियादी शिक्षा योजना देकर अनिवार्य एवं निःशुल्क शिक्षा का प्रावधान रखा। योग्यता एवं साधनहीनता के आधार पर छात्रवृत्तियो भी प्रारम्भ की गई। स्वतंत्रता के पश्चात् ये प्रयास अत्यधिक ब है।

अनुसूचित जाति की शिक्षा

इनकी स्थिति समाज में अलग-थलग सी थी। परिणामस्वरूप ये शिक्षा से वंचित रहे। संविधान की धारा 17 में अस्पृश्यता निवारण का प्रावधान किया गया है। अछूतों को सभी सार्वजनिक स्थानों, धार्मिक स्थानों का उपयोग करने की छुटप संविधान की धारा 15 एवं 25 में उल्लेखित है। धारा 29 में सरकारी अथवा अनुदानित शिक्षण संस्थाओं में प्रवेशित होने का अधिकार प्राप्त है। इसके अतिरिक्त भारतीय संविधान की धारा 16,46,164 न 335 में भी अनुसूचित जाति को अधिकाधिक अवसर प्रदान कर आगे लाने हेतु प्रावधान किये गये है।

इन विभिन्न संवैधानिक प्रावधानों के अनुसार अनुसूचित जाति के वंचित वर्ग को शैक्षिक अवसर प्रदान करने हेतु अनेक प्रोत्साहन दिये जा रहे है। निःशुल्क शिक्षा, आवासीय व्यवस्था, छात्रवृत्तियों आदि। नई शिक्षा नीति में इन सब सुविधाओं के साथ गणवेश, पुस्तकें, स्टेशनरी, आदि भी निःशुल्क उपलब्ध करवाने की सुविधा दी गई है।

अनुसूचित जनजाति की शिक्षा

अनुसूचित जातियों की भांति अनुसूचित जनजाति के लोग भी सामाजिक, आर्थिक एवं शैक्षिक दृष्टि से पिछड़े हुए कहा है। इस समूह में भील, मीणा आदि आदिवासी सम्मिलित है। ढेबर कमीशन (1960-61) के सुझावों के सरकार ने अनुसूचित जनजाति के बच्चों के लिए निःशुल्क शिक्षा व्यवस्था के साथ निःशुल्क मध्याहन भोजन, वस्त्र पुस्तकें, लेखन सामग्री आदि भी प्रदान की जाती है। कोठारी कमीशन (1964-66) ने अनुसूचित जनजाति के विरल आबादी (Spreadly Populated Agrrees) वाले क्षेत्रों में आश्रम स्कूल जिसमें निःशुल्क शिक्षा, आवास, भोजन, वस्त्र, पढ़ने-लिखने की व्यवस्था आदि की सिफारिश की।

निर्दिष्ट जनजाति की शिक्षा

इन्हें अपराधाशील अथवा जरायम पेशा जनजाति भी कहा जाता है। ये जनजाति भी अनुसूचित जनजाति की भांति सुदूर पहाडी, जंगली, रेगिस्तानी आदि क्षेत्रों में बसने वाली जाति है। इस जाति के लोग

नोट

पहले चोरी, डकैती तथा अपराधा करते थे। स्वाधीनता के पश्चात् इन्हें वह शैक्षिक सुविधाएं प्राप्त हो रही है जो अनुसूचित जाति धजनजाति को प्राप्त है। सरकारी नौकरियों में आरक्षण होने के कारण ये जातियों अपराधी प्रवृत्ति त्याग चुकी है। इसीलिए इन्हें जरायम पेशा या अपराधाशील जनजाति न पुकार कर निर्दिष्ट जनजाति कहना प्रारम्भ कर दिया

भ्रमणशील जनजाति की शिक्षा

अनुसूचित जाति अथवा जनजाति की तुलना में भ्रमणशील अथवा खानाबदोश जनजाति सामाजिक-आर्थिक दृष्टि से अधिक पिछडी रही है। जैसे बंजारे, गाडोलिया लुहार आदि का कोई स्थायी नहीं होता। ये एक स्थान से दूसरे स्थान पर भ्रमण करते रहते है। ऐसे बच्चों की शिक्षा व्यवस्था होना बहुत कठिन है। इन्हें सरकार की ओर से अनेक सुविधाएं प्राप्त है फिर ये धुमक्कड जीवन नहीं छोड़ते। ऐसे लोगो के लिए भ्रमणशील पाठशालाएं, दूरस्थ शिक्षा, मुक्त विद्यालय आदि ही अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकती है।

5.21 वंचित (निर्बल) वर्गों की शिक्षा की वर्तमान स्थिति

निर्बल वर्गों की शैक्षिक स्थिति अत्यंत शोचनीय है, सदियों से विभिन्न सामाजिक परिस्थितियों के कारण ये शिक्षा प्राप्ति के अवसरों से वंचित रहे हैं। वर्ष 2001 की जनगणना के अनुसार अनुसूचित जाति, जनजाति क्या अन्य पिछड़ी जातियों का साक्षरता दर अन्य वर्गों की तुलना में अत्यंत कम है। निर्बल वर्गों की महिलाओं की साक्षरता दरें तो और भी अधिक शोचनीय दृष्टिगोचर होती है। शिक्षा के प्राथमिक सार को छोडकर अन्य स्तरों पर निर्बल वर्ग की बालक-बालिकाओं की नामांकन दर भी सामान्य से काफी कम है। शिक्षा के सभी स्तरों पर निर्बल वर्गों के छात्रों में स्कूल छोड़ने की दरें (Drap out rates) अत्यंत ऊंची पाई गई है। निर्बल वर्गों की वर्तमान शैक्षिक स्थिति को प्रतिबिम्बित करने वाले कुछ अहकडे आगे सारणियों में प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

सारणी : वंचित (निर्बल) वर्गों में साक्षरता दरें

	अनुसूचित जाति	अनुसूचित जनजाति	पिछड़ा वर्ग	कुल जनसंख्या
पुरुष	39%	30%	65%	75-85%
महिला	20%	14%	45%	54-16%
कुल	30%	22%	55%	65-38%

सारणी : वंचित (निर्बल) वर्गों के बच्चों का प्राथमिक विद्यालयों में नामांकन

शैक्षिक	अनुसूचित जाति	अनुसूचित पिछड़ा जनजाति वर्ग	कुल
1980 - 81	बालक 72 लाख	31 लाख 2 करोड़ 20 लाख	5 करोड़ 53 लाख
	बालिका 38 लाख	15 लाख 1 करोड़ 15 लाख	2 करोड़ 85 लाख
	कुल 1 करोड़ 10 लाख	46 लाख 3 करोड़ 35 लाख	7 करोड़ 38 लाख
1980 - 81	बालक 97 लाख	49 लाख 2 करोड़ 45 लाख	5 करोड़ 81 लाख

नोट

	बालिका 63 लाख	30 लाख 1 करोड़ 70 लाख	4 करोड़ 10 लाख
	कुल 1 करोड़ 60 लाख	79 लाख 4 करोड़ 15 लाख	9 करोड़ 91 लाख
2000 - 01	बालक 124 लाख	65 लाख 2 करोड़ 90 लाख	6 करोड़ 89 लाख
	बालिका 98 लाख	40 लाख 1 करोड़ 95 लाख	4 करोड़ 95 लाख
	कुल 2 करोड़ 22 लाख	1 करोड़ 4 करोड़ 85 लाख	11 करोड़ 84 लाख

सारणी : वंचित (निर्बल) वर्गों में स्कूल-त्याग की दरें

कक्षा स्तर	अनुसूचित जाति	अनुसूचित जनजाति	पिछड़ा वर्ग	कुल सामान्य
I दृ V	50%	30%	48%	42%
VI दृ VIII	30%	38%	27%	25%

वंचित (निर्बल) वर्ग के प्राथमिक शिक्षा से स्कूल त्याग की दरें (2004-05)

वर्ग	प्राथमिक (I to V)			उच्च प्राथमिक (I to VIII)		
	बालक	बलिका	कुल	बालक	बलिका	कुल
अनुसूचित जाति	32.7	36.1	34.2	55.2	60.0	57.3
अनुसूचित जनजाति	46.6	42.0	42.3	65.0	67.1	65.9
सभी	31.8	25.4	29.0	50.5	51.3	50.8

ये सभी आंकड़े अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति तथा पिछड़ी जातियों की शैक्षिक स्थिति को कुल जनसंख्या की शैक्षिक स्थिति के सापेक्ष तुलनात्मक रूप से प्रस्तुत करते हैं। इनके अवलोकन से स्पष्ट हो जाता है कि अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति तथा पिछड़े वर्गों की शैक्षिक प्रगति की दर सामान्य से काफी पीछे है।

5.22 अनुसूचित जातियों की शिक्षा

संविधान के अनुच्छेद 15(4) में राज्यों को नागरिकों के सामाजिक तथा शैक्षिक दृष्टि से पिछड़े वर्गों और अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजाति के लोगों के उत्थान के लिये विशेष उपाय करने का अधिकार प्रदान किया गया है। सरकार ने अनुच्छेद 15 तथा 16 पर गम्भीरता से विचार किया और 1979 में दवितीय पिछडा आयोग (मण्डल आयोग) का गठन किया। आयोग ने कुछ महत्वपूण र्ा बातों पर विचार किया -

1. सामाजिक तथा शैक्षिक रूप से पिछड़े वर्गों की पहचान क्या है?
2. सामाजिक तथा शैक्षिक रूप से पिछड़े वर्गों के उत्थान के लिये क्या उपाय किये जायें।
3. जिन पिछड़े (वंचित) वर्गों को नागरिक सेवा में उचित प्रतिनिधित्व नहीं मिला, उनकी नियुक्तियों में स्वैच्छिक अथवा अन्य तरह से आरक्षण का प्रावधान रखना।

पीछे चर्चा की जा चुकी है। भारतीय संविधान में सदियों से शैक्षिक-सामाजिक-आर्थिक रूप से वंचित रही कतिपय जातियों को अनुसूचित जातियों के रूप में इंगित करके उनकी प्रगति के लिए विशेष प्रयास करने के प्रावधान किये गये हैं। ये उपेक्षित जातियाँ भिन्न-भिन्न सामाजिक कारणों से

विद्या के प्रकाश से वंचित रही हैं। इनकी शिक्षा तथा मार्ग में आने वाली कठिनाइयों तथा इनकी शिक्षा के लिए किये जाने वाले विशेष प्रयासों की चर्चा इस खण्ड में की जा रही है।

नोट

5.23 अनुसूचित जातियों के शैक्षिक पिछड़ेपन के कारण

अनुसूचित जातियों के शैक्षिक पिछड़ेपन के लिए तत्कालीन भारतीय समाज की सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक परिस्थितियाँ प्रमुख रूप से उत्तरदायी हैं। परिस्थितिवश उनको शिक्षा-प्राप्ति के अवसरों से वंचित कर दिया गया तथा वे पीढी दर पीढी निरक्षरता के अभिशाप को झेलने के लिए विवश होते रहे। स्वतन्त्रता के उपरान्त इनकी शिक्षा पर ध्यान दिया गया परन्तु अभी भी वे शिक्षा की दृष्टि से अन्यों के समकक्ष नहीं हो सके हैं। अनुसूचित जातियों के शैक्षिक पिछड़ेपन के कुछ प्रमुख कारण निम्नवत हैं

(i) सामाजिक रूढ़िवादिता, कुरीतियाँ तथा अंधाविश्वास

(ii) माता-पिता की निर्धानता

(iii) माता-पिता की निरक्षरता

(iv) परिवार के कार्यों का बालक - बालिकाओं पर उत्तरदायित्व

(v) बालक - बालिकायें माता-पिता के लिये आय का साधन

(vi) शिक्षा के महत्व को न समझना

(vii) अध्यापकों का नकारात्मक दृष्टिकोण

(vii) घर के पास स्कूलों का न होना

(ix) स्कूलों का अरूचिकर वातावरण

उपरोक्त वर्णित कारणों से अनुसूचित जाति के बालक-बालिकाओं या तो स्कूल की नहीं जाते अथवा विभिन्न आर्थिक व सामाजिक कारणों से नामांकन कराने के कुछ दिन के पश्चात स्कूल जाना बंद कर देते हैं। अभावग्रस्त माता-पिता शिक्षा के महत्व को नहीं समझते हैं तथा लालचवश बच्चों को किसी काम धंधों में लगा देते हैं। अनुसूचित जातियों के बच्चों को स्कूल में अध्यापक तथा अन्य छात्र हीन दृष्टि से देखते हैं। ये सभी बाते उनकी शिक्षा में बाधक बन जाती हैं।

5.24 अनुसूचित जाति की शिक्षा के लिए प्रयास

स्वतंत्रता के उपरान्त हमारे देश में अनुसूचित जातियों की शिक्षा के लिये अनेक प्रयास किये गये हैं। इनमें से कुछ प्रयास निम्नवत प्रस्तुत हैं -

(i) अनुसूचित जातियों के बालक-बालिकाओं के लिए नि:शुल्क शिक्षा तथा पुस्तकीय सहायता।

(ii) अनुसूचित जातियों के छात्रों के लिए विभिन्न पाठ्यक्रमों में प्रवेश हेतु आरक्षण

(iii) अनुसूचित जातियों के अभ्यर्थियों के लिए प्रवेश-परीक्षाओं में अर्ह होने के लिए प्राप्तांको में छूट।

(iv) अनुसूचित जातियों के व्यक्तियों के लिए रोजगार में आरक्षण।

(v) अनुसूचित जातियों के लिए विधानसभा तथा लोकसभा में जनप्रतिनिधि-पदों का आरक्षण।

(vi) अस्पृश्यता-निवारक अधिनियम द्वारा सवर्णों पर नियंत्रण।

नोट

परन्तु अनुसूचित जातियों के राजनीतिक पक्ष के प्रबल होने के कारण क्षुद्र लाभ हेतु राजनीतिक दलों ने अनुसूचित जातियों के विकास की मूल भावना को छोड़कर अपने निहित राजनीतिक स्वार्थ के लिए अनुसूचित जातियों का राजनीतिक दोहन प्रारम्भ कर दिया जिसके परिणामस्वरूप अनुसूचित जातियों की शिक्षा के कार्यक्रम राजनीतिक स्टेट बन कर रह गए तथा अनुसूचित जाति के बालक तथा व्यक्ति उनका कोई विषेश लाभ नहीं उठा सके। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 में अनुसूचित जातियों की शिक्षा के संबंध में निम्नांकित अग्रांकित बातें-कही गई है।

अनुसूचित जातियों के शैक्षिक विकास में केन्द्रिय बल शिक्षा के सभी सोपानों व स्तरों, सभी क्षेत्रों तथा विमाओं-ग्रामीण पुरुषव ग्रामीण महिला, शहरी पुरुषव शहरी महिलासभी विभागों पर उनके अनुसूचित जाति से भिन्न जनसंख्या के साथ समानीकरण पर है।

इस उद्देश्य के लिए वैचारिक उपायों में सम्मिलित है :

i. निर्धान परिवारों को. अपने बच्चे चौदह वर्ष की आयु हो जाने तक नियमित रूप से स्कूल भेजने के लिए प्रोत्साहन।

ii. मैला सफ करने, खाल उतारने तथा चमड़ा कमाने जैसे पेशों में कार्यरत परिवारों के बच्चों को पूर्व मैट्रिक छात्रवृति योजना कक्षा एक से लागू करना। ऐसे परिवारों के सभी बच्चों को, उनकी आयु पर ध्यान दिये बिना, इस योजना में लाया जायेगा तथा समयबद्ध कार्यक्रम चलाये जायेंगे।

iii. अनुसूचित जातियों के छात्रों के नामांकन स्थायित्व तथा पाठ्यक्रमों की सफलतापूर्वक पूर्णता किसी भी स्तर पर कम न हो, को सुनिश्चित करने के लिए तथा उनकी भावी शिक्षा तथा रोजगार की संभावनाओं को समुन्नत करने के लिए उपचारात्मक पाठ्यक्रमों के प्रावधान को सुनिश्चित करने के लिए सतत सूक्ष्म नियोजन व संपुष्टिकरण

iv. अनुसूचित जातियों से अध्यापकों की नियुक्ति

v. जिला केन्द्रों पर एक क्रमबद्ध कार्यक्रम के अनुसार छात्रवासों में अनुसूचित जाति के छात्रों के लिए सुविधाओं का प्रावधान।

vi. विद्यालयों भवनों, बालवाड़ियो तथा पौढ़ शिक्षा केन्द्रों की स्थिति इस प्रकार से कि अनुसूचित जातियों को पूर्ण सहभागिता में सुविधा।

vii. जवाहर रोजगार योजना संसाधनों का इस प्रकार से उपयोग कि अनुसूचित जातियों को पर्याप्त शैक्षिक सुविधायें सुलभ हो सकेय तथा

viii. शैक्षिक प्रक्रिया में अनुसूचित जातियों की सहभागिता को बढ़ाने के लिए नई विधियों को जानने के लिए सतत नवाचार।

राष्ट्रीय शिक्षानीति के इन संकल्पों को पूरा करने के लिए कार्यक्रम (POA) तैयार किया गया तथा केन्द्र तथा राज्य सरकारों के द्वारा अनेक योजनाओं का क्रियान्वयन किया जा रहा है अथवा किये जाने का विचार है। इनमें से कुछ योजनायें निम्नवत प्रस्तुत है -

i. पोस्ट मैट्रिक छात्रवृत्तियाँ

ii. स्वैच्छिक संगठनों को अनुदान

iii. पूर्व-मैट्रिक छात्रवृत्तियाँ

iv. पुस्तक बैंक की स्थापना

नोट

v. छात्रवास की सुविधा
vi. कोचिंग योजनायें
vii. शिक्षा-संस्थानों में आरक्षण
viii. रोजगार में आरक्षण
ix. प्रोढ़ शिक्षा / अनौपचारिक शिक्षा केन्द्र
x. उपचारात्मक शिक्षण केन्द्र

इनके अतिरिक्त अत्यन्त निम्न साक्षरतावाली अनुसूचित जातियों की लड़कियों के लिए विषेश शैक्षिक विकास कार्यक्रम चलाने की योजना को केन्द्र ने स्वीकृति दी है। यहाँ यह ध्यान देने योग्य बात है कि इन सभी विशेष कार्यक्रमों के अतिरिक्त नये विद्यालय खोलने, अनौपचारिक शिक्षा केन्द्र तथा प्रौढ शिक्षा केन्द्र चलाने, अह्परेशन श्यामपट जैसी योजनाओं में अनुसूचित जातियों के शैक्षिक विकास पर विशेष बल दिया गया है एवं उनके लिए शिक्षा संस्थाओं में आरक्षण की व्यवस्था की गई है। आशा की जा सकती है कि इन सभी योजनाओं का लाभ अनुसूचित जातियों के बाल-बालिकाओं को मिलेगा तथा आने वाले वर्षों में अनुसूचित जातियाँ शैक्षिक विकास की दृष्टि से अन्यों के समकक्ष आ सकेगी।

5.25 अनुसूचित जनजातियों की शिक्षा

जैसा कि चर्चा की जा चुकी है, जनजातियाँ आधुनिक सभ्यता से दूर जंगलों, पहाड़ी क्षेत्रों अथवा बीहड़ों में रहती है। यद्यपि इनकी सांस्कृतिक विरासत अत्यंत समृद्ध है परन्तु ये समुदाय अपनी भौगोलिक स्थिति के दुर्गम होने के कारण अन्य समुदायों के सम्पर्क से काफी लम्बे अरसे तक अछूते रहे हैं। शिक्षा की आवश्यकता तथा उसके महत्व को न समझने के कारण ये समुदाय शिक्षा के माध्म से होने वाले विकास का लाभ प्राप्त करने में असमर्थ रहे हैं। प्रस्तुत खंड में जनजातियों की शिक्षा में आने वाली कठिनाईयों तथा इनकी शिक्षा के लाइए किये जाने वाले उपायों की चर्चा की गई है।

5.26 अनुसूचित जनजातियों के शैक्षिक पिछड़ेपन के कारण

अनुसूचित जनजातियों के शैक्षिक पिछड़ेपन का मुख्य कारण उनका समाज से अलगथलग रहना है। इनके शैक्षिक पिछड़ेपन को दूर करने के लिए स्वतंत्र भारत में अनके उपाय किये गए परन्तु फिर भी अभी तक वे शिक्षा की दृष्टि से पिछड़े हुए है। अनुसूचित जनजातियों के शैक्षिक पिछडेपन के प्रमुख कारण निम्नवत लिखे जा सकते है–

1. धुमक्कड प्रवृत्ति
2. सभ्य समाज से दूर निवास
3. विशाल भूखंड में फैली बस्तियाँ
4. विशिष्ट भाषायें तथा बोलियाँ
5. रूढ़िवादी मानसिकता
6. इनकी भाषाओं में पाठ्यपुस्तकों की अनुपलब्धता
7. शिक्षा के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण का अभाव

8. पारिवारिक पेशों में लगे रहना
9. स्कूल का वातावरण मनोनुकूल न होना

उपरोक्त कारणों से जनजातियाँ शैक्षिक विकास का सही ढंग से लाभ उठाने से वंचित रही हैं। धुमक्कड प्रवृत्ति, भाषायी समस्या, शिक्षा के प्रति दृष्टिकोण का अभाव, दुर्गम क्षेत्रों में निवार। जैसे कारणों की वजह से जनजातियों के बालक-बालिकाओं का शैक्षिक विकास अवरूद्ध रहा है। पारिवारिक पेशे में लगे रहने के कारण भी वे शिक्षा-प्राप्ति से वंचित रह जाते हैं।

नोट

5.27 अनुसूचित जनजातियों की शिक्षा के लिए प्रयास

जनजातियाँ जंगलों, पर्वतों अथवा दुर्गम स्थानों में निवास करती हैं। आधुनिक सभ्यता से सम्पर्क न होने के कारण इनकी शिक्षा पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया जा सका। ब्रिटिश काल में मिशनरियों ने धार्मान्तरण के लिए इन पर ध्यान केन्द्रित किया तथा इनकी शिक्षा की व्यवस्था की। हंटर आयोग (1882) ने जनजातियों की शिक्षा के सम्बन्ध में सुझाव दिये थे कि इन्हें नि:शुल्क। शिक्षा दी जाये तथा इनकी शिक्षा-व्यवस्था के लिए अतिरिक्त अनुदान दिए जायें। स्वतंत्रता के उपरान्त अनुसूचित जनजातियों को राष्ट्र की मुख्य धारा में प्रवेश कराने तथ उनकी शैक्षिक प्रगति करने के लिए विशेष प्रयास किये गये। जनजाति बहुल क्षेत्रे में अनेक विद्यालय खोले गये एवं छात्रवृत्तियाँ, पुस्तक अनुदान, छात्रवास आदि के लिए अनुदान की व्यापक स्तर पर व्यवस्था करके जनजातियों के बालक-बालिकाओं को शिक्षा-प्राप्ति के अधिक से अधिक अवसर प्रदान किए गए।

वर्ष 1960-61 में श्री **यू.एन. ढेबर** की अध्यक्षता में गठित आयोग ने जनजातियों की समस्याओं का अध्ययन करके निम्न सुझाव दिए

1. जनजातियों के बालक-बालिकाओं के, लिए वास्तविक अधिगम सामग्री तथा मध्यान्ह भोजन की व्यवस्था नि:शुल्क की जानी चाहिए।
2. जनजाति बहुल क्षेत्रों में स्थित विद्यालयों में किसी क्राफ्ट, किसी शिल्प अथवा तकनीकी शान पर जोर दिया जाना चाहिये।
3. ऐसे विद्यालयों में नियुक्त अध्यापकों को जनजातियों के जीवन और संस्कृति का पर्याप्त ज्ञान होना चाहिए।
4. ऐसे विद्यालयों में नियुक्त अध्यापकों के लिए आवास तथा अतिरिक्त भत्ते की व्यवस्था की जानी चाहिए।
5. जनजातीय क्षेत्रों में शिक्षक-प्रशिक्षक केन्द्रो की स्थापना की जानी चाहिए जिससे गैर जनजातीय अध्यापक उस परिवेश को समझ सके जहाँ उन्हें शिक्षण कार्य करना है।
6. जनजातियों की भाषाओं का विकास किया जाना चाहिए तथा शिक्षा के माध्म के रूप में उन्हें प्रयुक्त किया जाना चाहिए।
7. जनजातीय भाषाओं में पुस्तकें तैयार की जानी चाहिए।

सन् 1964-66 में डह्. दौलतसिंह कोठारी की अध्यक्षता में नियुक्त शिक्षा आयोग ने जनजातियों की शिक्षा के लिए अनेक महत्वपूर्ण सुझाव दिए थे। कुछ महत्वपूर्ण सुझाव निम्नवत हैं -

1. विरल आबादी वाले जनजाति क्षेत्रों में स्कूलों की स्थापना
2. आश्रम स्कूलों की स्थापना

नोट

3. छात्रवासों को सुविधा प्रदान की जानी चाहिए।
4. छात्रवृत्तियाँ अधिक मात्र में दी जानी चाहिए।
5. शिक्षा का माध्म जनजातीय भाषा / प्रादेशिक भाषा होनी चाहिए।
6. माधमिक स्तर के नये विद्यालय खोले जाने चाहिए।
7. माधमिक तथा उच्च स्तर पर जनजातियों की शिक्षा के लिए विषेश व्यवस्था की जानी चाहिए।
8. जनजातियों के होनहार व्यक्तियों की प्रतिभा का उपयोग किया जाना चाहिए।
9. जनजातियों की शिक्षा-प्रसार में कार्यरत संस्थाओं को उदारतापूर्वक अनुदान दिए जाने चाहिए।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति, 1986 में अनुसूचित जनजातियों की शिक्षा पर विषेश बल दिया गया है। उनका शैक्षिक उत्थान करके अन्य जातियों के समान लाने के लिए निम्न बातें कही गई हैं।

5.28 अनुसूचित जातियों को अन्यों के समकक्ष लाने के लिए निम्न उपाय तत्काल किये जायेंगे

(i) जनजातीय क्षेत्रों में प्राथमिक विद्यालय खोलने की प्राथमिकता दी जायेगी। जवाहर रोजगार योजना, जनजाति कल्याण आदि के साथ-साथ शिक्षा के सामान्य कोश से इन क्षेत्रों में विद्यालय - भवन के निर्माण को प्राथमिकता दी जायेगी।

(ii) अनुसूचित जनजातियों के सामाजिक, सांस्कृतिक माहौल की कुछ अपनी विशेषतायें हैं जिनमें उनकी बोली जाने वाली भाषायें भी हैं। इससे प्रारम्भिक स्तरों पर जनजातीय भाषाओं में पाठ्यक्रम तैयार करने तथा अनुदेशन सामग्री बनाने की आवश्यकता प्रतीत होती है। इसमे व्यवस्था इस बात की भी करनी होगी कि बाद में क्षेत्रीय भाषा में शिक्षा दी जा सके।

(iii) जनजातीय क्षेत्रों में शिक्षण कार्य करने के लिए अनुसूचित जातियों के शिक्षित तथा होनहार युवाओं को प्रोत्साहित तथा प्रशिक्षित किया जायेगा।

(iv) आश्रम विद्यालय सहित आवासीय विद्यालयों को बड़ी मात्र में खोला जायेगा।

(v) अनुसूचित जनजातियों की विशेष आवश्यकताओं तथा जीवन शैलियों को ध्यान में रखकर प्रोत्साहन योजनायें बनायी जायेगी। उच्च शिक्षा के लिए दी जाने वाली छात्रवृत्तियों में तकनीकी तथा व्यावसायिक पाठ्यक्रमों पर जोर दिया जायेगा। विभिन्न पाठ्यक्रमों में उनके निष्पादन को उन्नत करने के लिए उनके मनो-शारीरिक हीनता को दूर करने के लिए विषेश उपचारात्मक पाठयक्रम तथा अन्य कार्यक्रम चलाये जायेंगे।

(vi) अनुसूचित जनजाति बहुल क्षेत्रों में आंगनवाड़ी तथा अनौपचारिक व प्रोढ़ शिक्षा-केन्द्र प्राथमिकता के आधार पर खोले जायेंगे।

(vii) शिक्षा के सभी स्तरों पर पाठ्यक्रम इस प्रकार से बनाया जायेगा कि जनजातीय व्यक्तियों की समृद्ध सांस्कृतिक पहचान के साथ-साथ उनकी व्यापक, सृजनात्मक प्रतिभा के प्रति जागरूकता पैदा हो सके।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति, 1986 के संकल्पों को कार्यरूप देने के लिए सन् 1986 और सन् 1992 में बनाये गये कार्यान्वयन कार्यक्रमों में (POA's) जनजातियों की शिक्षा के लिए अनके उपायों को सम्मलित किया गया है। केन्द्र तथा राज्य सरकारों के द्वारा इस दिशा में किये जा रहे अथवा प्रस्तावित कुछ योजनाएँ अग्रांकित प्रस्तुत हैं।

(i) छात्रवृत्तियाँ प्रदान करना।

(ii) छात्रवास की सुविधा उपलब्ध कराना।

(iii) जनजातीय क्षेत्रों में स्कूल खोलना।

(iv) शिक्षा संस्थानों में आरक्षण।

(v) रोजगार में आरक्षण।

(vi) कोचिंग कक्षाएँ चलाना।

(vii) अनौपचारिक शिक्षा केन्द्र खोलना

(viii) पुस्तक अनुदान देना।

(ix) उपचारात्मक शिक्षण की व्यवस्था करना।

आशा की जाती है कि इन उपायों से अनुसूचित जातियों की शिक्षा को गति मिल सकेगी तथा वे शैक्षिक दृष्टि से अन्यों के समकक्ष आ सकेंगे।

नोट

5.29 पिछड़े वर्गों की शिक्षा

पिछड़े वर्गों में वे जातियाँ आती हैं जो आर्थिक तथा शैक्षिक दृष्टि से पिछड़ी हुई हैं। सामाजिक दृष्टि से ये जातियाँ अन्यों के समान हैं तथा ये जातियाँ कभी भी उपेक्षित नहीं रही हैं। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि पिछड़ी जातियों में वर्ण व्यवस्था की तथाकथित उच्च वर्ण ब्राह्मण, क्षत्रि तथा वैश्य जातियों की वे उपजातियाँ हैं जो समय की मार के कारण आर्थिक रूप से हीन तथा शैक्षिक विकास की दृष्टि से पिछड़ गई है। यहाँ यह भी स्पष्ट करना उचित ही होगा कि भारतीय संविधान में 'पिछड़ी जाति' शब्द का प्रयोग न होकर 'पिछड़ा वर्ग (Backward Class) शब्द का प्रयोग हुआ है परन्तु पिछड़े वर्ग को पहचानने के लिए प्रशासनिक स्तर पर पिछड़ी जातियों को स्वीकार किया गया है। पिछड़े वर्गों में समाहित जातियों की सूची में समय के साथ परिवर्तन होता रहता है। कुछ ऐसी जातियाँ जो अब प्रगति कर गई है, इस रखी से हटाई जा सकती है जबकि पूर्व में अगडी जातियाँ पिछड़े जाने के कारण इस सूची में जोडी जा सकती है। भिन्न-भिन्न राज्यों में पिछड़ी जातियों की सूची भी भिन्न-भिन्न है। कोई जाति एक राज्य में पिछडी है जबकि दूसरे राज्य में वह पिछड़ी नहीं है। पिछड़ी जातियों का आधार प्रायः उनका परम्परागत रोजगार है। पिछड़ी जातियों की शैक्षिक स्थिति अत्यंत हीन है। प्रस्तुत खण्ड में पिछड़े वर्ग की शिक्षा में आई कठिनाईयों तथा उनके निवारण की चर्चा की गई है।

5.30 पिछड़े वर्ग के शैक्षिक पिछड़ेपन के कारण

पिछड़ी जातियों के शैक्षिक पिछड़ेपन का मुख्य कारण उनकी आर्थिक हीनता है। मातापिता की गरीबी उनके बच्चों की शिक्षा में बाधक हुई है। वस्तुतः जहाँ दो समय की रोटी की व्यवस्था न हो वहाँ पढाई - लिखाई की अड़े ध्यान जाने का प्रश्न ही नहीं उठता। छोटे बच्चे घर-गृहस्थी के कार्यों में लगे रहते हैं तथा माता पिता के मजदूरी के लिए जाने पर अपने से छोटे बच्चों की देखभाल करते है। आर्थिक विपन्नता के कारण माता-पिता अपने बच्चों को काम-धंधो में लगाए रखते हैं। जागरूक माता-पिता यदि अपने बच्चों को स्कूल भेजते भी हैं तब भी उनमें से अधिकांश निर्धानता के कारण अपनी पढाई बीच में ही छोड़ देते हैं। भोजन, पोषाक, शुल्क, पाठन-लेखन सामग्री आदि

नोट

की अभावग्रस्तता उनकी शिक्षा में बाधक बन जाती है। पीढी दर पीढी अभावग्रस्तता के कारण वे शिक्षा की दृष्टि से पिछड़ जाते हैं। यहाँ यह बात स्पष्ट रूप से समझ लेने की है कि पिछड़ी जातियों में दृष्टिगोचर होने वाले सम्पन्न एवं शिक्षित परिवार गिने-चुने ही बहुसंख्यक परिवार आर्थिक और शैक्षिक दृष्टि से पिछड़े हुए ही हैं। पिछड़े वर्ग के शैक्षिक पिछडेपन के कारण

1. घरों के पास विद्यालयों का न होना।
2. माता-पिता का साक्षर न होना।
3. परिवार की आर्थिक स्थिति कमजोर होना।
4. विद्यालयों का अरोचक वातावरण।
5. ग्रामीण परिवेश का प्रभाव।
6. सामाजिक रूप से रूढ़िवादिता।
7. बच्चे माता-पिता के लिये आय के साधन।

5.31 पिछड़ी जाति की शिक्षा के लिए किए गए प्रयास

केन्द्र तथा राज्य सरकारों ने पिछड़ी जातियों के शैक्षिक उन्नयन के लिए अनेक कल्याणकारी योजनायें प्रारम्भ की हैं। राष्ट्रीय शिक्षा नीति, 1986 में पिछड़ी जातियों के सम्बन्ध में कहा गया है कि 4.7 शैक्षिक दृष्टि से पिछड़े समाज के सभी वर्गों को, विषेशकर ग्रामीण क्षेत्रों में उपयुक्त प्रोत्साहन दिये जायेंगे। पहाड़ी व रेगिस्तानी जिलों, दूरदराज व दुर्गम क्षेत्रों तथा द्वीपों पर उपयुक्ता संस्थागत अधि संरचना प्रदान की जायेगी।

कार्यान्वयन कार्यक्रम, 1992 में कहा गया है कि दूरदराज व दुर्गम क्षेत्रों, सीमान्त क्षेत्रों, द्वीप तथा पहाड़ी व रेगिस्तानी क्षेत्रों एवं शैक्षिक दृष्टि से पिछड़े वर्गों की बहुलता वाले इलाकों में शैक्षिक अधिसंरचना का उन्नयन करने के लिए विषेश प्रयास किये जायेंगे। छात्रवृत्तियों, पोशाक, पुस्तक, स्टेशनरी आदि के रूप में दिये जाने वाले प्रोत्साहन को वांछित समूहों तक पहुँचने को सुनिश्चित करने के लिए उपाय किए जायेंगे। पिछड़ी जातियों के लिए शिक्षा संस्थाओं तथा रोजगार में आरक्षण की व्यवस्था की गई है। आशा है कि इन उपायों से पिछड़ी जाति का शैक्षिक उन्नयन हो सकेगा।

निर्बल वर्गों की शिक्षा पर विषेश ध्यान देने की आवश्यकता के संबंध में किसी भी प्रकार का कोई विवाद नहीं है। निर्बल वर्ग अपनी पहचान बना सके, सामाजिक रूप से जागरूक हो सके तथा अपनी शैक्षिक व आर्थिक प्रगति कर सके, इसके लिए समाज को उपयुक्त परिस्थितियाँ प्रदान करनी होगी ताकि समाज के सभी वर्ग तथा सभी जातियाँ शिक्षा के समान अवसर प्राप्त करके अपनी तथा राष्ट्र की प्रगति कर सके। परन्तु निर्बल वर्गों को राजनीतिक सम्पत्ति मानकर चुनावों में उनका राजनीतिक लाभ उठाने की कुप्रवृत्ति पर अंकुश लगाने की आवश्यकता भी है। आरक्षण की नीति के कारण निर्बल वर्गों के सम्पन्न त शिक्षित परिवार लाभ उठा रहे हैं, जबकि वास्तविक रूप से निर्बल गिरकर इन लाभों से वंचित है। आरक्षण नीति के कारण सवर्णो में आक्रोश उत्पन्न हआ है तथा प्रशासनिक कार्यक्षमता में शिथिलता आई है। आरक्षण की नीति देश की अखंडता के लिए खतरा भी हो सकती है। निर्बल वर्गों के शैक्षिक सामाजिक तथा आर्थिक उत्थान के लिए एक तटस्थ दृष्टिकोण अपनाने की आवश्यकता है। राजनीतिक हितों को त्यागने की आवश्यकता है। निर्बल वर्गों का आधार जातिगत न होकर आर्थिक अथवा शैक्षिक पिछड़ापन मात्र होना चाहिए। समान विद्यालयी

व्यवस्था को अपनाने, योग्यता के आधार पर प्रवेश देने तथा सभी को शिक्षा के समान अवसर प्रदान करने की व्यवस्था करना एक सम्यक दृष्टिकोण होगा।

पिछड़ी जाति की शिक्षा के लिए किए गए प्रयास

नोट

1. 13 अक्तूबर 1994 से पिछड़े वर्गों को भी अनु. जाति तथा अनु जनजाति के उम्मीदवारों की भाँति लिखित परीक्षा तथा साक्षात्कार के मापदण्डों में ढील दी गई है।
2. 25 जनवरी 1995 को सरकार ने नौकरियों में सीधी भर्ती के वक्त अन्य पिछड़े वर्गों के उम्मीदवारों को ऊपरी आयु सीमा में तीन साल छूट दी।
3. स्कूल आयु के सभी बच्चों, विशेषत:: अन्य पिछड़े वर्गों की लड़कियों को दाखिला करने के लिये प्रत्येक शैक्षिक सत्र के प्रारम्भ में एक अभियान चलाने का दायित्व शिक्षकों पर होगा।
4. पिछड़े वर्गों के बच्चों को पर्याप्त. प्रोत्साहन छात्रवृतियों वर्दियों पाठ्यपुस्तकों, लेखन सामग्री तथा दोपहर के भोजन के रूप में प्रदान किये जायेंगे।
5. पिछड़े वर्ग के छात्रों के लिये कोचिंग, प्रशिक्षण तथा सुधारात्मक अध्यापन कक्षाएं आयोजित की जायेंगी, जिससे इन छात्रों की शैक्षिक उपलब्धियों में वृद्धि की जा सके।
6. दूरस्थ तथा अगम्य क्षेत्रों, सीमान्त क्षेत्रों, द्वीप समूहों और पर्वतीय व रेगिस्तान क्षेत्रों तथा शैक्षिक तौर पर पिछड़े वर्गों की बहुलता वाले क्षेत्रों में शैक्षिक मूलभूत ढांचे सुधार के प्रयास किये जायेंगे।

वंचित वर्ग की शिक्षा के लिए सुझाव

शैक्षिक सुविधाओं की सुलभता

स्वतंत्रता के पश्चात् शैक्षिक सुविधाओं का विस्तार होता ही रहा है। तथापि ऐसे अंश जहां पर वंचित वर्ग की जनसंख्या की बहु लता हो -विशेष ध्यान देकर अधिक सुविधाएँ उपलब्ध करवाना आवश्यक है जिससे वे सामाजिक-आर्थिक लाभों को ध्यान में रखते हुए अपने बच्चों को शाला में भेजने के लिए आकर्षित हो। यदि समीप की सुविधा हो तो अवसर का लाभ लेने की सम्भावना बढ़ जाती है। भारत सरकार ने नई शिक्षा नीति के अन्तर्गत श्याम पट संचालन (Operation Black Board) नाम से कार्यक्रम भी चलाया है। उच्च शिक्षा विशेष रूप से व्यावसायिक शिक्षा की व्यवस्था भी ऐसे क्षेत्रों में हो तो वंचित वर्ग लाभान्वित हो सकेगा।

ग्रामीण तकनीकी (Rural Technology), ग्रामीण अर्थशास्त्र (Rural Economics), ग्रामीण प्रबन्ध- (Rural Management) आदि के पाठ्यक्रमों हेतु विशेष प्रोत्साहन होने पर बालक स्वयं के गांव के लिए अधिक उपयोगी हो पायेगा। इसके लिए विशेष आर्थिक सहयोग दिया जाना चाहिए।

अंशकालिक एवं दूरस्थ शिक्षा की व्यवस्था

आर्थिक परिस्थितियों, पारिवारिक कार्यों अथवा उत्तरदायित्वों, घर वालों की शिक्षा के प्रति उदासीनता अथवा किन्हीं सामाजिक असमानताओं आदि के कारण अनेक बच्चे बीच में ही विद्यालय छोड देते है। इन परिस्थितियों के अनेक छात्रों को तो पूर्व माधमिक, माधमिक अथवा उच्च शिक्षा प्रारम्भ करने का अवसर भी नही मिल पाता। छात्रों की शैक्षिक असमानता दूर करने के लिए यह आवश्यक

है अंशकालिक तथा दूरस्थ शिक्षा की व्यवस्था हो जो औपचारिक शिक्षा के बन्धनों से मुक्त हो। जहाँ प्राथमिक विद्यालय होते हुए भी अनेक बच्चे विद्यालय में नही आ सकते अथवा विद्यालय बीच में छोड़ देते है उनके लिए अनौपचारिक शिक्षा केन्द्रो की व्यवस्था की गई है। केन्द्र सरकार ने 1979-80 में यह योजना शैक्षिक दृष्टि से पिछड़े हुए राज्यों में प्रारम्भ की थी। इसके अन्तर्गत नागरिक बस्तियों, पर्वतीय, मरूस्थलीय तथा जनजातीय क्षेत्रों के बच्चों व कार्यरत बच्चों के लिए भी इस प्रकार के केन्द्र चलाये जा रहे है। शिक्षा नीति 1986 में अनौपचारिक शिक्षा कार्यक्रम को एक कार्यक्रम के रूप में संचालित करने का संकल्प किया गया है। इन अनौपचारिक शिक्षा केन्द्रो में बच्चों की सुविधा को दृष्टिगत रखते हुए स्थान एवं लगभग 2 घण्टे का समय निश्चित कर ग्राम अथवा मुहल्ले के किसी शिक्षित व्यक्ति जिसे अनुदेशक कहते है द्वारा शिक्षा प्रदान की जाती है और यह लक्ष्य रखा जाता है कि 2 वर्ष की अवधि में छात्र प्राथमिक स्तर का पाठ्यक्रम पूर्ण कर औपचारिक शिक्षा की धारा में सम्मिलित हो जाये। रेडियों एवं दूरदर्शन के कार्यक्रम द्वारा भी इन बच्चों को शिक्षित करने की व्यवस्था की गई है। केन्द्र के सहायता अनुदान से इस प्रकार के अनौपचारिक शिक्षा केन्द्र राज्य सरकारों द्वारा भी संचालित किये जा रहे है।

प्राथमिक स्तर के समान ही माधमिक एवं विश्वविद्यालय स्तर पर अंश-कालिक शिक्षा एवं साथ ही दूरस्थ शिक्षा की व्यवस्था की गई है। माधमिक स्तर पर खुला विद्यालय (Open School) दिल्ली से सन् व 1979 से कार्य कर रहा है इसके अन्तर्गत प्रवेश हेतु अवस्था और शैक्षिक योग्यता संबंधी कोई प्रतिबद्ध नहीं है। यह मुख्य रूप से एक पत्रचार पाठ्यक्रम संचालित करता है जो वास्तव में दूरस्थ शिक्षा है। इसके साथ ही यह स्वैच्छिक आधार पर सम्पर्क कक्षाओं (Contact Classes) अथवा आमने-सामने की शिक्षा (Face - to face) की व्यवस्था करता है। यह भी उल्लेखनीय है कि खुला-विद्यालय अब .2 स्तर पर पाठ्यक्रम प्रारम्भ कर रहा है।

उच्च शिक्षा के क्षेत्र में अनेक विश्व-विद्यालय स्नातक, स्नातकोत्तर एवं उपाधि (Diploma) स्तर के पाठ्यक्रम चला रहे है। यह पत्रचार के साथ-साथ सम्पर्क कक्षाओं अथवा आमने-सामने की शिक्षा व्यवस्था भी करते है। देश में इस समय विभिन्न विश्वविद्यालय ऐसे भी है जो खुले विश्वविद्यालय के रूप में कार्य कर रहे है। आंध्रप्रदेश खुला विश्वविद्यालय (1982) इन्दिरा गाँधी मुक्ता विश्वविद्यालय (1885) और वर्धामान महावीर खुला विश्वविद्यालय (1987) पत्रचार पाठयक्रम दवारा यह दरस्थ शिक्षा की व्यवस्था करते है एवं विशिष्ट स्थानों पर महाविद्यालयों में अध्ययन केन्द्र स्थापित कर सम्पर्क कक्षाओं, मुद्रित सामग्री के वितरण, परामर्श आदि की व्यवस्था भी करते है। इन खुले विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में रेडियों एवं दूरदर्शन का उपयोग किया जा रहा है। खुले विश्वविद्यालय में जो छात्र स्नातक पाठ्यक्रम में प्रवेश लेते है उन्हें किसी शैक्षिक अर्हता (Educational Qualification) की आवश्यकता नहीं होती। यदि 2 परीक्षा उत्तीर्ण नहीं है तो उन्हें एक प्रवेश परीक्षा देनी पड़ती है और उसमें उत्तीर्ण होने पर ही उनका प्रवेश हो पाता है। इन प्रयासों के प्रभावों को बढ़ाने की आवश्यकता है।

सहयोगी शिक्षा

सहयोगी शिक्षा का अर्थ है ऐसी विशिष्ट प्रशिक्षण सुविधाओं और प्रोत्साहनों का प्रावधान जो सामाजिक एवं आर्थिक रूप से पिछड़े अथवा सांस्कृतिक रूप से वंचित वर्गों के बच्चों की प्रारम्भिक जीवन में होने वाली असुविधाओं अथवा हीनताओ की क्षतिपूर्ति कर दे। स्पष्ट है कि निर्धानता अथवा आर्थिक असमानता, घर के वातावरण, सामाजिक स्तर की हीनता तथा यौनिक अन्तर के कारण उत्पन्न होने

वाली शैक्षिक अवसरों की असमानताओं को सहयोगी शिक्षा के द्वारा कम किया जा सकता है। सहयोगी शिक्षा के कुछ प्रावधानों जैसे नि:शुल्क शिक्षा की व्यवस्था, छात्रवृत्तियो बिना मूल्य के पुस्तकें, कागज काँपी, पेन्सिल आदि के वितरण की व्यवस्था तथा अनौपचारिक शिक्षा, केन्द्रो, खुले विद्यालय तथा खुले विश्वविद्यालय की चर्चा हम पहले ही कर चुके है।

नोट

इसके अतिरिक्त अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जन-जातियों के लिए सिधावाना के अन्तर्गत क्रमश: :15 प्रतिशत एवं 7.5 प्रतिशत आरक्षण शिक्षा संस्थाओं एवं नौकरियों में किया गया है।

साथ ही हरिजन छात्रवासों की व्यवस्था की गई है एवं जिला मुख्यालयों पर सामान्य छात्रवासों में अनुसूचित जातियों के छात्रे के लिए सुविधाये प्रदान की गई। अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति के युवकों को सार्वजनिक सेवा में चयन से सम्बन्धित प्रतियोगिताओं के हेतु तैयार करने के लिए प्रशिक्षण दिया जाता है। देश के प्रमुख नगरों में यह योजना चल रही है। स्त्रियों की शिक्षा को प्रोत्साहन देने के लिए कन्या विद्यालय अधिकाधिक संख्या में खोले जा रहे है तथा महिला शिक्षको की अधिकाधिक एवं वरीयता के आधार पर नियुक्ति की जा रही है। स्त्रियों को तकनीकी एवं व्यावसायिक पाठ्यक्रम में प्रवेश प्राप्त करने पर तथा परम्परागत धान्धों में लगाये जाने हेतु प्रोत्साहन दिया जा रहा है।

चालकीय बाधाओं और सामान्य बाधाओं से ग्रस्त बच्चों की शिक्षा जहाँ तक सम्भव है, अन्य बच्चों के समान तथा इसके साथ ही एकीकृत शिक्षा के अन्तर्गत की जा रही है। इस नीति पर आगे चलने की घोषणा नीति में भी गई है।

जिन्हें अपने प्रारम्भिक जीवन में शिक्षा प्राप्त करने कोई अवसर नही मिल सका उनके लिए प्रौढ़ शिक्षा की व्यवस्था स्वतंत्रता पूर्व से ही की जा रही है।

प्रौढ शिक्षा के कार्यक्रम में रेडियो, दूरदर्शन और चल-चित्रों का पूर्ण सहयोग लिया जायेगा। साथ ही आगमकर्ताओं (सीखने वालों) की रूचियों को ध्यान में रखते हुए व्यावसायिक एक तकनीकी शिक्षा के अनौपचारिक कार्यक्रम वृहत स्तर पर आयोजित किये जायेंगे।

शिक्षक की भूमिका

शिक्षा व्यवस्था में असमानता को दूर करने, वंचित वर्ग को पूर्ण सुविधा देने की प्रक्रिया में शिक्षक की भूमिका अत्यधिक महत्वपूर्ण है। यदि संवैधानिक लक्ष्यों को प्राप्त करने में शिक्षक सकारात्मक भूमिका का निर्वाह करना चाहते है तो व्यक्तिगत सोच को विस्तार दे कर सामान्य हित में कार्य करे। भारतीय दर्शन तथा सांस्कृतिक मूल्यों को आत्मसात करते हुए संवैधानिक प्रावधानों को सही संदर्भ में समझे। क्योंकि समाज के समस्त वर्गभेद को मिटाने के लिए संविधान में दिये गये प्रावधान मात्र दिखावा नहीं है, केवल सैद्धान्तिक नहीं है वरन् समाज की परिवर्तनशील स्थितियों में समाज के व्यावहारिक निर्देश है। अत: शिक्षको के प्रशिक्षण के दौरान इनके मूल तत्व को समझते हुए शिक्षको को संवेदनशील होना चाहिए।

दार्शनिक अर्थ में न्याय, स्वतन्त्रता, समानता एवं बन्धुत्व अन्तसम्बन्धित है एक-दूसरे पर निर्भर है। अत: इन्हें अलग-अलग भी समझना होता है। न्याय में शिक्षक को समझना होगा कि राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक किसी भी आधार पर भेद-भाव न करते हुए छात्र जो भी योग्यता रखते है उसके अनुसार व्यवहार करना होगा। समाज के वंचित वर्ग के लिए आरक्षण के नियम की पालना करनी चाहिए। अत: दूसरे शब्दों में शिक्षक को छात्रों के साथ समान व्यवहार तो करना ही चाहिए साथ

नोट

ही छात्रों को भी सामाजिक न्याय की माँग करने के लिए जागृत करना चाहिए। इससे समाज जागृत होगा। शिक्षकों को यह समझना होगा कि अन्याय होता रहे तथा समाज का एक वर्ग सुविधा सम्पन्न हो। इससे राष्ट्र में शांति कभी नहीं रह सकती। न ही विकास हो सकता है। अत: सामाजिक मूल्य के रूप में 'न्याय' की शिक्षा दी जानी चाहिए।

इसी प्रकार स्वतन्त्रता का अर्थ बन्धाओं से मुक्ति है। किन्तु समाज में मान्यताओं, आदर्शों एवं सरकारी के बन्धन में रहना होगा है। तभी स्वतन्त्रता समाज के लिए हितकारी होती है। प्रशिक्षणार्थी को महाविद्यालय के समस्त नियमों की पालना करनी चाहिए तथा इसे अपने व्यवहार का अंग बनाना चाहिए। जिससे स्वानुशासित जीवन जी कर समाज में एक व्यवस्था स्थापित की जा सके। इससे प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व को विकसित होने का पूरा अवसर मिलेगा। राष्ट्र के लिए एक जिम्मेदार सुनागरिक के रूप में सभी का विकास हो सकेगा। यही शिक्षक को स्वयं भी समझाना पड़ेगा कि स्वतंत्रता का अर्थ निर्बाधा स्वच्छन्दता नही होगा। समाज एवं राज्य द्वारा निर्धारित नैतिक सीमाओं के अन्तर्गत व्यवहार करना होगा। अत: स्वानुशासन के साथ स्वतन्त्रता के अधिकार का उपयोग शिक्षको को सीखना एवं सीखाना होगा।

समानता का अर्थ व्यवहार में शुद्धता से होता है। वैसे प्राकृतिक, भौतिक, वंशानुगत, जैविक एवं इसी प्रकार की अन्य असमानताओं के लिए शिक्षक कुछ नहीं कर सकता। किन्तु समाज द्वारा रखी गई असमानताओं को कम करने में पर्याप्त सहयोग दे सकता है। शिक्षकशिक्षा द्वारा इसका प्रावधान किया जा कर समाज की विसंगतियों को दूर किया जा सकता है। इसका अर्थ यह है कि अशक्त एवं वंचित वर्ग के लिए विशेष सुविधाएं विकसित की जावें। जिससे वे भी बेहतर जीवन जी सके। हमारे देश में राज्य द्वारा विभिन्न प्रकार के संरक्षण, सहयोग, एवं सुविधाएं प्रदान की जा रही है।

शिक्षण में सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य

विविधता में एकता के विचार में काफी अन्तर आता जा रहा है। क्षेत्रीयता, जातिवाद, वर्ग एवं विभिन्न समुदायों में इतनी मतभिन्नता हो गई है कि राष्ट्र की एकता में खतरा सा अनुभव होने लगा है''..... ... Social harmony and brotherhood, the feeling of associative living and neighborhood have received a setback- Social so linarite and cohesion are being gradually replaced by a fractured society caste identities are turning into caste conflict- From a social category caste has become a political force and received political overtone and value-------The "Curriculum Framework of Teacher Education" (1998) suggested certain concrete steps to be taken by teacher education ------ "(NCTE, 2004,36)-

राष्ट्रीय अध्यापक शिक्षा परिषद् का यह मानना रहा है सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य को ध्यान में रखते हुए शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए। जनजाति क्षेत्र के बालक एवं शहरी क्षेत्र के बालक की पृष्ठभूमि एवं अनुभव अलग है। अत: एक ही तरीके से पढ़ाना उपयुक्त होता। "It is in this context that special mention may be made of some cultural practices such as story telling] dramatices and aesthetice which should become a strong basis for our pedagogy rather than one uniform, mechanistic way of student learning" (NCTE,1996,14)

वंचित वर्ग के बालकों को प्रोत्साहन हेतु गतिविधियों

राष्ट्रीय वर्ग की शिक्षा पर ध्यान देने के लिए कक्षा-कक्ष शिक्षण के अतिरिक्त भी कई गतिविधियाँ सुझाई गई है। जिससे शाला-समुदाय संबंधों में वृद्धि हो सके। जैसे-

नोट

- छात्रों के जन्मदिन का आयोजन
- अभिभावक दिवसों का आयोजन
- अभिभावक शिक्षक संघ को सक्रिय बनाना
- सामुदायिक खेल-कूद एवं अन्य प्रतियोगिताएं
- सामुदायिक संसाधनों का प्रयोग
- छात्रों की पृष्ठभूमि को जानना/समझना
- राष्ट्रीय दिवसों के आयोजन में सभी समुदायों की सहभागिता
- पर्यावरण शिक्षा में सक्रियता
- सामाजिक वानिकी एवं पौधारोपण में सहयोग
- विद्यालय विकास में समुदाय का सहयोग
- स्वास्थ्य चेतना केम्पों का आयोजन
- समाजोपयोगी उत्पादक कार्य (SUPW) करना।
- सांस्कृतिक मूल्य (Cultural specific Value) का संपोषण करना।

उक्त समस्त गतिविधियों में शिक्षक-शिक्षा में ऐसी व्यवस्था की जाये कि वंचित वर्ग स्वयं को सबके साथ महसूस करें। उनमें आत्म विश्वास जागृत हो। इसके लिए कहा गया है,

Teacher Education has twin responsibility in this regard, first to evolve a new pedagogy of education for children coming from the neglected sections like this and second to develop positive attitudes among teachers for its success (NCTE-2004,39)

राष्ट्रीय अध्यापक शिक्षा परिषद ने शिक्षक शिक्षा के जो उद्देश्य निर्धारित किये है, उनमें प्रथम उद्देश्य है।

"….to promotes capabilities for inculcating national values and goals as enshrined in the constitution of India. "(NCTE-2004,39)

Curriculum Framework for Teacher Education-2004 के दस्तावेज में स्पष्ट लिखा गया कि "Teacher need to sensitized in the provisions of India constitution regarding underprivileged groups like scheduled castes, scheduled tribes, other backward classes, women etc. on hand and justice, liberty, equlity of status and opportunity on other.(Pg.10).

5.32 सारांश

धर्म की संकल्पना अपने वास्तविक रूप में व्यापक है और बुनियादी तौर पर इसके सम्बंध मनुष्य की हर प्रकार की प्रगति और उन्नति से जुड़ा है। समय-समय पर इसमें बदलाव आया और धर्म को संदेह के घेरे में लेकर संकुचित अर्थ में देखा गया संकीर्णता के कारण धार्मिक कट्टरता व आतंकवाद ने जन्म लिया पर धर्म को पुनः नये रूप में देखा जाने लगा आज यह एक मानव कल्याणकारी दर्शन है। जिसका अर्थ है जातिविहीन, वर्गविहीन, शोषणमुक्त सर्वहितपोषक एवं सर्वोदय समाज की स्थापना है और यह विश्व के धर्म समन्वयात्मक समाज की स्थापना के लिये पहल है। भविष्य के धर्म दर्शन के लिये हमारे समक्ष अनेक चुनौती तो शिक्षा इस चुनौती का सामना करने का साधन है, शक्ति है, माध्यम है और शिक्षा और धर्म एक-दूसरे के पूरक है।

नोट

परिवार मानव का प्रथम प्राथमिक समूह है। **लूसर मेयर** परिवार एक गृहस्थ समूह है इसमें माता-पिता और संतान साथ रहते हैं। इसमें मूल रूप में दंपित्त और उनकी संतान रहते हैं।

चैपिन के अनुसार परिवार के संरचनात्मक प्रतिरूप के चार पहलू है: (i) मनोवृत्तयों और व्यवहार प्रतिमान, (ii) प्रतीकात्मक सांस्कृतिक उपकरण, (iii) उपयोगी सांस्कृतिक विशेषक, (iv) मौखिक अथवा लिखित विशिष्ट नियम।

परिवार के कार्यों को तीन संवेगों में बाँटा गया है : (i) जैविक, (ii) भावनात्मक और (iii) सामाजीकरण

परिवार सामाजिक नियंत्रण, शैक्षिक अनुभव, सामाजिक संरक्षण, संतुलित व्यक्तित्व के निर्माण में योगदान देता है। सामाजीकरण और बच्चों के व्यक्तित्व के विकास में सम-समूह का बहुत योगदान होता है। आज की आधुनिक औद्योगिक तेज रफ्तार वाली दुनिया में सम-समूह की अपेक्षा परिवार की भूमिका ज्यादा है।

5.33 अभ्यास प्रश्न

1. धर्म की अवधारणा का विवरण दीजिए।
2. मानव जीवन में धर्म का महत्व क्या महत्त्व है?
3. धर्म और शिक्षा में सम्बन्ध बताइये।
4. धर्म शिक्षा की चुनौतियों की व्याख्या कीजिए।
5. धर्म शिक्षा के सम्भावित मूल उद्देश्य क्या हैं?
6. शिक्षा में धर्म का सम्भावित रूप बताइये।
7. धार्मिक शिक्षा की विषय सामग्री का उल्लेख कीजिए।
8. शिक्षा की क्या विधियां हैं? बताइये।
9. भारतीय संस्कृति का अर्थ एवं परिभाषा लिखिए।
10. शिक्षा का संस्कृति पर क्या प्रभाव है? संक्षेप में बताइये।
11. समाजीकरण एवं लिंग संरचना विषय में संक्षेप में लिखिए।
12. परिवार के आधारभूत तत्व क्या हैं?
13. परिवार की अवधारणा स्पष्ट कीजिए।
14. सम-समूह किसे कहते हैं?
15. सम-समूह बनने के आधार क्या हैं?
16. सम-समूह की शिक्षा के अभिकरण के रूप में व्याख्या कीजिए।
17. परिवार का शिक्षा के अभिकरण के रूप में प्रमुख कार्यों की विवेचना कीजिए।
18. परिवार एक सामाजिक समूह के रूप में शिक्षा के किन कार्यों को संपन्न करता है?
19. "शिक्षा देने वाली संस्था के रूप में परिवार की कार्य कुशलता पर ही संपूर्ण समाज की सुरक्षा और अच्छी गुणवत्ता आधारित है। "मूर का यह कथन परिवार की किस भूमिका को दर्शाता है?
20. प्याजे किस तरह के विकास को सामाजीकरण का सार्वभौम गुण मानते हैं?
21. चैपिन के अनुसार परिवार के संरचनात्मक प्रतिरूप के कितने पहलू हैं?

22. परिवार के कार्यों को कितने संवर्गों में बाँटा गया है?
23. वंचित (निर्बल) वर्ग की शिक्षा का अर्थ बताईये।
24. भारतीय संविधान में वंचित वर्ग की शिक्षा के लिए क्या प्रावधान किये गये है?
25. अनुसूचित जातियों के शैक्षिक पिछड़ेपन के कारण बताईये।
26. अनुसूचित जनजातियों के शैक्षिक पिछड़ेपन के कारण बताईये।
27. अनुसूचित जातियों के शैक्षिक पिछडेपन को दूर करने के लिए किये गये प्रयासों को स्पष्ट कीजिऐ।
28. अनुसूचित जनजातियों के शैक्षिक पिछड़ेपन को दूर करने के लिए किये गये प्रयासों को स्पष्ट कीजिऐ।

नोट

5.34 संदर्भ पुस्तकें

- अग्निहोत्री रविन्द्र (2006)- आधुनिक भारतीय शिक्षा की समस्याएँ और समाधन जयपुर राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी।
- अग्रवाल जे.सी. (1993)- लैंडमार्क्स इन द हिस्ट्री अह्फ मह्डर्न इंडियन एज्यूकेशन, नई दिल्ली वाणी बुक्स।
- शिक्षा के दार्शनिक और सामाजिक आधार, माथुर, एस.एस., विनोद पुस्तक मंदिर।
- शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, योगेंद्र कुमार, मधुलिका शर्मा।
- शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, ओ.पी.।
- शिक्षा और मनोविज्ञान : मापन और मूल्यांकन, शशि प्रभा।
- शिक्षा के दार्शनिक आधार, पांडेय, रामशकल।
- शिक्षा का समाजशास्त्रीय आधार, चौबे, एस.पी., इंटरनेशनल बुक्स, मेरठ।
- शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, डॉ. एन.के.।